डॉ० सत्यव्रतशास्त्रीकृत
श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य
(एक अध्ययन)
डॉ० ऋतुबाला

महाकवि डॉ. सत्यव्रतशास्त्री विरचित चतुर्दश-सर्गात्मक श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य की कथावस्तु का स्रोत बोधिसत्त्व से सम्बन्धित जातकों में वर्णित जातक कथाएं हैं। यद्यपि बोधिसत्त्व से सम्बन्धित जातक कथाएं सम्प्रति 550 के लगभग यत्र-तत्र भिन्न-भिन्न रूपों में उपलब्ध हैं पर काव्य के लिए कुछ एक कथाओं को ही कवि ने चुना है। बौद्ध परम्परा में बोधिसत्त्व उसको कहा जाता है, जो पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है तथा अनेक जन्मों में बौद्धदर्शन में मान्य पारमिताओं का पालन करता हुआ, अन्त में बुद्धत्व का सर्वोच्च पद प्राप्त करता है। इस महाकाव्य की कथावस्तु में उन्हीं पारमिताओं के पालन की प्रक्रिया दिखाई गई है। फलत: कवि द्वारा गृहीत इसकी कथावस्तु आद्योपान्त किसी एक व्यक्ति के एक जन्म से सम्बन्धित न होकर अनेक जन्मों से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् चरित्र वाले अनेक व्यक्तियों से है परन्तु कवि की यह विशेषता रही है कि उसने उन सभी के चरित्रों में भिन्नता होने पर भी सबको एकसूत्र में गूँथने वाली एक बोधिसत्व की एक ही आत्मा को स्वीकार कर इस महाकाव्य का नायक बोधिसत्त्व को ही मानते हुए उसी के नाम पर काव्य का नामकरण भी किया जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उचित है। इसका नायक बोधिसत्त्व है जो धीरोदात्त है। इसका प्रधान रस वीर (धर्मवीर) तथा गौणरस शान्त और शृंगार हैं। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में तत्कालीन, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थिति का थोड़े ही शब्दों में स्पष्ट तथा पूर्ण वर्णन किया है। शास्त्रीय नियमों से नियन्त्रित, बौद्धधर्म से अध्यासित, भारतीय संस्कृति से सुसज्जित, प्राचीनता को नवीनता प्रदान करने वाला, सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला, सरस तथा सरल शब्दों में दर्शन के सिद्धान्तों को काव्यरूप में उपस्थित करने वाला एक अद्वितीय महाकाव्य है। संक्षेपत: प्रकृत ग्रन्थ संस्कृत जगत् के अध्येताओं, गवेशकों एवं संस्कृत साहित्यशास्त्र के अध्यवसायी छात्रों के लिए इस दृष्टि से उपादेय है कि इसमें साहित्यसिद्धान्त एवं बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों की एक साथ विवेचना हुई है।

ISBN : 978-81-7854-267-6 ₹ 950

डॉ० सत्यव्रतशास्त्रीकृत
श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य
(एक अध्ययन)

डॉ० सत्यव्रतशास्त्रीकृत
श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य
(एक अध्ययन)

डॉ० सत्यव्रतशास्त्रीकृत

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य

(एक अध्ययन)

डॉ० ऋतु बाला
पञ्जाब विश्वविद्यालय, सहायक आचार्या,
विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत-भारती
अनुशीलन संस्थान, होशियारपुर (पञ्जाब)
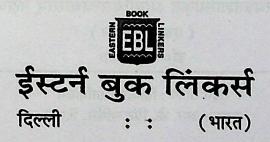
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स

हैड ऑफिस: 5825, न्यू चन्द्रावल,
जवाहरनगर, दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 9811232913

शोरूम: 4806/24, भरत राम रोड,
दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 23285413

e-mail : eblindology@gmail.com
ebl@vsnl.net
Website : www.eblindology.com

प्रथम संस्करण : 2014

मूल्य : ₹ 950

आइ.एस्.बी.एन्. : 978-81-7854-267-6

डॉ० सत्यव्रतशास्त्रीकृत श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य
(एक अध्ययन)
डॉ० ऋतु बाला

टाईप सैटिंग : क्रियेटिव ग्राफिक्स
मुद्रक : आर. के. प्रिंट सर्विस, दिल्ली

समर्पण

(माँ को)

माँ! तेरा वात्सल्य धन्य था,
धन्य थी तेरी उदारता,
सब कुछ है, पर तुम नहीं हो,
है जीवन में, सारी असारता।।

प्राक्कथन

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् मेरा पहला महाकाव्य था जिसका प्रथम संस्करण मैंने अपने स्वयं के व्यय से 1960 में प्रकाशित किया था। उस समय केवल मूल संस्कृत पाठ ही उसमें था। बाद में 1974 में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें हिन्दी अनुवाद भी जोड़ दिया गया। इसका प्रकाशन भारतीय विद्या ग्रन्थों की प्रमुख प्रकाशन संस्था 'मेहरचन्द लक्ष्मनदास' ने किया था।

चौदह सर्गों के इस महाकाव्य में एक सहस्र पद्य है। बौद्ध जातकों में से कतिपय को, जो मुझे विशेष रुचिकर लगे और जिन्होंने मुझे कुछ अधिक ही प्रभावित किया, इसकी विषय-वस्तु बनाया गया है।

संस्कृत की एक सुप्रसिद्ध उक्ति है-"कविः करोति काव्यानि स्वादं जानन्ति पण्डिताः", कवि काव्यों की रचना करता है, उसका स्वाद सुधीजन जानते हैं, क्योंकि वे उनका विश्लेषण कर उनकी उत्कृष्टता-अनुकृष्टता का निर्णय करने की क्षमता रखते हैं। जिन्हें आज की भाषा में समीक्षक या समालोचक कहा जाता है। उन्हें प्राचीन काल में 'सहृदय' कहा जाता था जिसका अर्थ है-'समानं हृदयं यूस्य/येषाम्' जिनका हृदय कवि के हृदय के समान है। बिना कवि के हृदय के धरातल पर आये उसके साथ न्याय नहीं हो सकता है। किस भाव-भूमि में कवि रचना कर रहा है उसे पहचानना आवश्यक होता है, उसके मन की गहराइयों में झांकना अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य भी होता है तभी उसकी रचना/रचनाओं का सही मूल्यांकन सम्भव है। समीक्षक के लिए सहृदय से बढ़कर शायद और कोई शब्द नहीं हो सकता।

मैंने जब डॉ० ऋतुबाला द्वारा की गई अपने ही काव्य की समीक्षा को देखा तब वह पाण्डुलिपि रूप में थी, तो मुझे लगा कि उन्होंने 'सहृदय' की भूमिका को बहुत सशक्त ढंग से निभाया है। उन्होंने महाकाव्य को हर सम्भव दृष्टि से जांचा-परखा है। उनकी सूक्ष्मेक्षिका उनकी समीक्षा में पदे-पदे अवभासित होती है और अवभासित होता है उनका परिश्रम। इसके लिये मैं उन्हें हृदय से साधुवाद देता हूँ। उनके इस कार्य से सुधीजनों को "श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य" को और अच्छी तरह समझ पाने का और इसके रसास्वादन का अवसर मिलेगा।

सत्यव्रत शास्त्री

नान्दीवाक्

प्रतिभाशालिनी विदुषी डॉ० (श्रीमती) ऋतु बाला द्वारा लिखित "श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का एक अध्ययन" ग्रन्थ पर शुभाशंसा के रूप में कुछ एक शब्द लिखते हुए मुझे परम प्रसन्नता हो रही है क्योंकि यह काव्य संस्कृत जगत् के मूर्धन्य विद्वान् पद्मभूषण महामहोपाध्याय डॉ० सत्यव्रतशास्त्री द्वारा बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों को काव्य के माध्यम से जातकमाला की कतिपय कथाओं के आधार पर बड़ी सरलता से विरचित किया हैं। इसी महाकाव्य को आधार मान कर लेखिका ने जहाँ बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत इस महाकाव्य में से प्रतीत्यसमुत्पादवाद, पारमिता, चार आर्यसत्य, कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद इत्यादि प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय कराया वहीं काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढंग से सोदाहरण वर्णन कर अपने वैदुष्य का परिचय दिया हैं। इस प्रकार से किसी भी काव्य का अध्ययन करना कठिन कार्य होता है इसका कारण यह है कि जब किसी कवि की मौलिक कविता या मौलिक रचना होती है तब उसमें कृतिकार अपनी प्रतिभा तथा मेधा का खुलकर उपयोग करता है तथा अपनी कविता या निबन्ध को जिस धारा में चाहें ले जा सकता है पर जब किसी कवि के काव्य-विशेष या लेखक रचना-विशेष का अध्ययन किसी अन्य के द्वारा करना होता है तब उसको लेखक की प्रतिभा तथा मेधा से समुद्भावित सिद्धान्तों की परिधि में चलते हुए उसकी प्रतिभा या मेधा के साथ तादात्म्य क़रके ही लिखना होता है, इस दृष्टि से लेखक पहले कवि के मन्तव्य को समझे तदनन्तर काव्यशास्त्रीय या शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करें, इसलिए स्वतन्त्र रचना की अपेक्षा किसी कवि की कृति का अध्ययन प्रस्तुत करना कुछ कठिन कार्य होता है। विदुषी लेखिका कृतिकार के अन्तःस्थल से निक़ले भावों से केवल प्रभावित ही नहीं हुई अपितु उसने उन्हें अपनी लेखनी का विषय भी बनाया। इसलिए इसके पढ़ने से यह सरलता से प्रतीत हो जाता है कि लेखिका ने बौद्धवाङ्मय तथा काव्यशास्त्र का पूर्णतया अध्ययन कर उसके बाद ही इस ग्रन्थ को लिखा हैं। विदुषी लेखिका के इस महाकाव्य का अध्ययन तथा इस ग्रन्थ के प्रकाशन रूप उभयविध

कार्य के लिए मैं उनको बधाई देता हूँ क्योंकि लेखिका ने इस प्रकार के चिन्तन से एक नवीन आयाम का मार्ग प्रशस्त किया है।

डॉ० ऋतु बाला ने सामग्री के चयन में जितना श्रम किया है वही अपने आप में श्लाघनीय है। सूचित सामग्री को विश्लेषण के साथ तर्कसम्मत रूप में उपस्थापित करना सोने पर सुहागा जैसा प्रतीत होता है। काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए यह कृति अपरिहार्य साहाय्य ग्रन्थ का काम करेगी, ऐसा मुझे विश्वास है। मैं डॉ० ऋतु बाला को उनके परिश्रम के लिए बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे भविष्य में भी इसी प्रकार सुचिन्तित और मौलिक कार्यों में प्रवृत्ति बनाये रखेगीं।

दिनाङ्क 26-6-2013

प्रो० इन्द्रदत उनियाल
महामहिमराष्ट्रपति द्वारा सम्मानित एवं संचालक
विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्कृत शोध संस्थान,
साधु आश्रम, होशियारपुर।
दूरभाषः 01882-223581, 223582

प्ररोचना

डॉ० ऋतुबाला अपने पीएच०डी० उपाधि के लिए सन्दृब्ध शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित करवा रही हैं यह जानकर प्रसन्नता हो रही है। इनका यह शोध-प्रबन्ध डॉ० सत्यव्रतशास्त्री कृत श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का एक अध्ययन शीर्षक पर है।

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री इस युग में संस्कृत के मूर्धनय विद्वान् हैं उनकी अनेक कालजयी रचनाओं में से बोधिसत्त्वचरितम् भी एक है। इसी महाकाव्य को विदुषी ऋतुबाला ने अपने अनुसंधान का विषय बनाया है।

इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशित हो जाने पर वर्तमान समय में भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत महाकाव्यों पर अनुसंधान कार्य करने वाले छात्रों का महान् उपकार होगा क्योंकि इसमें श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के रचयिता महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व विषय अत्यन्त प्रमाणिकता के साथ विस्तार से प्रथम अध्याय 1-41 पृष्ठों में दिया गया है। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री जी की अनेक रचनाएँ हैं उनमें से किसी भी रचना पर किसी भी दृष्टि से अनुसंधान करने वालों को कवि के विषय में एक प्रामाणिक जानकारी इस कार्य से हो सकेगी।

इसके अतिरिक्त बोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का विदुषी अनुसंधात्री ने मुख्य तीन दृष्टियों से अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रथम काव्यशास्त्रीय दृष्टि से, द्वितीय दार्शनिक दृष्टि से और तृतीय सांस्कृतिक दृष्टि से। उक्त सभी प्रकार का अनुसंधान इस दिशा में किसी भी अन्य महाकाव्य पर अनुसंधान करने वाले अनुसन्धाता के लिए एक प्रकाशस्तम्भ का कार्य कर सकता है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से बोधिसत्त्वचरितम् की समीक्षा करते हुए विदुषी ने जहाँ भामह, दण्डी, वामन, अग्निपुराण, रूद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, राजशेखर, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ और पण्डितराजजगन्नाथ सदृश भारतीय काव्यशास्त्रीय के द्वारा स्थापित मापदण्डों के आलोक मं् प्रकृत काव्य का परीक्षण किया वहीं प्लेटो, अरस्तू, विलियमसेक्सपियर, कालरिज, डॉ० जानसन, डॉ० मेथ्यू आरर्नाल्ड, मिल्टन और

विलियम वर्डसवर्थ जैसे पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के द्वारा स्थापित मापदण्डों पर निपुणतापूर्वक परख कर देखा है।

इसी प्रकार दार्शनिक दृष्टि से विचार करते हुए विदुषी ने बौद्धधर्म की मान्यताओं पर एवं बौद्धधर्म में कर्मवाद और बौद्धधर्म पर बोधिसत्त्व पर परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

इसके अतिरिक्त प्रतीत्यसमुत्पाद एवं पारमिताओं का स्वरूप एवं महत्त्व एवं बौद्ध दर्शन के अनुसार इनकी उपादेयता प्रतिपादित की गई है तथा बोधिसत्त्वचरितम् में वर्णित पारमिताओं को पृथक् कृत्य निरूपित किया गया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से बोधिसत्त्वचरितम् की गवेशणाकर्त्री विदुषी ने तात्कालिक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति पर विचार प्रस्तुत किये हैं।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण शोध कार्य प्रकाशित होने पर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान करने वालों को सुलभ हो जायेगा और उनका मार्ग दर्शन करने के लिए सहायक सिद्ध होगा ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं इस अवसर पर डॉ० ऋतुबाला को हार्दिक बधाई देता हूँ उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि वे भविष्य में भी निरन्तर अध्ययन करती हुई उत्तोत्तम अनुसंधान कार्य शिक्षा के क्षेत्र में प्रस्तुत करेंगी, इन्हीं शुभकामनाओं के साथ......

दिनाङ्क 1-7-2013

जगदीशप्रसाद सेमवाल
पूर्व विभागाध्यक्ष,
वि.वि.ब.भा.भा.अनु.संस्थान,
पञ्जाब विश्वविद्यालय,
होशियारपुर-146021

आशीर्वचन

डॉ० सत्सव्रतशास्त्री न केवल संस्कृत के मौलिक तथा सृजनात्मक लेखन के क्षेत्र में विश्वश्रुत तथा लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् है, अपितु सतत सारस्वत साधना में निरत शास्त्री जी ने वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, भाषाविज्ञान तथा संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध अनेक विधाओं पर अति महत्त्वपूर्ण, प्रेरणाप्रद, गवेशणात्मक तथा आलोचनपरक ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा वर्तमान में भी एतादृश अनेक योजनाओं को परिणति की अवस्था तक ले जाने के अहर्निश प्रयत्नशील है। इन्हीं अमूल्य अवदानों के परिणामस्वरूप आपको समय-समय पर आधुनिक संस्कृत लेखन के पुरोधा के रूप में विविध संस्थाओं ने आपको साहित्यिक अलंकरणों से सम्मानित किया तथा भारत के राष्ट्रपति ने पद्मश्री के सम्मान से विभूशित किया। एतद्स्वरूप संस्कृत जगत् के मार्तण्ड तथा बहुविध प्रतिभा सम्पन्न शास्त्री जी की किसी भी कृति पर किसी भी तरह का अध्ययन या टीका टिप्पणी करना, निस्सन्देह एक नये अध्येता के लिए दु:साहस सा प्रतीत होता है। इसी भावना में प्रवाहित होकर प्रकृत ग्रन्थ की लेखिका ने कविकुलगुरू कालिदास की उक्ति **तितीर्शुः दुस्तरं मोहाद् उडुपेनाऽस्मि सागरम्** को उद्धृत करते हुए स्वयं को अशक्त मानते हुए भी गुरूजनों की प्रेरणा से **डॉ० सत्यव्रतशास्त्री कृत श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का एक अध्ययन** को अपनी पी-एच.डी की उपाधि ग्रहण हेतु अपने शोध का विषय बनाया तथा आज हम उसको उसी रूप में विद्वन्मण्डल के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता तथा गौरव का अनुभव कर रहे हैं। प्रकृत ग्रन्थ के अवलोकन से यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रबुद्ध लेखिका द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण समीक्षा की दृष्टि से उच्चकोटि का है तथा महाकांव्य में निहित काव्यशास्त्रीय तथा दार्शनिक तत्त्वों के उन्मीलन से नितान्त स्पृहणीय है। डॉ० ऋतु बाला ने श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का महाकाव्यत्व प्राच्य तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रीयों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों को केन्द्र में रखकर अत्यन्त युक्तिपूर्ण विधि से किया है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का रससिद्धान्त, ध्वनि सिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त, गुण एवं रीति सिद्धान्त, अंलकार योजना तथा छन्द,विन्यास की दृष्टि से विश्लेषण अतीव तलस्पर्शी तथा विशद रूप से काव्यगत श्लोकों के उदाहरणों सहित

लेखिका ने श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में वर्णित बुद्ध धर्म से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों, पारमिताओं तथा तत्कालीन समाज और संस्कृति का उपस्थापन अत्यन्त वैज्ञानिक तथा सूक्ष्मेक्षिका से किया है जो कि उसके गहन दार्शनिक चिन्तन का भी परिचायक प्रतीत होता है।

आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ इस तरह के विषय को आधार बनाकर अनुसन्धान करने वाले शोधार्थियों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करेगा तथा डॉ० ऋतु बाला भविष्य में भी अपनी प्रौढ़ लेखनी से संस्कृत जगत् को समृद्ध करने में अपना योगदान डालती रहेंगी, ऐसी हमारी कामना है।

प्रो० रघबीर सिंह

आचार्य

विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं

भारत–भारती अनुशीलन संस्थान,

पञ्जाब विश्वविद्यालयीय विभाग,

होशियारपुर

शुभाशंसा

आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का साधन अपने आप में अपर्याप्त है, परन्तु अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न में साधक जब वाणी का प्रयोग करता है, तो उसमें से काव्य सरिता स्वयं फूट निकलती है। इसलिए संस्कृत आचार्यों ने काव्य के आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है।

जब काव्य है तो उसका नियामक शास्त्र भी होगा। शास्त्र का शास्त्रत्व दोनों प्रकार से सम्भव है–शंसन से और शासन से। अतएव आचार्यों ने शंसनात् शास्त्रम् तथा शासनात् शास्त्रम् दोनों व्याख्याओं को सम्मत एवं संगत माना है।

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य में डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने आदि से अन्त तक बोधिसत्त्व के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित विविध घटनाओं का वर्णन मार्मिक, भावपूर्ण तथा प्रसादमयी शैली में किया है। भगवान् बुद्ध के बोधिसत्त्व सम्बन्धी अनेक जन्मों से सम्बन्धित यह चरितकाव्य संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री जी ने भगवान् बुद्ध के जन्म से सम्बन्धित जातकों में से ही कतिपय कथाओं में परिवर्तन एवं परिवर्धन कर महाकाव्य का रूप दिया है। विभिन्न जन्मों के लिए बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बौद्ध धर्म में गृहीत पारमिताओं का पालत करने वाले जातकों के प्रधान पात्र बोधिसत्त्व को अपने काव्य की कथावस्तु का नायक चुना है।

प्रकृत शोध–प्रबन्ध में श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का महाक़ाव्यत्व, रस सिद्धान्त, ध्वनि सिद्धान्त, औचित्य, वक्रोक्ति, गुण एवं रीति, अलंकार तथा छन्द विन्यास, चरित्र- चित्र्ण, प्रकृति वर्णन, बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त, बौद्धकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियाँ एवं सांस्कृतिक स्थिति का अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन किया है।

पंजाब विश्वविद्यालय (वी.वी.बी.आई.एस.एण्ड आई.एस) की प्रतिभाशालिनी गवेषिका आयुष्मती डॉ० ऋतुबाला ने डॉ० सत्यव्रतशास्त्री कृत श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का एक अध्ययन की अत्यन्त मौलिक, प्रमाणपुरस्सर समीक्षा की है, जिसमें उनका अध्यवसाय तथा प्रतिभा दोनों ही स्पष्ट रूप से दिखते हैं।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि डॉ० ऋतुबाला का यह ग्रन्थ एक 'सन्दर्भ ग्रन्थ' के रूप में सिद्ध होगा। मैं कृति एवं कृतिकार का, संस्कृत जगत् की ओर से हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। अत: परमात्मा से मैं प्रार्थना करता हूँ कि डॉ० ऋतुबाला भविष्य में भी इसी प्रकार उपयोगी ग्रन्थ लिखकर संस्कृत जगत् को समृद्ध करती रहेगी।

दिनाङ्क 22-7-2013

प्रो० इन्द्रमोहन सिंह
पीठाध्यक्ष : वाल्मीकि चेयर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
पाली, प्राकृत तथा संस्कृत विभाग,
पञ्जाब विश्वविद्यालय, पटियाला

पुरोवाक्

महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री रचित श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य संस्कृत साहित्य का एकमात्र काव्य है जिसमें भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बन्धित जातकों की कुछ एक प्रसिद्ध कथाओं से बोधिसत्त्व के जीवन सम्बन्धी घटनाओं को लेकर उनमें कहीं-कहीं किञ्चित् परिवर्तन कर काव्यत्वरूप प्रदान किया गया है। इस काव्य में महाकवि ने बोधिसत्त्व के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित विविध घटनाओं का वर्णन मार्मिक, भावपूर्ण तथा प्रसादमयी शैली में किया है। भगवान् बुद्ध के बोधिसत्त्व सम्बन्धी अनेक जन्मों से सम्बन्धित यह चरितकाव्य संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। कवित्व और पाण्डित्य दोनों दृष्टियों से यह एक नवीन रचना है। इसमें जातकों से कतिपय बौद्धधर्म के नैतिक आदर्शों एवं भगवान् बुद्ध के विभिन्न जन्मों के उदात्त चरितों को लेकर बौद्धधर्म में मान्य पारमिताओं को ध्यान में रखकर काव्यत्व रूप प्रदान किया गया है। सभी सर्गों की कथावस्तु को एक सूत्र में पिरोए हुए मणियों के समान सर्वव्यापिनी बोधिसत्त्व की जीवनी को ही जीवन्तरूप में काव्य के माध्यम से दिखाया गया है। यह भी अवधान देने योग्य है कि कवि ने बोधिसत्त्व के जीवन सम्बन्धी उन्हीं कथाओं को इसकी कथावस्तु के लिए विशेषकर चुना है जिनमें केवलमात्र बौद्धधर्म में गृहीत पारमिताओं के पालन की प्रक्रिया विद्यमान थी।

वस्तुतः दर्शन एवं काव्य का ऐसा सुन्दर समन्वय कुछ ही काव्यों में पाया जाता है। इसमें जहां दार्शनिक भित्ति को दृढ़ करने के लिए कवि ने प्रकारान्तर से पात्रों के चरित्र को असाधारण रूप से वर्णित किया है, वहीं काव्य के आत्मभूततत्त्व रस का भी पूर्णरूप से निर्वाह करते हुए काव्य में कहीं पर भी नीरसता नहीं आने दी। कवि ने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी संक्षिप्त शब्दों में यथार्थरूप से दिग्दर्शन कराया है।

इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है, कथाशिल्प तथा वर्णनशैली। यद्यपि काव्य में अनेक कथाओं को कथावस्तु के रूप में चुना गया तथापि कतिपय सर्गों को छोड़कर प्रत्येक सर्ग की कथा भिन्न होने पर भी अबाध गति से आगे बढ़ती है।

कहानी का कथाशिल्प कहीं भी पाठकों को न तो उलझन में डालता है और न आकाङ्क्षा में व्याघात ही पैदा करता है। घटनाओं को संवादात्मक रूप प्रदान करने के लिए स्वाभाविक रूप से समुत्पन्न नाटकीय स्थिति भी वर्णित घटनाओं की संक्षिप्तता को सशक्त करती है। कवि की एक अन्य विशेषता है सौन्दर्यवर्णन। कवि किसी भी व्यक्ति के सूक्ष्म वर्णन में न अपना समय व्यतीत करता है और न पाठक का अपितु वह उसे व्यङ्ग्य ही रखता है। ऐसे वर्णन प्रायः ध्वन्यात्मक रूप में ही देखे गये हैं। एक स्थान पर तीरिटवत्स की पुत्री पीलिय की पत्नी का यद्यपि कवि रेखाचित्र मात्र खींचता है तथापि वह कवि के प्रयोग को पूर्णरूप प्रदान करने वाला एवं प्रभावशाली है। यथा–

रूपप्रकर्षेण समुज्जवलन्तीं सुवासिनीं चारूविलासिनीं ताम्।
अलोकसामान्यगुणाभिरामां क्षणं निरीक्ष्यैव समे व्यमुह्यन्।।[1]

एक अन्य चित्र भी उन्मदन्ती का खींचा गया है, जो इसकी अपेक्षा अधिक सम्पन्न रंगों तथा गहरी रेखाओं से भरपूर है।[2]

इस महाकाव्य के परायण करने पर लिखा जा सकता है कि एक नूतनकाव्य परम्परा में सृजन की दृष्टि से श्रीबोधिसत्त्वचरितम् हस्तस्थित उस दीपक के समान है जिसके प्रकाश से प्रकाशित मार्ग पर चलते हुए नवीन कवि अपनी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि के बल पर आगे बढ़ सकेंगें।

इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी अभी तक पूर्णतः किंवा आंशिक रूप से इसका साहित्यिक अध्ययन नहीं किया गया। अतः इसी को ध्यान में रखते हुए अपने पूज्य गुरुवरों से प्राप्त स्वीकृति पर ही इस दिशा में कार्य किया गया और पाठकों की सुविधा के लिए बीच-बीच में कतिपय परिवर्तन भी किये गये हैं। प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ 9 अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में वर्णित विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित प्रकार से है–

प्रथम अध्याय

इसमें महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री का जीवनवृत्त, उनकी रचनाओं (बृहत्तरभारतम्, श्रीगुरुगोबिन्दसिंहचरितम्, इन्दिरागान्धीचरितम्, शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति, थाईदेशविलासम्, श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्, पत्रकाव्यम् प्रथम तथा द्वितीय

1. श्री.बो.स.च., 7.21
2. वही, 8.66-67

भाग, श्रीबोधिसत्त्वचरितम्) एवं आलोचनात्मक ग्रन्थों का संक्षेप से वर्णन किया गया है। व्यक्ति के अन्दर अदृश्यमान रूप से रहने वाला ऐसा गुण जो उसे समाज से पृथक् करता हुआ उसकी विशेषता को प्रकट करे वह उसका व्यक्तित्व कहलाता है और आप (डॉ० सत्यव्रतशास्त्री) अपने गुणों के कारण अपने व्यक्तित्व की विशेषता के कारण सभी विद्वानों के सिरमौर हैं। इसी कारण बहुत से छात्रों एवं विद्वानों ने आपके निर्देशन में अनेक शोध कार्य सम्पन्न किये है, जिसकी सूची इस अध्याय में दी गई है। आपके द्वारा लिखित पुस्तकों के प्राक्कथन, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध पत्र, अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर मिले आपके सम्मानों का भी वर्णन इसी अध्याय में किया गया है।

द्वितीय अध्याय

इसमें काव्य (श्रीबोधिसत्त्वचरितम्) का नामकरण, काव्य की कथावस्तु का मूल स्रोत, कथावस्तु में परिवर्तन एवं परिवर्धन, चतुर्दश सर्गों का सार, श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव, श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का महाकाव्यत्व इस अध्याय में वर्णित किया गया है।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। काव्य में रस का स्थान तथा महत्त्व बताते हुए श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में प्रधान रस धर्मवीर का प्रतिपादन किया गया है। धर्मवीर से तात्पर्य श्रीबोधिसत्त्व के उस त्याग, अहिंसा, सत्य, धृति, क्षमा इत्यादि उत्कृष्ट आचरण से है जिसका उन्होंने अपने अनेक जन्मों के अवदानों में पूर्णतया पालन किया। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में गौण रस के रूप में संयोग शृङ्गार, विप्रलम्भ शृङ्गार, बीभत्स, अद्भुत्, भयानक, शान्त रसों का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय

काव्य में ध्वनि का स्वरुप, ध्वनि के भेद, श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में ध्वनि, काव्य में औचित्य का स्वरुप, औचित्य के भेद, श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में औचित्य, एवं काव्य में वक्रोक्ति का स्थान, वक्रोक्ति के भेद, श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में वक्रोक्ति के उदाहरण घटा कर दिखाये गए हैं।

पञ्चम अध्याय

इस अध्याय में काव्य में गुणों की रस के साथ अचल स्थिति मानी गई है। गुणों

की संख्या में मतभेद होने पर भी अन्त में (i) माधुर्य (ii) ओज (iii) प्रसाद इन तीन गुणों को माना गया है। तदनन्तर इन गुणों का लक्षण लिखते हुए श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के पद्यों में से कतिपय पद्यों को छाँटकर उनमें तीन गुणों को घटा कर दिखाया गया है। रीति, शैली अथवा मार्ग का लोक तथा साहित्य में बड़ा महत्त्व रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्यरूप से वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली एवं लाटी का वर्णन तथा उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनके उदाहरण श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में पर्याप्त रूप से देखे जा सकते हैं।

षष्ठ अध्याय

इस काव्य में प्रायः सभी अलङ्कारों को अपनाया गया है पर अर्थान्तरन्यास तो मानों कवि की रचना के आगे-आगे दौड़ता हुआ दिखाई देता है। इससे यत्र-तत्र कविता का जो सौन्दर्य बना, वह वास्तव में अलङ्कारवादियों की उस युक्ति को पुष्ट करता है, जिसमें कहा गया कि अलङ्कार के बिना कविता में कवित्व मानना उष्णता के बिना अग्नि को अग्नि मानना है। शब्दालङ्कार से अलङ्कृत पदावली काव्य की संस्कृत साहित्य को नूतन देन है। आचार्यों द्वारा अनुप्रास तथा यमक जैसे अलङ्कारों को काव्य के लिए अनुपयुक्त मानने से प्रायः कवि इनसे बचते ही दिखाई देते हैं किन्तु प्रस्तुत काव्य में यमक, अनुप्रास की अद्वितीय छटा हृदय को आह्लादित करती हुई श्रृङ्गारादि रसों में भी अपनी अद्वितीयता के कारण अद्‌भुत-चमत्कार पैदा करती दिखाई देती है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में शब्दालङ्कार और उनमें भी अन्त्यानुप्रास का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। अर्थालङ्कारों में उपमा तथा अर्थान्तरन्यास का प्रयोग प्रचुर रूप से प्राप्त है। इसके अतिरिक्त काव्यलिङ्ग, दृष्यन्त, उत्प्रेक्षा तथा रूपकादि भी बहुलता से प्राप्त हैं। यमकालङ्कार भी अधिकता से अपनाया गया है।

जिस प्रकार पैरों के बिना व्यक्ति चल नहीं सकता ठीक उसी प्रकार से वैदिक एवं लौकिक काव्य साहित्य की रचना छन्दों के बिना आगे नहीं बढ़ सकती। इसी बात को चरितार्थ करती है पाणिनि की उक्ति-'**छन्दः पादौ तु वेदस्य**'। इसी अध्याय में काव्य में छन्दों का महत्त्व, छन्द तथा रसपरिपाक एवं श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में मात्रिक एवं वार्णिक छन्दों का वर्णन किया गया है जिसमें (इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, अनुष्टुप्, उपजाति, तोटक, द्रुतविलम्बित, भुजङ्गप्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसन्ततिलका, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडितम्, मन्दाक्रान्ता आदि छन्दों को उदाहरण सहित घटाया गया है। कवि ने अनुष्टुप् जैसे छोटे छन्द से लेकर शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े-बड़े छन्दों को वस्तुवर्णन या चरित्र-चित्रण या वस्तु-चित्रण के अनुरूप ग्रहण

किया है। उपजाति छन्द के प्रति कवि का अधिक मोह है। प्रकृति चित्रण में कवि ने कालिदास के समान मन्दाक्रान्ता जैसे लम्बे छन्द को विशेष रूप से अपनाया है।

सप्तम अध्याय

किसी भी रचना को आगे बढ़ाने का मुख्य श्रेय पात्रों को जाता है। कवि पात्रों के माध्यम से ही रचना में प्राण फूंकता है। कवि पात्रों का संयोजन जितने सुचारु ढंग से करेगा उससे कवि की योग्यता उतनी ही पाठकों के सामने आती है। कवि ने अपने काव्य में जिस किसी भी पात्र को लिया प्रथम उसके चरित्र को साधारण रूप में रखकर पुन: उसको ऊँचा उठाकर दर्शाया है। इसमें पात्रों की एक ओर उदात्त और अतिप्राकृतिक तथा दूसरी ओर साधारण तथा निम्नकोटि की मानसिक स्थिति दिखाई गई है। काव्य में कुछ एक पुरुषपात्र हैं जैसे शिबि देश का राज कुमार, कृषक, संघ उसका कृतघ्न मित्र पीलिय, राजा शीलवान्, किन्नर, पापक आदि। स्त्री पात्रों में उन्मदन्ती तथा संघ की पत्नी आदि किन्नर, यक्ष, श्रृगाल आदि इसमें अन्य पात्र हैं। इसी अध्याय में प्रकृति-चित्रण भी दिया गया है। कवि प्रकृति के लम्बे-लम्बे चित्रण नहीं करता पर उनका प्रकृति के प्रति यथार्थरूप से अनुपम प्रेम है। इसी में मरुस्थल, वन, नदी, नगरों इत्यादि का सुन्दर वर्णन किया गया है।

अष्टम अध्याय

इस अध्याय में दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इसमें बौद्धधर्म की मान्यताएँ यथा पुनर्जन्म, क्षणिकवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद का स्वरूप तथा उपादेयता दिखाते हुए पारमिताओं का स्वरूप तथा उसका महत्त्व बताते हुए श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में वर्णित पारमिताओं को दर्शाया गया है।

नवम अध्याय

यद्यपि कवि का इस काव्य में बोधिसत्त्व के चरितों का वर्णन करना ही मुख्य उद्देश्य था पर प्रसङ्गत: सभी प्रकार की परिस्थितियों का वर्णन भी काव्य में प्राप्त होता है। अत: इस अध्याय में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। सामाजिक परिस्थितियों में-शिक्षा, कृषि, व्यापार, पुरोहित प्रथा, विवाह, स्त्री इत्यादि का वर्णन किया गया है। धार्मिक दृष्टि से केवल प्रजा ही नहीं अपितु राजपरिवार भी पूर्णरूप से धार्मिक-भावना से ओतप्रोत दयाभाव से युक्त दिखाये गये हैं। राजनैतिक दृष्टि से बोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य राजाओं, सैनिकों एवं राजनीतिपरक नीतियों से भरा पड़ा है। इस महाकाव्य में वर्णित

सभी पात्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृति का भी वर्णन किया गया है।

इस प्रकार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् शास्त्रीय नियमों से नियन्त्रित, बौद्धधर्म से अध्यासित, भारतीय संस्कृति से सुसज्जित, प्राचीनता को नवीनता प्रदान करने वाला, सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला, सरस तथा सरल शब्दों में दर्शन के सिद्धान्तों को काव्यरूप में उपस्थित करने वाला एक अद्वितीय महाकाव्य है।

महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री द्वारा लिखित इस महाकाव्य का मैंने यथामति, यथाशक्ति अध्ययन करने का प्रयास किया है। मैं समझती हूँ यदि मेरे इस प्रयास पर महाकवि कालिदास की यह सूक्ति कि–

'तितीर्शुः दुस्तरं मोहाद् उडुपेनाऽस्मि सागरम्'।

पूर्णतः चरितार्थ हो रही है, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम मैं परमश्रद्धेय संस्कृत जगत् के देदीप्यमान दिवाकर पद्मश्री डॉ० सत्यव्रतशास्त्री को कोटिशः प्रणाम तथा धन्यवाद करती हूँ ज़िनकी अनुपम-कृति श्रीबोधिसत्त्वचरितम् को आधार मानकर लिखे गए इस ग्रन्थ को परीक्षकों के कर कमलों तक पहुँचाने के लिए प्रस्तुत करने जा रही हूँ।

सर्वप्रथम मैं डॉ० त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा, प्रोफैसर (पं.वि.), का आभार व्यक्त करना अपना परम कर्तव्य समझती हूँ जिनका इस कार्य में सर्वदा सहयोग तथा सद्भाव मेरे साथ रहा है।

इसके साथ ही गुरुवर्य डॉ० रघुवीरसिंह, प्रोफैसर (पं.वि.), होशियारपुर के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके वस्तुतत्त्वनिर्देशन, सदुत्साहवर्धन से प्रेरणा प्राप्त कर मैं इस प्रयास में सफल हुई हूँ। आप केवल एक शोधनिर्देशक के रूप में ही नहीं अपितु मेरे व्यक्तित्व के विकास के लिए भी सतत् प्रयत्नशील रहे हैं।

मेरी शिक्षा की उत्तरोत्तर वृद्धि के इच्छुक पितृ-कल्प परमादरणीय प्रो. आई. डी. उनियाल, संचालक, वी.वी.आर.आई., होशियारपुर ने केवल अपने विद्वतापूर्ण सुझाव ही मुझे नहीं दिए, अपितु समय-समय पर मेरे मन में उत्पन्न साहित्यिक तथा दार्शनिक विषयक-शङ्काओं का निवारण भी किया। वस्तुतः मुझे अपने इस कार्य को पूर्ण करने में उनके परोपकार, आशीर्वाद तथा ज्ञान-प्राचुर्य से सतत सहायता मिलती रही है। अतः मैं हृदय से आपकी ऋणी तथा कृतज्ञ हूँ।

इसी क्रम में मान्यवर डॉ० जगदीश प्रसाद सेमवाल, भूतपूर्व चेयरमैन (पं.वि.) की कृपा दृष्टि मेरे ऊपर तभी से रही है जब से मैं संस्थान की छात्रा थी। आपके द्वारा दिए गए वैदुष्यपूर्ण सुझाव मेरे लिए गौरव की बात है। अतः मैं आपके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

डॉ० प्रेमलाल शर्मा, प्रोफैसर तथा विभागाध्यक्ष (पं.वि.) होशियारपुर, का भी हृदय से आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिनके अनुशासनपरक उपदेश तथा वात्सल्य के परिणामस्वरूप ही यह कार्य परिणति को प्राप्त कर सका है। अतः आपका कोटिशः धन्यवाद।

डॉ० गणेशदत्त भारद्वाज, प्रोफैसर तथा अध्यक्ष (पं.वि.) होशियारपुर, प्रो. राजेन्द्रकुमार शर्मा, डॉ० शुकदेव शर्मा, पूर्व चेयरमैन (जी.एन.डी. यूनिवर्सिटी, अमृतसर), इत्यादि सभी का आभार व्यक्त करती हूँ। डॉ० शिवकुमार वर्मा पुस्तकालयाध्यक्ष का भी मैं हार्दिक धन्यवाद करती हूँ जिन्होंनें सभी प्रकार की पुस्तक सम्बन्धी सुविधाएं समय-समय पर मुझे उपलब्ध कराई।

मेरे पूज्य पिता श्री देशराज गान्धी जी के निश्चल त्याग एवं वात्सल्य स्नेह का ही फल है जो मैं आज यहाँ तक पहुँच पाई हूँ। जिनका पूर्ण आशीर्वाद मुझे स्वतः ही प्राप्त है। मैं उनके प्रति नतमस्तक हूँ तथा सर्वदा आशीर्वाद की इच्छुक हूँ। श्रद्धेया माता श्रीमती सत्यादेवी जी जिनसे मुझे सब कुछ प्राप्त होता रहा, उनके प्रति मेरा कृतज्ञ-भाव सहित सर्वस्व समर्पित है। प्रिय अनुज श्रीप्रफुल्लचन्द्र गान्धी का भी पूर्ण सहयोग रहा, उसके लिए भी वह साधुवाद लिखना मैं अपना परम कर्तव्य समझती हूँ।

पूज्य (श्वसुर) श्री करनैलसिंह बैंच, श्रीमती शीतलकौर बैंच (सास) के निरन्तर मिले सहयोग के लिए मैं किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ, उनसे मैं यही कामना करती हूँ कि उनका वरद हस्त सर्वदा हमारे ऊपर रहे जिससे हमें किसी भी प्रकार से कार्य में कठिनाई का सामना न करना पड़े।

अपने पति मनजिनदर सिंह बैंच के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मेरी भावनाओं को अच्छी प्रकार से समझा और समय-समय पर मुझे अपने शोध विषयक इस कार्य को सम्पन्न करने में पूर्ण रुप से सहायता प्रदान करते रहे है। अर्णव (बेटा) का प्यार और उसकी निश्चल हंसी भी निरन्तर कार्य करने की प्रेरणा देती रही है।

अतः जिस किसी ने भी मुझे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य में सहयोग दिया उसके प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ। इस शोध प्रबन्ध को ग्रन्थ का रूप देने में जिन-जिन विद्वान् कवियों, लेखकों, समालोचकों तथा काव्यशास्त्रीय आचार्यों के ग्रन्थों की सहायता ली गई, मैं उन सभी के प्रति विनम्र भाव से कृतज्ञता प्रकट करती हूँ क्योंकि उनकी सहायता के बिना तो मैं कुछ भी न कर सकती अतः सभी का हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ।

ऋतुबाला

सङ्केताक्षर-सूची

अ.	-	अध्याय	द्र.	-	द्रष्टव्य
अंगु.नि.	-	अंगुत्तरनिकाय	द्वि.ख.	-	द्वितीय खण्ड
अथर्व.	-	अथर्ववेद	द्वि.स्त.	-	द्वितीय स्तब्क
अ.न.भा.	-	अभिनवभारती	ध्व.	-	ध्वन्यालोक
अनु.	-	अनुवादक	ना.द.	-	नाट्यदर्पणम्
अ.पु.	-	अग्निपुराणम्	ना.शा.	-	नाट्यशास्त्रम्
अ.शे.	-	अलङ्कारशेखरः	नि.क.	-	निदान कथा
अ.स.	-	अलङ्कारसर्वस्वम्	प.का.द्वि	-	पत्रकाव्य द्वितीय
इ.गा.च.	-	इन्दिरागांधीचरितम्	प.का.प्र.	-	पत्रकाव्य प्रथम
ऋ.वे.	-	ऋग्वेद	पा.अ.	-	पाणिनि अष्ट्यध्यायी
औ.वि.च.	-	औचित्यविचारचर्चा	पा.धा.पा.	-	पाणिनि धातुपाठ
क.सं.	-	कथा संख्या	पा.यो.द.	-	पातञ्जलयोगदर्शनम्
का.प्र.	-	काव्यप्रकाश	छ.सू.	-	छन्दसूत्रम्
का.मी.	-	काव्यमीमांसा	प्र.अ.	-	प्रथम अध्याय
का.सा.सं	-	काव्यालङ्कार-सारसंग्रह	प्र.ख.	-	प्रथम खण्ड
			पृ.	-	पृष्ठ
का.सू.	-	काव्यालङ्कारसूत्रम्	प्र.रू.य.भू.	-	प्रतापरुद्रयी-यशोभूषणम्
चा.द.	-	चार्वाक दर्शनम्			
जा.मा.	-	जातकमाला	बु.च.	-	बुद्धचरितम्
जा.वि.	-	जातकविमर्श	बृ.भा.	-	बृहत्तरभारतम्
था.दे.वि.	-	थाईदेशविलासम्	बो.च.	-	बोधिचर्यावतार
द.रू.	-	दशरूपकम्	बौ.द.मी.	-	बौद्धदर्शनमीमांसा
दी.नि.	-	दीर्घनिकाय	बौ.ध.द.	-	बौद्धधर्मदर्शनम्

बौ.ध.मी.	–	बौद्धधर्ममीमांसा
ब्र.सू.	–	ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य)
भा.	–	भाग
भा.प्र.	–	भावप्रकाश
म.नि.	–	मज्झिमनिकाय
मनु.	–	मनुस्मृति
मै.सं.	–	मैत्रायणी संहिता
यजु.वे.	–	यजुर्वेद संहिता
र.ग.	–	रसगङ्गाधर
रघु.	–	रघुवंश
र.त.	–	रसतरङ्गिणी
र.सि.	–	रससिद्धान्त
व.जी.	–	वक्रोक्तिजीवितम्
वा.प.	–	वाक्यपदीयम्
वा.रा.	–	वाल्मीकिरामायणम्
वि.ध.पु.	–	विष्णुधर्मोत्तर-पुराणम्
व्य.वि.	–	व्यक्तिविवेक:
व्या.म.भा.	–	व्याकरण महाभाष्य
श.दे.सु.वि.	–	शर्मण्यदेश: सुतरां विभाति
शृं.प्र.	–	शृङ्गारप्रकाश
शृ.ति.	–	शृङ्गारतिलकम्
श्री.गु.गो.	–	श्रीगुरुगोबिन्द
सि.च.		सिंहचरितम्
श्री.बो.स.च.	–	श्रीबोधिसत्त्व-चरितम्
श्री.रा.की.	–	श्रीरामकीर्ति-
म.का.		महाकाव्यम्
श्लो.	–	श्लोक
स.क.	–	सरस्वतीकण्ठाभरण
सं.नि.	–	संयुत्तनिकाय:
सां.का.	–	सांख्यकारिका
सां.सू.	–	सांख्यसूत्रम्
सा.द.	–	साहित्यदर्पण
सि.कौ.	–	सिद्धान्तकौमुदी
सु.वृ.ति.	–	सुवृत्ततिलकम्
सू.सु.	–	सूक्तिसुधा

विषयानुक्रमणिका

1
महाकवि का परिचयात्मक विवरण

(क) जीवनवृत्त

"किं कवेः तेन काव्येन किं काण्डेन धनुशमतः" इस उक्ति को चरितार्थ करने वाले संस्कृत के अद्वितीय विद्वान्, विद्वत्ता के पक्षपाती, सौजन्य की प्रतिमूर्ति, सौहार्द के कीर्तिस्तम्भ, संस्कृत जगत् के जाज्वल्यमान मार्तण्ड तथा वैदुष्य के सङ्गम, विद्याव्यसनी, देववाणी के अप्रतिम विद्वान्, सरस्वती के वरदपुत्र, भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत भाषा के संरक्षण, संवर्धन, उन्नयन, विकास, प्रचार और प्रसार में अपने जीवन को समर्पित कर देने वाले डॉ० सत्यव्रतशास्त्री को संस्कृत जगत् में कौन नहीं जानता? डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने वस्तुतः जन्म लेकर यह उक्ति सत्य कर दिखाई कि-

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।।[1]

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने पंजाब की धरती पर जन्म लिया, इसी की मिट्टी में खेले, और अपनी प्रारम्भिक शिक्षा भी यहीं ग्रहण की और बाद में उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए अनेक स्थानों में रहे। शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त आपने प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा संस्कृत के प्रति अद्वितीय स्नेह के कारण केवल भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी संस्कृत के प्रचार और प्रसार में अपना अद्वितीय योगदान दिया और भारत का गौरव बढ़ाया। शास्त्री जी न केवल अपने आप ही अपितु दूसरों को भी संस्कृत के प्रचार और प्रसार के लिए सर्वदा प्रेरित करते रहे हैं।

जन्म स्थान

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री का जन्म 29 सितम्बर 1930 को लाहौर (सम्प्रति पाकिस्तान) के माडल टाउन नामक स्थान में हुआ। आपके पूज्य पिता जी का नाम श्रीचारुदेवशास्त्री तथा पूज्य माता जी का नाम श्रीमती रामरक्खी था। संभवतः संस्कृत जगत् में कोई भी

---

1. हितोपदेश (मित्रलाभ), श्लो.सं. 14

ऐसा विद्वान् नहीं होगा जो पण्डित चारुदेव शास्त्री के नाम तथा काम से परिचित न हो। आप सच्चे अर्थों में आधुनिक ऋषि थे तथा व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय मनीषी थे। इसीलिए आप आधुनिक पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध थे। आपके द्वारा लिखित ग्रन्थ आपके वैदुष्य के परिचायक हैं।

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री की प्रारम्भिक शिक्षा पाणिनि की अष्टाध्यायी एवं अमरकोश से हुई। आपकी शिक्षा की दीवार इन्हीं दो ग्रन्थ-स्तम्भों पर आधारित है। आपने नवीन पद्धति (अंग्रेजी माध्यम) से भी पढ़ना प्रारम्भ किया। लाहौर में रहते हुए एक ओर प्राच्य-विद्या की सर्वप्रथम श्रेणी प्राज्ञ की परीक्षा तथा दूसरी ओर पांचवीं श्रेणी उत्तीर्ण की। पांचवीं श्रेणी की परीक्षा उत्तीर्ण करने पर भी आपने प्राच्य पद्धति को ही अधिक मान दिया और प्राच्य (आजकल सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) बनारस से मध्यमा परीक्षा उतीर्ण की। मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर आप गुरुकुल ज्वालापुर से लाहौर आ गए। वहाँ ओरीयण्टल कॉलिज लाहौर में विधिवत् पढ़ते हुए आपने पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा सर्वाधिक अङ्कों में उत्तीर्ण की। शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने के विचार से आपने सर्वप्रथम डी.ए.वी. स्कूल लाहौर में छात्र के रूप में विधिवत् प्रवेश लिया[1] तथा वहाँ से दसवीं श्रेणी बहुत अच्छे अङ्कों से उत्तीर्ण की। इसी बीच भारत-पाक विभाजन हो गया। पण्डित चारुदेव शास्त्री अपने परिवार सहित भारत आ गए। आप भी उनके साथ भारत आकर गान्धी मेमोरियल कॉलेज अम्बाला में बी.ए. में प्रविष्ट हो गए। वहाँ बी.ए. आनर्स में सर्वाधिक अङ्क प्राप्त करते हुए, एक कीर्तिमान् स्थापित किया। आपने एम.ए. (संस्कृत) डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर में पढ़ते हुए पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ से प्रथम श्रेणी से विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण किया। संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं की विधिवत् शिक्षा के कारण आपका दोनों भाषाओं पर पूर्णाधिकार है। शोधकार्य करने के लिए संस्कृत के प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में आप गए। वहाँ से "Concept of Time and Space according to Bhartrihari". इस विषय पर अंग्रेजी भाषा में अपना शोध प्रबन्ध लिख कर पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। वाराणसी में रहते हुए आपने प्राचीन पण्डित परम्परा के मूर्धन्य विद्वानों में गिने जाने वाले पण्डित शुकदेव झा से व्याकरण महाभाष्य, पंडित ढुँढिराजशास्त्री से नव्यन्याय, पण्डित महादेवशास्त्री से साहित्यशास्त्र और स्वामी सुरेश्वराचार्य से वेदान्तदर्शन की शिक्षा भी साथ-साथ ही प्राप्त की।

---

1. दिल्लीस्थाः विंशशताब्दीदयाः संस्कृत-रचनाकाराः, डॉ० चन्द्रभूषण झा, श्रीकृष्णसेमवालः।

शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त आजीविका की दृष्टि से आपकी नियुक्ति सर्वप्रथम 1955 में हंसराज कॉलेज दिल्ली में प्राध्यापक पद पर हुई। 1957 नवम्बर में आप वरिष्ठ प्रवक्ता के रुप में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में आ गए। अगस्त 1959 में दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रवक्ता पद पर नियुक्ति होने पर आप पुनः दिल्ली आ गये। उसी विश्वविद्यालय में 1963 में आप रीडर पर पर नियुक्त हुए और 1970 में प्रोफैसर पद पर आसीन हुए। उस समय आपकी आयु केवल 39 वर्ष की थी। 46 वर्ष तक दिल्ली विश्वविद्यालय में ही प्रतिष्ठित पदों पर कार्य करते हुए 1995 में आप सेवामुक्त हुए। सम्प्रति आप जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र में अभ्यर्हित आचार्य (Honorary Professor) के रूप में कार्यरत है।

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने अपने सेवाकाल में अभ्यागत आचार्य (Visiting Professor) के रूप में विदेशों के अनेक विश्वविद्यालयों में कार्य किया तथा अपनी अध्यापन शैली तथा वैदुष्य से वहाँ के छात्रों तथा अध्यापकों को अत्यधिक प्रभावित किया।[1] आपकी बहु-आयामी प्रतिभा केवल अध्ययन-अध्यापन तक ही सीमित नहीं थी अपितु प्रशासक के गुण भी आप में पूर्ण रूप से विद्यमान थे। श्रीजगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय पुरी (उड़ीसा) में कुलपति पद को आपने सुशोभित किया।

भारत सरकार ने आपके वैदुष्य तथा व्यक्तित्व से प्रभावित होकर 1999 में आपको पद्मश्री अलङ्करण से सम्मानित किया।

1.	विश्वविद्यालय	देश	अवधि
	1 चुलालौङ्कोर्न यूनि., बैंकाक	थाईलैण्ड	7 अक्तूबर 1977 से 5 नवम्बर 1979
	2 यूनिवर्सिटी ऑफ ट्यूबिंगन	जर्मनी	7 नवम्बर 1982 से 31 जुलाई 1983 तक
	3 कैथोलिक यूनिवर्सिटी, ल्यूवेन	बेल्जियम्	1 फरवरी 1985 से 31 मई 1985 तक
	4 सिल्पाकौर्न यूनिवर्सिटी, बैंकाक	थाईलैंड	31 नवम्बर 1988 से 7 जनवरी 1991 तक
	5 नार्थईस्ट बुद्धिस्ट यूनि., नौनखाई	थाईलैंड	1 जून 1995 से 31 मार्च 1996 तक
	6 यूनिवर्सिटी ऑफ अल्बर्टा, एडमन्टन	कनाडा	15 मार्च 1988 से 21 अप्रैल 1988 तक

सू.सु.,पृ.3

पद्मश्री डॉ० सत्यव्रतशास्त्री का संस्कृत के प्रचार और प्रसार में जो योगदान है वह भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी स्तुत्य है। आपने थाईलैंड की राजकुमारी को संस्कृत पढ़ाई। आपकी संस्कृत पढ़ाने की शैली से वह संस्कृत भाषा, संस्कृत के नाटक तथा काव्यों से इतनी प्रभावित हुई, कि उसका तथा थाई राजवंश का संस्कृत भाषा से अत्यधिक लगाव हो गया।

इनके सत्प्रयासों से बैंकाक के सिल्पाकौर्न विश्वविद्यालय में संस्कृत अध्ययन केन्द्र की स्थापना हुई जोकि दक्षिणपूर्व एशिया का अपने ढंग का पहला केन्द्र है। इनके बैंकाक जाने से पूर्व वहाँ के विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्ययन अध्यापन नाममात्र को भी नहीं था। आज इस केन्द्र में स्नातकोत्तर कक्षा से होकर पी-एच्.डी. तक की पढाई हो रही है। इस विश्वविद्यालय ने इनके संस्कृत के अध्ययन अध्यापन में गतिशीलता लाने के महान् अवदान को पहिचान के प्रतीक के रूप में अपने यहाँ के प्राच्यभाषा अध्ययन विभाग के पुस्तकालय का नाम इनके नाम पर रख दिया है। यह सम्मान शायद ही अभी तक किसी भी विद्वान् को मिला होगा।

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के बैंकाक जाने से पूर्व संस्कृताध्यापन वहाँ केवल एक ही विश्वविद्यालय, चुलालोङ्कौर्न विश्वविद्यालय में होता था। सम्प्रति वह चार-पांच विश्वविद्यालयों में हो रहा है। उन सभी में पीठाध्यक्ष डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के पूर्व छात्र ही है।

(ख) कृतित्व

कवि के रूप में डॉ० सत्यव्रतशास्त्री मेधावी तथा प्रतिभाशाली साहित्यकार हैं। संस्कृत साहित्य में आपका योगदान सृजनात्मक एवं आलोचनात्मक साहित्य के रूप में है। आपकी रचनाएँ सत्यं शिवं सुन्दरं के सुर में गुनगुनाती हुई संस्कृत के प्रति आपकी अनुराग की प्रवृत्ति को द्योतित करती हैं। सृजनात्मक लेखन इनका दोनों प्रकार से है-पद्यात्मक और गद्यात्मक। पद्यात्मक लेखन में महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रबन्ध काव्य, पत्रकाव्य, और फुटकर कविताएं भी है। गद्यात्मक लेखन में संस्कृत में पहली बार लिखी जाने वाली **दिने-दिने याति मदीयजीवनम्** नामक डायरी है और दूसरी **भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र** जो सम्प्रति में निर्माणधीन है।

सृजनात्मक लेखक के रूप में आपकी काव्यधारा का प्रारम्भ केवल 12 वर्ष की अवस्था में "षड्-ऋतुवर्णनम्" नामक खण्डकाव्य की रचना से हुआ। इस रचना की विशेषता यह है, कि इसके प्रत्येक पद्य में पृथक्-पृथक् छन्द का प्रयोग है। इस काव्य

की यह भी विशेषता है, कि इसमें जिस प्रकार की ऋतु का वर्णन.हुआ है उसमें उसी प्रकार के छन्द को अपनाने का प्रयास किया गया है जैसे कि वर्शा ऋतु में बादलों को देखकर मत्त मयूरों का वर्णन करने के लिए मत्त-मयूर नामक छन्द का प्रयोग।[1] काव्य के रूप में आपके जिन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है, वे इस प्रकार हैं–

1. **बृहत्तरं-भारतम्**–सारस्वती सुषमा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1957
2. **श्रीगुरुगोबिन्दसिंहचरितम्**–प्रथम संस्करण, प्रकाशक-गुरुगोबिन्दसिंह फाउन्डेशन, पटियाला, 1967 एवं द्वितीय संस्करण, प्रकाशक - साहित्य भण्डार, मेरठ, 1996.
3. **इन्दिरागान्धीचरितम्**–भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1976.
4. **शर्मण्यदेशःसुतरां विभाति**–अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, 1976.
5. **थाईदेशविलासम्**–ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-1979.
6. **श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्**–मूलामल सचदेव फाउन्डेशन एवं अमरनाथ सचदेव फाउन्डेशन, बैंकाक, 1990.
7. **पत्रकाव्यम्-I,** ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1994.
8. **पत्रकाव्यम्-II,** ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1994.
9. **श्रीबोधिसत्त्वचरितम्**–प्रथम संस्करण स्वप्रकाशित, वर्ष 1960 एवं द्वितीय संस्करण, प्रकाशक - मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1974.

1. बृहत्तरं-भारतम्

यह एक खण्डकाव्य है। इसमें दो भाग हैं। प्रथम भाग में प्राचीनकालीन भारतीय राजाओं द्वारा एशियाई देशों पर की गई सत्ता का वर्णन है। कवि का कथन है कि भारतीय राजा शस्त्र के बल पर विश्वास नहीं करते थे। बलपूर्वक किसी भी राजा को वश में करना उनको अच्छा नहीं लगता था–

---

1. रम्येऽरण्ये सप्रमदं काममटन्तो मन्द्रध्वानान्वीक्ष्य पयोदान् दिवि रम्यान्।
नर्तं नर्तं चारुकलापा मुदमाप्ता रोरूयन्ते मत्तमयूरा अविरामम्।।
(षड् ऋतुवर्णनम्) सू.सु., पृ.5

परं भारतवर्षीया न शस्त्रेण जयं पुरा:।
अरोचयन्नतस्ते नो बलाद्देशान् विजिग्यिरे।।[1]

काव्य के दूसरे भाग में दक्षिणपूर्व एशिया में भारतीयों के आने का वर्णन है।[2] इसके अतिरिक्त कम्बुजद्वीप, शैलेन्द्रराज्य तथा बालिद्वीप की संक्षेप से चर्चा है[3]। यथा शैलेन्द्र राज्य का वर्णन काव्य में इस प्रकार है:-

अर्बाभिधे प्रथितदेशवरे प्रजातैप्रस्ता-
त्कालिकैः कृतिवरैरितिहासविद्भिः।
शैलेन्द्रनाम्न इति वृत्तमलेखि राज्य-
स्यास्ते तदेव खलु न परमं प्रमाणम्।।[4]

भाषा और शैली की दृष्टि से यह काव्य एक सुन्दर खण्डकाव्य कहा जा सकता है। इसमें कोमलकान्त पदावली को अपनाया गया है। कवि की यह विशेषता है कि वह कहीं पर भी शब्दों तथा अलंकारों को घड़ने का प्रयास नहीं करते। अनायास ही शब्द उनकी कथावस्तु के अनुरूप उपस्थित होते जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण में देखें-

किं मुधा रक्तपातेन किं वा नो भूमिकाम्यया।
इत्येवं धर्मजिष्णुत्वं कामयांचक्रिरे हि ते।।[5]

इस पद्य में स्वतः आए हुए अलङ्कार, भाषा को सुशोभित करते हुए दिखाई देते हैं। इसके साथ ही एक दूसरा उदाहरण भी दिया जा सकता है। जैसे-

विना युद्धं विना शस्त्रं विना सेनाश्च भीषणाः।
विना नीतिं पुरा द्वीपा भारतीयैर्विनिर्जिताः।।[6]

यहाँ पर अनुप्रास, विनोक्ति तथा विभावना अलंकार का सुन्दर सामंजस्य है। अर्थालङ्कारों में देखा गया है, कि कवि में किसी भाव को सुदृढ़ करने की प्रवृत्ति होने से अर्थान्तरन्यास के प्रति अधिक रुचि है। इसके कारण ये अर्थान्तरन्यास के सिद्धहस्त कवि माने जा सकते हैं। इसका एक सुन्दर उदाहरण जैसे-

---

1. बृ.भा., श्लो.11
2. वही, भा.-2, श्लो.1
3. वही, श्लो.84
4. वही, श्लो.84
5. वही, श्लो.13
6. वही, श्लो.12

दिव्यस्य वा सुचरितस्य हि पुण्यभाजां
संकीर्तनं किमपि पुण्यमथातनोति।
एवं यतेन मनसा प्रविचिन्त्य
चिन्त्यमस्मिन् वयं सुरवदकर्मणि सम्प्रवृत्ताः।।[1]

इस प्रकार कला–पक्ष एवं भाव–पक्ष की दृष्टि से यह एक सफल खण्डकाव्य है। इसके प्रत्येक पद्य में जिस प्रकार के बृहत्तरभारत की कल्पना की गई है, उसमें सफलता का मिलना न मिलना पृथक् है, किन्तु इससे कवि की भारतीयता के प्रति दृढ़ आस्था तथा भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा की झलक दिखाई दे रही है। साथ ही भारतीयों को भी इस दिशा में पूर्णतः प्रेरणा प्रदान करने की भावना कवि के हृदय में निहित प्रतीत हो रही है।

2. श्रीगुरुगोबिन्दसिंहचरितम्

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री की यह द्वितीय अनुपम रचना है। इस खण्डकाव्य के नाम से स्पष्ट है कि यह सिक्ख–धर्म के दसवें गुरु श्रीगुरुगोबिन्दसिंह के जीवनवृत्त को लेकर लिखा गया है। यह एक ऐतिहासिक काव्य है। इस रचना को साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा **"साहित्य अकादमी पुरस्कार"** से सम्मानित किया गया है जो साहित्यिक योगदान हेतु आपके व्यक्तित्व का प्रथम आभूषण है। इस खण्डकाव्य के नामकरण एवं प्रारम्भिक उद्घोषणा से स्पष्ट है कि इसका प्रयोजन सिक्खों के दसवें एवं अन्तिम गुरु श्रीगुरुगोबिन्दसिंह की जीवनी को लिपिबद्ध करना है। यद्यपि इसकी कथावस्तु इतनी विस्तृत हो सकती थी कि इसको एक महाकाव्य का रूप दिया जा सकता था किन्तु कवि ने अपने वैदुष्य से विस्तृत ऐतिहासिक कथावस्तु को चार सर्गों तक सीमित कर उसको खण्डकाव्य का रूप दे दिया। प्रत्येक सर्ग की कथावस्तु इस प्रकार है।

प्रथम सर्ग में 89 पद्य हैं, जिनमें श्रीगुरुगोबिन्दसिंह के जीवनवृत्त का वर्णन है। गुरुओं की परम्परा में श्रीगुरुतेगबहादुर जी नवम गुरु हुए। वे धर्म का प्रचार करते हुए एक बार पाटलिपुत्र पहुँचे।[2] वहाँ अपनी गर्भवती पत्नी तथा वृद्ध माता को अपने साले कृपालसिंह के पास छोड़कर वे अन्यत्र चले गए।[3] समय आने पर वहीं ननिहाल में श्रीगुरुगोबिन्दसिंह का जन्म हुआ। श्रीगुरुगोबिन्दसिंह छहः वर्ष तक वहीं रहे। उसके

---

1. बृ.भा., श्लो.83
2. श्री.गु.गो.सि.चं., 1.7
3. वही, 1.9

पश्चात् अपने पिता जी के साथ आनन्दपुरसाहिब आ गए।[1] श्रीगुरुगोबिन्दसिंह बाल्य-काल से ही बड़े वीर तथा निर्भीक थे। एक बार उन्होंने अपने पिताश्री को चिन्तित देखकर उनकी चिन्ता का कारण पूछा। गुरु श्रीतेगबहादुर ने कहा कि, "मुगल बादशाह ब्राह्मणों की हत्या कर रहा है, मूर्तियों को तोड़ रहा है और हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया जा रहा है। ऐसे समय में यदि कोई देशभक्त वीर बादशाह का विरोध करते हुए अपने प्राणों का बलिदान कर दे, तो धर्म की रक्षा हो सकती है? उनका उत्तर था आपके अतिरिक्त कौन ऐसा धीर एवं वीर धर्मरक्षक हो सकता है, जो धर्म के लिए प्राणों का बलिदान दे कर देश को संकट से उबार सकता है।"[2] श्रीगुरुगोबिन्दसिंह जैसे वीर बालक से प्रेरणा प्राप्त करके श्रीतेगबहादुर धर्म की रक्षा के लिए निकल पड़े। एतदर्थ उन्होंने अपनी बलि दे दी। उनका सिर काटा गया।[3] तदनन्तर श्रीगुरुतेगबहादुर के सैंकड़ों शिष्यों ने श्रीगुरुगोबिन्दसिंह को गुरु-पुत्र मानते हुए उनकी धीरता वीरता एवं देश भक्ति से प्रभावित होकर उनको गुरु गद्दी पर बैठा दिया।[4]

दूसरे सर्ग में 85 पद्य हैं जिसमें श्रीगुरुगोबिन्दसिंह के नाहन राज्य के राजा का निमन्त्रण स्वीकार कर नाहन में आकर रहने का वर्णन है। वहीं रहते हुए उनका विवाह हुआ[5] और वही रहते हुए उन्होंने एक दुर्ग का निर्माण करवाया जिसका नाम पौंट साहिब रखा[6] जो आज अपनी ख्याति के लिए समस्त भारत में प्रसिद्ध है। वहाँ रहते हुए श्रीगुरुगोबिन्दसिंह जी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की तथा वही रामराय जी से उनकी भेंट हुई।[7] इसी सर्ग में औरङ्गजेब द्वारा भेजे गए सेनापतियों की पराजय का भी वर्णन है।[8]

तृतीय सर्ग में 61 पद्य हैं, जिसमें श्रीगुरुगोबिन्दसिंह द्वारा विचित्र नामक नाटक लिखने का तथा अनेक ग्रन्थों के अनुवाद करने का प्रसङ्ग है। श्रीगुरुगोबिन्दसिंह ने वैशाखी के दिन आनन्दपुरसाहिब में शिष्यों को एकत्रित किया[9] और पाँच प्यारों को

---

1. श्री.गु.गो.सि.चं., 1.38-39
2. वही, 1.45-47
3. वही, 1.62-63
4. वही, 1.75
5. वही, 2.4
6. वही, 2.25
7. वही, 2.26
8. वही, 2.71
9. वही, 3.7-9

अमृत छका कर दीक्षा दी और '**खालसा पंथ**' की स्थापना की।[1] आज भी सिक्ख जगत् वैशाखी पर वहाँ एकत्रित होता है। कुछ समय बाद औरङ्गजेब ने आनन्दपुर साहिब को घेर लिया।[2] यह देख श्रीगुरुगोबिन्दसिंह ने नीति को अपनाते हुए आनन्दपुरसाहिब से निकलना ही उचित समझा और वे वहाँ से चले गए।

चतुर्थ सर्ग में 131 पद्य हैं जिसमें गुरु जी के शिष्य का वर्णन तथा उनके शहीद होने का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया है। श्रीगुरुगोबिन्दसिंह के पुत्र अजीत सिंह का मुगल-सेना के साथ भयंकर युद्ध हुआ।[3] देश का दुर्भाग्य था कि गंगू नामक किसी व्यक्ति ने छल-कपट से गुरु की माता तथा उनके पुत्रों को सरहन्द के नवाब के द्वारा पकड़वा दिया[4] और बाद में साहिबजादों को दीवार में चिनवा दिया।[5]

इस दुःखद-घटना के बाद श्रीगुरुगोबिन्दसिंह दक्षिण की यात्रा पर चले गए। श्रीगुरुगोबिन्दसिंह ने बन्दावैरागी को दीक्षित किया तथा उसका नाम बन्दा सिंह रख दिया।[6] उसने भी गुरु जी की आज्ञा से पंजाब के अनेक राजाओं को पराजित किया।[7] अन्त में गुरु जी ने अपने शिष्यों को अपने बाद श्रीगुरुग्रन्थसाहिब को ही गुरु मानने का आदेश दिया और अपने चलाए हुए पन्थ के अनुसार चलने का उपदेश दिया।[8]

श्रीगुरुगोबिन्दसिंहचरितम् के नायक श्रीगुरुगोबिन्दसिंह हैं जो एक धीरोदात्त नायक हैं।[9] इसमें वीर रस है।[10] कलापक्ष की दृष्टि से भी यह एक सफल कृति है। अनुप्रास की छटा इसमें देखने योग्य है।[11] इसके अतिरिक्त इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा एवं अनुप्रास अलङ्कारों का यथावसर प्रयोग है। जैसे-

---

1. श्री.गु.गो.सि.च., 3.31-35
2. वही, 3.55
3. वही, 4.4
4. वही., 4.49-50
5. वही, 4.72-73
6. वही, 4.109
7. वही, 4.112
8. इतः प्रभृत्येष गुरुर्भवेद्धो, ग्रन्थस्, तदेनं भजतातिभक्त्या।
   अयं ममात्मा मम रूपमेष, एतस्य रूपं मम रूपमेव।। -वही, 4.12
9. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही,
   दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता।। -सा.द., 3.30
10. वही, 4.18-28
11. वही, 1.65, 2.46; 49

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् तद्वत् पुरं शिष्यवराः प्रविष्टाः।
आज्ञां वहन्तः शिरसा गुरोस्ते मुदा परीताः परया विनीताः।।[1]

3. इन्दिरागान्धीचरितम्

न केवल भारत अपितु विश्व के ऐतिहासिक रङ्गमंच पर भारत की पूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागान्धी के जीवन चरित्र को संस्कृत महाकाव्य के रूप में निबद्ध कर डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने काव्य जगत् में चिरस्थायिनी कीर्ति अर्जित की है। इस महाकाव्य में श्रीमती इन्दिरागांधी के जन्म से लेकर 1976 तक की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संक्षेप में वर्णन है। इसकी कथावस्तु में किसी भी प्रकार से इन्दिरागांधी की कार्य–कलाप का यथावत् वर्णन है। इसलिए यह 'एक ऐतिहासिक काव्य माना जा सकता है।

इसमें 25 सर्ग हैं जिन्हें चार भागों में बांटा गया है। प्रथम सर्ग से सातवें सर्ग तक प्रथम भाग में श्रीमती इन्दिरगांधी का जन्म एवं लालन–पालन का वर्णन है। आठवें सर्ग से चौदहवें सर्ग तक महाकाव्य के दूसरे भाग का सम्बन्ध श्रीमती इन्दिरागांधी की शिक्षा एवं राष्ट्रसेवा की दीक्षा से है। पन्द्रहवें सर्ग से बीसवें सर्ग तक काव्य के तीसरे भाग में श्रीमती इन्दिरागांधी द्वारा अपने पिता पण्डित जवाहरलालनेहरु के प्रति पितृसेवापरायणता एवं फिरोजगांधी के साथ परिणय तथा दाम्पत्य जीवन का वर्णन है। चतुर्थ एवं अन्तिमभाग में उन्हें कुशल एवं परिपक्व राजनेत्री के रूप में दिखाया गया है।

काव्य का प्रारम्भ तीर्थराजप्रयाग के वर्णन से होता है।[2] जवाहरलाल जी के घर में बहुत समय बाद एक कन्या ने जन्म लिया था। इस कन्या का नाम पिता ने प्रियर्दिशनी तथा दादी ने इन्दिरा रखा। माता कमला ने दोनों नाम मिलाकर प्रियर्दिशनी इन्दिरा कर दिया।[3]

जब बालिका इन्दिरा का जन्म हुआ उस समय भारत में स्वतन्त्रता की लहर चली हुई थी। मोतीलाल जी का सारा परिवार उसी लहर में बहने लगा।[4] इन्दिरा घर में अकेली रह कर पिता के पुस्तकालय से पुस्तकें पढ़ती रहती थीं।[5] जब वह छोटी

---

1. श्री.गु.गो.सि.च., 3.9
2. पुण्यात्मभिः सेवितमात्मवद्भिः सद्भिः सदाचारविचारवद्भिः।
   स्वर्गापवर्गस्य निमित्तभूतं प्रयागतीर्थं प्रथितं पृथिव्याम्।। –इ.गा.च., 1.9
3. एवं विवादे गमिते प्रशान्तिं लक्ष्मीस्वरूपाऽभिधेयन्दिरेति।
   गौराङ्गयष्टिः प्रियदर्शनात्वात्ख्याता बभूव प्रियदर्शिनीति।। –वही, 2.15
4. वही, 3.9
5. वही, 3.22

थी तभी द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ था। रूस की क्रान्ति, ब्रिटिश द्वारा भारतीयों से क्रूरता का व्यवहार, जलियांवाला बाग का नरसंहार इत्यादि अनेक घटनाएं घटी थी।[1] इन घटनाओं से दुःखी होकर सब कुछ छोड़ कर पिता-पुत्र दोनों ही आन्दोलनों में कूद पड़े तथा अनेक बार जेल गए।[2] कुछ समय बाद इन्दिरा का महात्मागांधी से सम्पर्क हो गया। वह सावरमती आश्रम में जाने लगी।[3] जवाहरलाल नेहरु जब जेल जाते तो इन्दिरा उनसे मिलने जाया करती।[4] इन्दिरागांधी ने कांग्रेस की सदस्यता लेनी चाही पर बालिका होने के कारण उनको सदस्यता नहीं मिली।[5] वह रुकी नहीं अपितु उन्होंने छोटे बच्चों का एक संगठन बनाया, जो वानर सेना के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[6] इसी बीच कमला जी बीमार हो गईं। पहले उन्हें जर्मनी ले जाया गया[7] तथा बाद में वहाँ से स्विट्जरलैंड गईं।[8] कुछ समय बाद कुछ ठीक होने पर वे भारत आई और आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगीं। एक दिन किसी कॉलेज में आन्दोलन के समय वह बेहोश होकर गिर गईं।[9] वहाँ के एक छात्र ने आगे चलकर जिसके नाम का पता चला कि वह फिरोजगान्धी है उन्हें घर पहुँचाया।[10] उस दिन से उसका उस नेहरू परिवार में आना जाना हो गया।[11] जब इन्दिरा तथा फिरोज गान्धी वहाँ थे उसी समय दोनों में प्रेम अङ्कुरित हो गया।[12] दोनों के विवाह की बात चली। जवाहर लाल नेहरू द्वारा विवाह का विरोध करने पर भी महात्मागान्धी के कहने पर मार्च 1941 में दोनों का विवाह हो गया।[13] तब इन्दिरा फिरोज गान्धी से परिणीत होने से इन्दिरागान्धी कहलाई। 1942 के आन्दोलन की एक सभा में इन्दिरा गांधी के ऊपर लाठियों की

---

1. इ.गा.च., 5.5-11
2. वही., 6.5
3. वही, 7.1; 5; 6
4. वही, 7.24
5. वही, 8.5-8
6. वही, 9.14
7. वही, 10.3
8. वही, 10.17
9. वही, 11.3-4
10. वही, 11.8; 15
11. वही, 11.10
12. वही, 11.20
13. वही, 15.18-20

वर्षा हुई।[1] फिरोजगान्धी भी यह देखकर आन्दोलन में कूद पड़े और दोनों को एक बार जेल जाना पड़ा।[2]

अनेक विरोधों के चलते भी भारत का विभाजन कर दिया गया। 15 अगस्त सन् 1947 में दोनों देश अलग-अलग हो गए।[3] भारत के पहले प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरु चुने गए।[4] इन्दिरा जी को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया।[5] इस बीच चीन ने आक्रमण कर दिया जिससे जवाहरलाल नेहरू को अत्यधिक कष्ट हुआ। वे इसका सदमा सहन न कर सके और इसी कारण स्वर्ग सिधार गए।[6] उसके बाद श्रीलालबहादुरशास्त्री प्रधानमन्त्री बने जो 18 महीनें इस पद पर रहे।[7] उसके बाद इन्दिरा गांधी प्रधानमन्त्री बन गई।[8] कांग्रेस में कुछ मतभेद हुआ और वह दो भागों में विभक्त हो गई। इन्दिरा जी वाली कांग्रेस (कांग्रेस आई) कहलाई।[9]

इन्दिरा जी के दो पुत्र थे जिनका नाम राजीव एवं संजय था।[10] राजीव का विवाह सोनिया से हुआ।[11] उनकी एक पुत्री प्रियंका एवं एक पुत्र राहुल है।[12] संजय का विवाह मेनका से हुआ[13] और उनका एक पुत्र वरुण है।

इन्दिरा जी के प्रधानमन्त्रित्व में ही बंगला देश का स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु पाकिस्तान के साथ युद्ध हुआ। बंगला देश स्वतन्त्र देश बना।[14] 1976 में इन्दिरा जी के प्रयास से दोनों देशों हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में समझौता हो गया।[15] इन्दिरा जी के समय में अनेक कार्य हुए। इन कार्यों को देखकर इन्दिरा जी को 1971 में भारत रत्न की

---

1. इ.गा.च., 17.10-18
2. वही, 18.9
3. वही, 19.15
4. वही, 19.22
5. वही, 20.28
6. वही, 21.2-3
7. वही, 21.14
8. वही., 21.19-20
9. वही, 21.46
10. वही, 22.6;9
11. वही, 22.20
12. वही, 22.24
13. वही, 22.21-22
14. वही, 23.43
15. वही, 24.20-26; 43-44

उपाधि दी गई।[1] इस काव्य की प्रधान पात्र इन्दिरा गांधी होने से वही इसकी नायिका हैं। देशभक्ति से ओत-प्रोत होने से यह भाव प्रधान काव्य है।[2] प्रसाद गुण की प्रधानता एवं सुन्दर प्रवाहमयी शैली इसकी विशेषता है। प्रयाग वर्णन, शान्तिनिकेतन वर्णन, इन्दिरा-फिरोजगान्धी वर्णन आदि अनेक वर्णन इसके इसी शैली में है। उदाहरण के रूप में प्रयाग वर्णन के गङ्गा यमुना के सङ्गम के प्रसंग से निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत है-

यत्र स्फुटं भाति विभिन्नरूपं गाङ्गं जलं यामुनमेव चापि।
श्यामासु शुभ्राः शशिनः प्रविष्टाः पादा यथा सान्द्रवनस्थलीशु।।[3]

शब्दालंकारों में अनुप्रास[4] तथा यमक[5] का सौन्दर्य अपनी विशेषता लिए है। अर्थालंकारों में कवि द्वारा अर्थान्तरन्यास के प्रति विशेष प्रेम दिखाया गया है। जिसके कारण अल्प शब्दों द्वारा विशेषार्थ के प्रतिपादन की प्रवृत्ति काव्य में अतिशय सौन्दर्य बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई है।[6]

घटना प्रधान होने पर भी इसमें प्रकृति के सुन्दर वर्णन देखे जा सकते हैं। एक स्थान पर स्विट्जरलैंड का मनोहारी वर्णन मन को हरने वाला है जैसे-

अकृष्टपच्यं खलु यत्र सस्यं रम्यास्तथा शाद्वलभूमिभागाः।
पूर्णाः फलानां तरवोऽतिनम्रा उद्यानजातानि समृद्धिमन्ति।।[7]

इस काव्य की अपनी यह विशेषता है कि 'इन्दिराचरितम्' नामक इस काव्य की समाप्ति कवि ने स्वोपज्ञ काव्य इन्दिरागान्धी पर है इसलिए उसका नाम इन्होंने इन्दिरा रख दिया। यथा-

काव्यमेतदिन्दिरेति, वृत्तबोधकं बुधाः।
एति साम्प्रतं समाप्तिमीश्वरानुकम्पया।।[8]

---

1. इ.गां.च., 24.55
2. सा.द., 360
3. इ.गां.च., 1.12
4. पित्रा मात्रा पितृष्वसृभ्यामन्यैश्च पिताहमाद्यैः स्वः............। -वही., 9.23
5. अथ जन्म यदाऽभवच्छुभ मदसीयं विविधास्तदाऽभवन्।
घटना घटनापटोर्विधे र्विविधं चेष्टितमत्र लक्ष्यते।। -वही, 5.1
6. अत्यल्पकालेन बभूव तस्य यशो विशुभ्रं प्रथितं पृथिव्याम्।
अतः श्रिया तं युयुजे मुदा श्रीर्भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।। - वही, 1.17
7. वही, 10.19
8. वही, 25.90

4. शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति

यह एक शतक हैं। इसमें डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने अपनी जर्मन यात्रा का वर्णन किया है। मैक्समूलर ने जर्मनी के लिए संस्कृत शब्द शर्मण्य का प्रयोग किया था। उसे ही डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने अपना लिया।[1] जब वे 1975 में यूरोपीय यात्रा पर गए तब उन्हें जर्मनी जाने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ।[2] वहाँ से लौट कर दिल्ली आने पर उन्होंने अपनी वहाँ की यात्रा का वृत्तान्त लिखा। इसके लिखने का प्रयोजन केवल मात्र यात्रा-वर्णन ही नहीं था अपितु भारत और जर्मनी के बीच विद्यमान मैत्रीभाव तथा सद्भाव पूर्ण सम्बन्धों को रेखांकित करना भी था।[3] उन्होंने जो जर्मनी में देखा एवं अनुभव किया, उसका ज्यों का त्यों संस्कृत में वर्णन काव्यमय अलङ्कृत शैली में कर दिया।[4] इस यात्रा में उनका पहला पड़ाव फ्रांकफुर्त (अंग्रेजी उच्चारण फैंकफर्ट) था जहाँ 18 जून 1975 को वे पहुँचे[5] थे और वहाँ के एक होटल में ठहरे।[6] उसके बाद वे गॉतिंगन-बान्,[7] हाइडलबर्ग[8] तथा ट्यूबिंगन[9] इत्यादि स्थानों पर गए। श्तुतगर्त के पास के श्याम वन (ब्लैक फ़ारेस्ट) का मनोहर वर्णन किस पाठक के मन को नहीं मोह लेता। प्रतीत होता है कि, पाठक उसी वन के बीच में बैठा है–

झरैश्च रम्यैरनुनादितानि सुखं गवाध्यासितशाद्वलानि।
जलप्रवाहैः परिशोभितानि स्रोतस्विनीभिश्च विभूषितानि।।[10]

इस काव्य में कवि ने सर्वत्र वैदर्भी रीति तथा प्रसाद गुण को ही अपनाया है। जैसे–

देवो यतस्तत्र भृशं प्रवृष्ट आसीत्ततः शष्पसमावृता भूः।
कुल्या अभूवंश्च जलस्य पूर्णाः ते ते विशेषाश्च विशेषदृश्याः।।[11]

---

1. श.दे.सु.वि., पृ.1
2. वही, 3
3. वही, 96-97
4. एवंविधेऽहं स्थितिमाकलय्य शर्मण्यदेशे जगति प्रसिद्धे।
   यद् दृष्टवान् वा श्रुतवानथो वा तदेव गीर्वाणगिरोद्गिरामि।। -वही, 11
5. वही, 12
6. वही, 13
7. वही, 27-41
8. वही, 54-55
9. वही, 59
10. वही, 90
11. वही., 18

अनुप्रास की छटा तो काव्य में देखने को बनती है। अर्थालङ्कार में उपमा का भी बडा सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है। जैसे–

चकास्ति तत्रैव महाविशालं शालद्रुमाकारवदभ्रचुम्बि।
द्वात्रिंशता भूमिवरैरुपेतं भालं पुरस्येव नितान्तशोभि।।[1]

इसमें विद्यमान शालवृक्ष की उन्नति कालिदास के रघुवंश में वर्णित शालवृक्ष की याद दिलाता है।[2] कवि ने यह काव्य केवल मात्र लोक कल्याण की कामना से ही लिखा है–

लघुयात्राप्रसङ्गो ऽयमुपसंह्रियतेऽधुना।
विदधातु समेषां नः शिवतातिः शिवं शिवः।।[3]

लघु काव्य होने पर भी भाव, भाषा और सौन्दर्य की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि जर्मन देशीय भी इसका पूर्ण आनन्द उठा सकें इस दृष्टि से श्रीमती तथा श्री इकलेर ने जर्मन भाषा में इसका अनुवाद भी कर दिया।[4] बाद में जर्मन रेडियो से क्रमशः इसका प्रसारण भी होता रहा।

5. थाईदेशविलासम्

यह एक खण्डकाव्य है। जब डॉ० सत्यव्रतशास्त्री थाईलैंड के बैंकाक शहर में चुलालौङ्कौर्न विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक थे, तब इन्होंने इस काव्य की रचना की थी। इसमें 120 पद्य हैं। इसकी कथावस्तु थाईदेश के इतिहास पर आश्रित है। जिसे कवि ने कविता द्वारा एक सुन्दर नवीन रूप प्रदान किया है।[5] काव्य के प्रारम्भ में कवि ने थाईलैंड के प्रारम्भिक नाम एवं वहाँ की राजवंशावली का वर्णन इस प्रकार किया है–

शयामेति नामातिपुराणमस्य ख्यातं पुराणादिषु यद्विहाय।
थाईतिजात्यध्युषितत्वहेतोर्यं थाईलैण्डं कथयन्ति लोकाः।।[6]

---

1. श.दे.सु.वि., 46
2. रघु., 1.13
3. श.दे.सु.वि., उत्तरपीठिका-100
4. Use den Sanskrit übersetzt. Von Dri Thond I. Ickler. -वही, पृ. 38
5. था.दे.वि. श्लो.1
6. वही, श्लो.2

थाईदेश में विशेषरूप से बौद्ध धर्म का चलन है। अतः यहाँ सर्वत्र भगवान् बुद्ध के मन्दिर एवं बौद्ध भिक्षु दिखाई देते हैं जैसे–

शान्ताकृतेः शाक्यमुनेरपूर्वां मूर्तिं शुभां मारकतीं दधाना।
भक्तैर्भृता सन्ततमेव सद्भिर्विराजते यत्र विहारभूमिः।।[1]

थाईलैंड की पहचान इसकी प्राकृतिक छटाओं के लिए है। विश्व मानचित्र में थाईलैंड मानों प्रकृति की गोद में ही स्थित है। पत्तया नामक सामुद्रिक पुलिन (Sea-Beach) का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि–

यद् द्रष्टुमापतति सर्वत एव लोको
यद्रामणीयककथाश्रुतिसम्प्रणुन्नः।
यत्सैकते विलुठितुं च मुदाभिलष्य-
त्यन्यच्च सर्वमपि विस्मरति प्रसन्नः।।[2]

थाईदेशविलासम् में स्थानीय राजवंश विशेषकर वर्तमान चक्रीराजवंश के राजाओं का वर्णन कर कवि ने अपनी ऐतिहासिक विद्वत्ता का परिचय दिया है, जैसे–

भूतानि पञ्चेव चकाशिरेऽत्र पञ्च प्रसिद्धा भुवि राजवंशाः।
निवेशयामास पुरीमिमां श्रीरामाधिबद्याख्यनृपो मनोज्ञाम्।।[3]

थाईलैंड के प्रत्येक नगर तथा गांव में भारतीय संस्कृति का प्रभाव देखा जा सकता है।[4] थाईलैंड भारतीय संस्कृति का ऋणी है। भारतीय संस्कृति का वहाँ इतना प्रभाव है कि न केवल प्रजा अपितु राजा भी इससे प्रभावित हैं। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री उसी का वर्णन करते हुए लिखते है कि–

रामेति नामात्मनि सन्दधाति राजाऽत्र रामात्प्रति राजमानः।
श्रीरामवत्संश्रयते च वृत्तं श्रीरामवच्चापि जनान् प्रशास्ति।।[5]

इतना ही नहीं कि वहाँ की जनता राम और सीता के विषय में ही जानती हो अपितु भारतीयों में मान्य ब्रह्मा इत्यादि देवताओं के भी वहाँ बहुत से मन्दिर आज भी विद्यमान हैं।[6] थाईदेश का लक्षण करते हुए डॉ० सत्यव्रतशास्त्री लिखते हैं कि थाईदेश

---

1. था.दे.वि., श्लो.19
2. वही, श्लो.101
3. वही, श्लो.79
4. वही, श्लो.3-4
5. वही, श्लो.10
6. वही, श्लो.12

अपने धर्म, राष्ट्र, राजा तथा संस्कृति पर स्थित है।[1] इतना होने पर भी वहाँ यत्र-तत्र जो कलाकृतियां हैं उन पर तथा जो लोकनृत्य है, उस पर एवं अन्य स्थानों पर भी हिन्दू-संस्कृति एवं रामायण-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दखाई देता है।[2] काव्य की दृष्टि से यह एक सरल एवं सरस काव्य है। इसमें प्रसाद गुण से गुम्फित भाषा अपनाई गई है। जैसे-

गायन्ति लोकाः किल गीतकानि शौर्यस्य ताक्सिन्नृपतेर्बहूनि।
येन स्वदेशः परतन्त्रताया उन्मोचितो बन्धनतो बलेन।।[3]

पदलालित्य तो इस काव्य की अपनी विशेषता है। एक ही पद्य में अनुप्रास के सभी भेद पदलालित्य को प्रकट करते दिखाई दे रहे हैं। जैसे-

रामेति सीतेति सुदारुकेति शोभेति शान्तीति वरेति वापि।
नामानि रम्याणि जन दधानो हर्षप्रकर्षं हृदि वषतीह।।[4]

यत्र-तत्र उपमा के सुन्दर प्रयोग कालिदास की कला का स्मरण कराते हैं। जैसे-

देशस्य तस्यास्ति भृशं विशाला कण्ठे भुवः शुभ्रतरेव माला।
ऐश्वर्यसौन्दर्यविलासधानी बैंकांकनाम्नी खलु राजधानी।।[5]

वर्णनात्मक काव्य होने से कवि को यत्र-तत्र प्राकृतिक दृश्यों तथा स्थलों का वर्णन करने का पूर्ण अवसर मिला है। जैसे-

अकृष्टपच्यं बहु यत्र सस्यं रम्यास्तथा शाद्वलभूमिभागाः।
मन्दं प्रवान्तश्च यदीयवाता आगन्तुकानां रमयन्ति चेतः।।[6]

इस खण्डकाव्य में चक्रीवंश के राजाओं का वर्णन होने पर भी इसे एक वर्णनात्मक काव्य ही माना जायेगा।

6. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री द्वारा रचित इस महाकाव्य की कथावस्तु थाईलैंड की रामकथा

---

1. धर्मो राष्ट्रं च राजा च चतुर्थी संस्कृतिस्तथा।
   एतच्चतुष्टयं प्राहुः थाईदेशस्य लक्षणम्।। था.दे.वि., श्लो.61
2. वही, श्लो.113
3. वही, श्लो.64
4. वही, श्लो.11
5. वही, श्लो.13
6. वही, श्लो.4

पर आधारित है।[1] इस कथावस्तु का आधार जहाँ एक ओर थाईदेश पर शासन करने वाले चक्रिकुल के राजवंशीय प्रथम पुरुष बुद्धयोद् नामक विद्वान् द्वारा लिखित राम कथा है वहाँ दूसरी ओर उस समय प्रचलित लोक कथाएं है।[2] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री अनेक वर्षों तक किसी न किसी पदवी पर थाईलैंड में रहे। वहाँ रहते हुए उन्होंने वहाँ प्रचलित राम कथा को समझा और अपनी वैदुष्यपूर्ण कवित्त्व शक्ति से इसको काव्य रूप प्रदान कर दिया।[3]

अलौकिक एवं लौकिक घटनाओं से युक्त यह महाकाव्य एक श्रेष्ठ कृति है। इसकी प्रसिद्धि का मूल्याङ्कन इसी से किया जा सकता है कि 12 वर्षों के प्रकाशन में ही अब तक इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं तथा भारत की छः भाषाओं- कन्नड़, हिन्दी, असमिया, तमिल, तेलगू तथा गुजराती तथा विदेश की थाई एवं अंग्रेजी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

इस महाकाव्य में 25 सर्ग हैं। काव्य की कथावस्तु अशंत: ही वाल्मीकि रामायण से मेल खाती है। बहुत अंशों में वह उससे भिन्न है। इस महाकाव्य में राम के जन्म के विषय में कुछ भिन्नता से वर्णन है। हिरन्तयक्ष (हिरण्याक्ष) एक मायावी दानव था। पर्वतों पर वह रहता था। वहाँ देवताओं को दुःखी करता था।[4] दुःखी देवता भगवान् शङ्कर के पास गये और उन्होंने उन्हें अपना दुःख सुनाया।[5] भगवान् शङ्कर ने विष्णु का ध्यान किया[6] और भगवान् विष्णु उपस्थित हो गये। भगवान् शङ्कर ने उनसे उस राक्षस के विषय में चर्चा की थी। भगवान् नारायण (विष्णु) चक्रवाल पर्वत पर गये और उन्होंने उस राक्षस को युद्ध में मार दिया। उसे मार जब वे क्षीर-सागर में गये तो वहाँ उन्होंने कमलासन पर सोए हुए एक सुन्दर बालक को देखा। बालक को कैलास-पर्वत पर ले जाकर भगवान् शङ्कर को वे दे आए। शङ्कर ने उसका नाम अनोमतन् रखा। उसकी राजधानी अयोध्या थी।[7] अनोमतन् का बेटा दशरथ हुआ।

---

1. श्री.रा.की.म.का.,1.9
2. वही, 1.15-16, 23; 37
3. सू.सु., पृ.22
4. श्री.रा.की.म.का., 2.3
5. वही, 2.10
6. वही, 2.11-12
7. वही, 2.14-16

दशरथ के पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न हुए।[1] जब राम पैदा हुए उस समय लंका पर रावण का राज्य था। रावण का पहला नाम नन्दक था।[2] वह कैलास पर्वत पर रहता था। उसने भगवान् शङ्कर की उपासना करके वर मांगा कि मैं जिसको उंगली दिखाऊँ वह मर जाए। इस प्रकार वर प्राप्त करके वह देवताओं को सताने लगा। उसके द्वारा उंगली दिखाते ही देवता मरने लगे। देवताओं ने भगवान् विष्णु से प्रार्थना की।[3] भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर उसको मारा[4] और दशमुख सहित जन्म लेने का वरदान दे दिया।[5] वही नन्दक यह रावण था।[6] उसकी पटरानी मन्दोदरी थी। मन्दोदरी ने एक बार सुन्दर गन्ध सूंघी।[7] वह किन्हीं पिन्डों की थी। रावण ने उन पिन्डों को मंगवाया।[8] मन्दोदरी ने उनको खाया जिससे एक लड़की उत्पन्न हुई।[9] उसने पैदा होते ही तीन बार रावण की मृत्यु मांगी।[10] विभीषण ने यह बात सुनी और रावण से कहा कि यह राक्षस कुल की नाशक होगी।[11] रावण ने घड़े में रखकर उसे नदी में बहा दिया।[12] वह घड़ा बहता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ राजा जनक तपस्या कर रहे थे। जनक ने उसे पेड़ के नीचे दबा दिया और स्वयं तपस्या में लीन हो गए।[13] 16 वर्ष बाद उन्हें उस घड़े का ध्यान आया जमीन खुदवाई और घड़े को निकाला, उसमें से 16 वर्ष की एक कन्या निकली जिसका नाम सीता रखा गया।[14]

शेष कथा रामायण की कथा से मिलती-जुलती है, पर रामकीर्ति महाकाव्य की कथावस्तु थाईलैंड की लोक कथाओं तथा वहाँ लिखे गए नाटकों के आधार पर

---

1. श्री.रा.की.म.का., 3.20-23
2. वही., 4.3
3. वही, 4.8-9
4. वही, 4.13-16
5. वही, 4.18
6. स एव नन्दको नाम दशवक्त्रोऽन्यजन्मनि।
   अभवद् रामभद्रश्च प्रभुर्नारायणोऽभवत्।। -वही, 4.20
7. वही, 4.23
8. वही, 4.26
9. वही, 4.27
10. वही, 4.28
11. वही, 4.30
12. वही, 4.33
13. वही, 4.41
14. वही, 4.44; 49; 52

लिखी गई है। अत: इसमें वर्णित राम की कथा रामायण की कथा से कुछ भिन्न है। जो भिन्नता है, वह संक्षेप में इस प्रकार बताई जा सकती है। जैसे–

अनोमतन् की उत्पत्ति,[1] अयोध्या का नया नाम चार ऋषियों के आदि अक्षरों पर रखना,[2] अनोमतन् से राजा दशरथ की उत्पत्ति,[3] रावण के पूर्वजन्म की कथा,[4] तण्डुलपिण्डों को खाने से मन्दोदरी के गर्भ से कन्या की उत्पत्ति,[5] कन्या को घड़े में रखकर पानी में बहा देना,[6] तपस्या करते हुए जनक को उस घट का मिलना,[7] जनक द्वारा घट को दबा कर रखना, 16 वर्ष बाद राजा द्वारा हल का चलाना और कन्या का प्रकट होना उसी का नाम सीता था।[8] वानर की सेना द्वारा विभीषण को अपनी वीरता का प्रदर्शन कर दिखाना,[9] रावण का राम की सेना में साधु का वेश धारण कर राम की सेना का रहस्य जानने का यत्न करना[10] तथा राम को लड़ाई न करने का उपदेश देना।[11] हनुमान् का एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम असुरपाद् था।[12] जब पुल बांधा जा रहा था उस समय समुद्र में रावण की बेटी सुवर्णमत्स्या रहती थी। हनुमान् उसको मिलते हैं, उसका हनुमान् से प्रेम हो जाता है[13] और उससे हनुमान् का मच्छानु नाम का पुत्र पैदा होता है।[14] कुम्भकर्ण लड़ने जाता है, कुम्भकर्ण शक्ति फैंकता है और लक्ष्मण मूर्छित होता है।[15] यहाँ एक नई बात यह भी है कि रावण की आत्मा मुनि गौ–पुत्रक नाम के ऋषि के यहाँ पिंजरे में बन्द होती है। युद्ध में जब रावण किसी भी प्रकार नहीं मरता तभी इस रहस्य का पता चलता है। हनुमान् वहाँ से उस पिंजरे को

1. श्री.रा.की.म.का., 2.1
2. वही, 2.17
3. वही, 2.18
4. वही, 4.20
5. वही, 4.27
6. वही, 4.32
7. वही, 4.36
8. वही, 4.52
9. वही., 9.24,28
10. वही, 9.40
11. वही, 9.48
12. वही, 10.30
13. वही, 12.39–40
14. वही, 12.53
15. वही, 15.71

लाता है जिसमें रावण की आत्मा बन्द है। लड़ाई के समय श्रीराम द्वारा एक तीर रावण पर और एक तीर पिंजरे में बन्द आत्मा पर मारा जाता है। तब रावण का वध होता है।[1]

भारतीय परम्परा के अनुसार लोकापवाद के भय से राम सीता को त्यागते हैं पर श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में इसके विपरीत वर्णन है कि सुपर्णरवा की बेटी अपनी मां का बदला लेने के लिए सीता की सेविका बन गई।[2] उसने सीता से रावण का चित्र बनवाया। राम ने सीता से पूछा यह चित्र किसने बनाया। सीता ने कहा मैंने।[3] इससे राम को ईर्ष्या हो गई और उन्होंने लक्ष्मण को सीता को वन में ले जाकर मारने के लिए आदेश दिया।[4] लक्ष्मण वन ले गया पर उसको मार न सके।[5] सीता वन में वज्भृग के आश्रम में रहने लग गई। वहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम मंकुट रखा गया।[6] दूसरा पुत्र ऋषि द्वारा बनाया गया और उसका नाम लव रखा।[7] जब लव और मंकुट 10 वर्ष के थे उस समय राम ने अश्वमेध यज्ञ किया और यज्ञ का घोड़ा दोनों द्वारा पकड़ा गया, राम की ओर से कई उनसे लड़ने आए पर वे सभी हार गए तब राम आए, राम क्रोधित हुए और लव और मंकुट के पास ऋषि के आश्रम में पहुँचे।[8] मंकुट का राम के साथ युद्ध हुआ। उससे परिचय पूछा। उसने अपनी माता का नाम सीता बताया।[9] लव और मंकुट राम के साथ अयोध्या आ गए और सीता वहीं रही।[10] बाद में हनुमान जी के द्वारा राम का सन्देश सुनकर वह अयोध्या आ गई।[11] वहाँ से जब आश्रम जाने की बात कही तो राम ने उनको भवन में बन्द कर दिया।[12] सीता ने आँख बन्द करके प्रार्थना की, पृथ्वी फटी और वह पाताल लोक में चली गई। बाद में शंकर

---

1. श्री.रा.की.म.का., 17.51; 56-58
2. वही, 20.14-15
3. वही, 20.36
4. वही, 20.48
5. वही, 20.71
6. वही, 21.19
7. वही, 21.43
8. वही, 22.55-56
9. वही, 22.75
10. वही, 23.44
11. वही, 24.24
12. वही, 24.43

जी की आज्ञा से कैलाश में दैव संगत हुई और वहाँ राम के वियोग की चर्चा हुई। दोनों को देव-सभा में बुलाकर उन दोनों का मिलन करवाया गया।[1]

इस महाकाव्य के नायक श्रीराम हैं। उनमें धीरोदात्त के सभी गुण विद्यमान हैं।[2] सभी स्थानों पर प्रमुख रूप से वीर रस की प्रधानता है। अन्यत्र श्रृंगार रस गौण है। काव्य का प्रारम्भ इन्द्रवज्रा छन्द से है। समाप्ति प्रहर्षिणी छन्द से की गई है।

काव्य में उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास जैसे अलङ्कारों का भरपूर प्रयोग हुआ है। समय मिलने पर कवि प्रकृति-चित्रण करना भी नहीं भूलते। रावण का चरित्र भी प्रतिनायक के रूप में पूर्णत: प्रतिफलित है। इस प्रकार यह महाकाव्य कवि की उत्कृष्ट रचना है।

7. पत्रकाव्यम् (प्रथम भाग)

प्रतिभा के धनी, शब्द शास्त्र के निधि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने जहाँ एक ओर अनेकों महाकाव्यों की रचना की, वहीं दूसरी ओर पत्रात्मक-पद्धति द्वारा पत्रकाव्य जैसे साहित्य को लिख कर एक नई विधा को जन्म दिया। कवि का मानना है कि अंग्रेजी, पारसी इत्यादि साहित्य में तो पत्रात्मक रूप से या स्वयं किसी द्वारा डायरी के रूप में लिखा गया साहित्य प्राप्त है[3] पर संस्कृत में इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया। उन्होंने ने यह विधा अपनाई और लिखा कि संस्कृत के विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने के लिए पत्रात्मक जैसी काव्य विधा को मैं अपना रहा हूँ।[4] कवि का मानना है कि इस विधा से दो लाभ है। संस्कृत के विद्वानों का परिचय तथा संस्कृत वाङ्मय की वृद्धि।[5] इस तरह समय-समय पर विद्वानों के भेजे गए पत्रों का संग्रह रूप यह पत्रात्मक काव्य है।[6] कवि ने इन पत्रों को पाँच भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग जो पृष्ठ 3 से 173 तक है पत्र आत्म निवेदन के रूप में हैं। इनकी संख्या 173 है।[7] द्वितीय भाग में पृष्ठ 177 से 201 तक वे पत्र हैं जिन्हें कवि ने किसी के अभिनन्दन के लिए लिखा है। उनकी संख्या 27 है।[8] तृतीय भाग में वे पत्र हैं, जिन्हें

---

1. श्री.रा.की.म.का., 25.22
2. सा.द., 3.32
3. प.का., पृ. 263, श्लो. 22, 25
4. वही, पृ.264, श्लो. 26
5. वही, पृ.264, श्लो. 27-31
6. वही, पृ.264, श्लो.31
7. वही, पृ.3-173
8. वही, पृ.177-201

कवि ने या तो किसी अभिनन्दनोत्सव में, किसी की पदवी की प्राप्ति के उपलक्ष्य में अभिनन्दन के रूप में,[1] कॉलेज के अभिभाषण के रूप में[2] या अध्यक्षीय भाषण के रूप में[3] पढ़ा है। कुछ पत्र तो किसी उत्सव में[4] या प्रशस्ति रूप से पढ़े गए हैं।[5] चतुर्थ भाग में प्रकीर्ण पत्र हैं। अन्त में उपसंहार के रूप में 31 पद्य लिखे गए हैं।[6] पत्रों में सबसे छोटा एक पद्य का पत्र है, इसे श्यामलसुधा पत्रिका की प्रशंसा में लिखा गया है।[7] पत्र काव्य का प्रारम्भ कवि ने अपने पूज्य श्रीपितृचरण से आशीर्वाद लेने हेतु दो पद्यों में लिखा है।[8] अगले पत्र में पूज्य पिता जी से बाल्यकाल में की गई चपलताओं के लिए क्षमा मांगी हैं।[9] पत्र के रूप में सबसे छोटा पत्र पिता जी को तथा सबसे दीर्घ पत्र रमाकान्तशुक्ल के लिए लिखा गया है जिसमें 137 पद्यों में बैंकाक नगर में हुए सम्मेलन की चर्चा है।[10] कवि की विशेषता है कि जब वे पत्र लिखते हैं तो प्रतीत होता है कि सामने बैठे बातचीत कर रहे हैं।[11] संस्कृत के प्रति अनुराग होने के कारण विदेश में बैठे हुए भी डॉ० सत्यव्रतशास्त्री संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार की कामना करते हैं।[12] कवि का भारत–भूमि से कितना लगाव है। यह उनके पत्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है। विदेश में उन्हें चार महीने चार वर्ष के तुल्य प्रतीत होते है।[13] पृथक्–पृथक् समय में लिखे गए इन पत्रों में तत्कालीन सामाजिक,[14] राजनैतिक,[15] सांस्कृतिक,[16] धार्मिक,[17] आर्थिक[18] वर्णन कवि ने कम शब्दों में विस्तार से किया है।

1. प.का., पृ.208–212
2. वही, पृ.213–222
3. वही, पृ.223–225
4. वही, पृ.226
5. वही, पृ.231–258
6. वही, पृ.259–264
7. वही, पृ.231
8. वही, पृ.3, श्लो.1
9. वही, पृ.3, श्लो. 2
10. वही, पृ.128–149
11. वही, पृ.24, पत्र सं. 2
12. वही, पृ.193, श्लो. 6
13. वही, पृ. 73, श्लो.8
14. वही, पृ.132.,श्लो. 36–40
15. वही, पृ.243 श्लो. 4.8
16. वही, पृ.37 श्लो. 9–11
17. वही, पृ.150 श्लो.4
18. वही, पृ. 243 श्लो.6

यद्यपि ये पत्र है तो भी रसालङ्कारादि के संयोग से ये काव्य की कोटि में प्राप्त है। कवि ने ठीक ही इसका नाम पत्रकाव्य रखा है। कवि ने दोनों प्रकार के अलंङ्कारों के प्रयोग से अपनी कृति को सजाया है। अनुप्रास तो इसमें है ही यमक का भी प्रयोग कहीं-कहीं देखने को मिलता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है-

रुचिराकृतिभिः कृतिभिः कृतिभिः
परिपुष्टतमाभिरलङ्कृतिभिः।
कृतमस्ति विलक्षणबुद्धिगुणै
रुचिरं कविकर्म भवद्भिरिदम्।।[1]

अपने एक शिष्य के परिवार जनों के नामों को प्रसङ्गान्तर में पद्य में निबद्ध कर कवि ने अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया हैं। शिष्य का नाम है कृष्णलाल। शशी उनकी पत्नी है। उर्वी उनकी पुत्री है और विभु पुत्र।

उदाहरण-

'उर्वी' विशाला 'विभु' चापि विश्वं
मार्गा अनेके वितता इह स्युः।
'कृष्णे'ऽन्धकारेऽपि भवेयुरेत-
द्विधाः प्रयत्नाः 'शशि' तुल्यरूपाः।।[2]

अपने एक मित्र के पत्र की प्राप्ति के कारण अपने हृदय में उछालें मारते हुए हर्षोत्कर्ष की पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा की किरणें पडने के कारण उछालें मारते हुए समुद्र के जल से तुलना कर उन्होंने उपमा का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है।

उदाहरण-

प्राप्तेन रम्येण भवद्-दलेन
हर्षप्रकर्षो हृदि मे न माति।
पयः पयोधेरिव पूर्णिमायां
शीतांशुरश्मिप्रकरप्रणुन्नम्।।[3]

ऐसा ही एक पत्रकाव्य उन्होंने थाई देश की राजकुमारी के जन्मदिन पर विशेष रूप से भेजा था।[4]

---

1. प.का., पृ.23, श्लो. 6
2. वही, पृ.28, श्लो. 10
3. वही, पृ.35, श्लो. 1
4. वही., पृ.97, श्लो. 3

8. पत्रकाव्यम् (द्वितीय भाग)

2009 में पत्रकाव्य का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ है जिसमें 146 पत्र है। वर्गीकरण की दृष्टि से देखा जाये तो प्रायः उन्हें इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है।

1. व्यक्तिगत पत्र
2. व्यवहारिक पत्र
3. कार्यालय सम्बन्धी पत्र अथवा प्रार्थना पत्र
4. व्यवसायिक पत्र
5. प्रशासनिक पत्र
6. शास्त्रीय पत्र

परन्तु डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के पत्रों का वर्गीकरण किया जाये तो इन्हें व्यक्तिगत, व्यवहारिक और शास्त्रीय पत्रों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 26-12-1995 को डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने उपजाति छन्द के माध्यम से काव्यक्रिया एवं शास्त्रविवेचन में निरन्तर अपना जीवन व्यतीत करने वाले होश्यारपुरस्थित प्रो. सेमवाल जी को निरन्तर जीवन में सुख एवं सिद्धि (यश) प्राप्ति के लिए आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि-

काव्यक्रियायां नितरां प्रसक्तो
रक्तस्तथा शास्त्रविवेचनायाम्।
वार्धक्यकाले वपुशा कृशोऽपि
सुखेन कालं व्यतियापयामि।।[1]

अन्यत्र-

याचे तदर्थं भवतः शुभेच्छां
तयैव सिद्धिः परमा भवेन्मे।
इत्येव सर्वं विनिवेद्य सत्सु
वाचं स्वकीयामुपसंहरामि।।[2]

इसी प्रकार 15.3.2003 को पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला के तत्कालीन

---

1. प.का., द्वि.भा., श्लो. 3
2. वही, श्लो.5

अध्यक्ष डॉ० इन्द्रमोहन सिंह को काव्यशास्त्र के सिद्धान्त[1] और प्रयोग विषय पर आयोजित राष्ट्रिय-संगोष्ठी के अवसर डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने अनुष्टुप्, मालिनी, उपजाति आदि छन्दों में 65 पद्यों वाला एक पत्र भेजा था जिसमें काव्य की महिमा के विषय में बताते हुए डॉ० सत्यव्रतशास्त्री लिखते हैं कि सर्वप्रथम काव्य प्रणयन होता है तदनन्तर उसका विवेचन किया जाता है। सभी काव्यों के विषय में यही स्वभाविक प्रकिया है-

> पूर्वं काव्यप्रणयनं ततस्तस्य विवेचनम्।
> समस्तेश्वपि काव्येषु ह्येष स्वाभाविकः क्रमः।।[2]

काव्यसिद्धान्तों को हृदय में रखकर कवि काव्य करने में प्रवृत्त नहीं होते अपितु जिस प्रकार पर्वत से झरना बह निकलता है, उसी प्रकार काव्य भी स्वाभाविक रूप से उद्भावित होता है। काव्यकारों की यह प्रक्रिया नहीं है कि पहले पदों के बारे में विचार करें कि कौन सा पद कहां प्रयोग करना है और फिर उनका प्रयोग करें। जैसे-

> न काव्यशास्त्रसिद्धान्तान् हृदि कृत्वा मनस्विनः।
> तेषां सम्यक् प्रयोगार्थं वर्तन्ते काव्यकर्मणि।।
> काव्यं स्वतः प्रस्फुटति गिरेर्निर्झरिणी यथा।
> न विचिन्त्य पदान्यत्र काव्यकाराः प्रयुञ्जते।।
> अतो हेतोः प्रसिद्धेयमुक्तिः सत्सु विवेकिषु।
> कविः करोति काव्यानि स्वादं जानन्ति पण्डिताः।।[3]

शब्द सामर्थ्य की चर्चा करने से पूर्व डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने शब्दपाकविषयक शास्त्रीय पक्ष भी उद्धृत किया है। उन्होंने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति के प्रणेता शब्दपाक के सन्दर्भ में वामनाचार्य के मत को उद्धृत किया हैं:-

> यत्पदानि त्यजन्तयेव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
> तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।।[4]

जो पद परिवर्तन की सहिष्णुता को छोड़ देते हैं वही शब्दपाक कहलाता है।

---

1. काव्यशास्त्रीयसिद्धान्तविमर्शनपरायणा।
   या समायोज्यते गोष्ठी तत्कृते मे शुभाशिषः।। प.का., श्लो.12, पृ.116
2. वही, श्लो.19, पृ.116
3. वही, श्लो. 20,21,22, पृ.116-117
4. वही, श्लो. 27, पृ.117

महाकवियों की वाणी में सर्वत्र शब्दपाक ही है तथापि स्थालीपुलाक न्याय से यहाँ उन्हीं पदों को विशेषतः उद्धृत किया जा रहा है, जहाँ शब्दपाक विशेष रूप से अवलोकनीय हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने कालिदासकृत रघुवंश महाकाव्य के द्वितीय सर्ग के प्रथम पद्य को उद्धृत किया है।

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिगाहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच।।[1]

उपर्युक्त पद्य में वर्णित अथ, जाया, पीतप्रतिबद्धवत्सा और धेनु शब्दों को डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने शब्दपाक की दृष्टि से विवेचित किया है जैसे–

अथ–

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री अनुसार 'अथ' शब्द से महाकवि कालिदास ने सर्ग का प्रारम्भ किया है। 'अथ' शब्द मंगलवाचक है और जो स्वयं ब्रह्म के कण्ठ से उद्गीर्ण हुआ है।[2] मंगलवाची अथ शब्द से यही अर्थ प्रतीत होता है कि इस सर्ग में मंगलकार्य होंगे। वसिष्ठऋषि की गाय की सेवा में रत राजा दिलीप को तनयलाभ होगा यह अर्थ भी 'अथ' शब्द अभिव्यंजित करता है।

धेनु–

उपर्युक्त पद्य में वर्णित धेनु शब्द सामर्थ्य को विवेचित करता है। धेनु "धयति सुतान् धीयते वत्सैर्या सा धेनु" इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से वत्स से युक्त गाय के लिए प्रयुक्त होता है।[3] इस अर्थ को डॉ० सत्यव्रत ने इस प्रकार विवेचित किया है।

तथा गवार्थे कविना प्रयुक्तः पद्येऽनवद्योऽत्र हि धेनुशब्दः।
गावं सवत्सां विबुधा वदन्ति धेनुं, न सामान्यतयाऽस्ति सा गौः।।[4]

अतः कालिदास ने 'पीतप्रतिबद्धवत्सा' विशेषण से युक्त नन्दिनी गाय के लिए गौ शब्द का प्रयोग न करके धेनु शब्द का प्रयोग किया है, जो औचित्यपूर्ण है।

पीतप्रतिबद्धवत्सा

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री अनुसार पीतप्रतिबद्धवत्सा शब्द भी व्यंग्यार्थक है क्योंकि

1. रघु., 2.1, प.का., श्लो. 37
2. प.का., श्लो.38
3. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 502
4. प.का., श्लो. 41

जो स्वयं वत्स से युक्त है वह नन्दिनी गाय वात्सल्यपूर्ण कैसे नहीं होगी यहाँ वत्स शब्द की उपस्थिति से यह अर्थ अभिव्यंजित होता है कि राजा दिलीप के पुत्र प्राप्ति होगी। डॉ० सत्यव्रत ने इस विषय में लिखा है–

धेनोः सवत्सत्ववशादमुष्या नृपे भवेदेव हि वत्सहीने।
कारुण्यबुद्धिः सहजैव, विद्यात् सा निश्चितं तन्मनसो व्यथां नु।।[1]

जाया–

"जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्" में कालिदास द्वारा प्रयुक्त जाया शब्द भी उनकी साधुपदप्रयोग में सूक्ष्म दृष्टि को अभिव्यक्त करता है।[2] यहाँ पर पत्नी शब्द का प्रयोग भी हो सकता था "पत्नीप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्"।[3]

पत्नी शब्द के प्रयोग से पद्य में अनुप्रास अलंकार का लाभ हो सकता था और यह पद मधुर भी प्रतीत होता है तथापि महाकवि ने 'पत्नी' शब्द को छोड़कर "जाया" शब्द प्रयोग किया। डॉ० सत्यव्रत के अनुसार जाया शब्द पुत्रवती स्त्री के लिए प्रयोग होता है। नन्दिनी धेनु की सेवा से राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा को पुत्र लाभ होगा, इस आगामी घटना को विभावित करके कवि ने जाया पद का प्रयोग किया है जो उनके शब्द सामर्थ्य को प्रकट करता है।[4]

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवियों की वाणी में प्रतिभाप्रसूत अद्‌भुत शक्ति होती है। डॉ० सत्यव्रत कहते हैं कि मैंने संकेत रूप में यहाँ शब्द सामर्थ्य को निर्देशित किया है, इसके अनेक उदाहरण वाङ्मय में मिल जाते है। जहाँ कालिदास की शब्द शक्ति अप्रतिम है वहाँ उसके अन्वेषण की परम्परा को उद्‌घाटित करके डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने पत्र काव्य को शास्त्रीय रूप देते हुए इस विधा को ओर अधिक सशक्त बनाया है। कालिदास एक ऐसे कवि हैं जिनका शब्द प्रयोग अपरिवर्तनीय है। महाकवि जिस शब्द का प्रयोग क़रते हैं उसको परिवर्तित नहीं किया जा सकता। कालिदास द्वारा प्रयुक्त जाया आदि शब्द इसी कोटि में आते हैं।

अतः नवीन काव्य परम्परा के सृजन की दृष्टि से पत्रकाव्यम् एक ऐसे करदीप

---

1. प.का., श्लो.45
2. वही, श्लो.46
3. वही, श्लो.47
4. वही, श्लो.51

की तरह है जिसे आधार बनाकर नवीन लेखक इस क्षेत्र को और आगे ले जा सकते हैं तभी लेखक का प्रयास पूर्णरूप से सफल समझा जाएगा।

9. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् डॉ० सत्यव्रतशास्त्री जी का प्रथम महाकाव्य है। जिसके 14 सर्गों में बोधिसत्त्व (भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म का नाम) के अवदानों (कथाओं) को वर्णित किया गया है। बोधिसत्त्व का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है-पूर्णरूपेण बुद्धत्व (ज्ञानबोध) की अवस्था से पूर्व में स्थित भगवान् बुद्ध का सत्त्व (आत्मा)। काव्य में जातकों में उपलब्ध भगवान् बुद्ध के विविध अवदानों को परिष्कृत करते हुए सुन्दर काव्यशैली का रूप दिया है। इसका अत्यधिक विस्तार द्वितीय अध्याय में दिया गया है।[1]

उपर्युक्त काव्य-महाकाव्यों के अतिरिक्त सारस्वत साधना में लीन डॉ०सत्यव्रत-शास्त्री की लेखनी का परिचय वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, भाषा-विज्ञान, साहित्य, दर्शन आदि अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना से मिलता है। आलोचनात्मक ग्रन्थ के रूप में आपने 6 ग्रन्थों की रचना की जो इस प्रकार अंकित की गई है।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

(i) Essay on Indology.[2]
(ii) The Rāmāyana - A Linguistic study.[3]
(iii) Studies in Sanskrit and Indian Culture in Thiland.[4]
(iv) Kālidāsa in Modern Sanskrit Literature Poetry.[5]
(v) New Experiments in Kālidāsa : Plays.[6]
(vi) Chanakyaniti[7]

इसके अतिरिक्त आपकी ओर भी अनेक रचनायें प्रकाशित हुई हैं जिसका वर्णन निम्न प्रकार से है-

---

1. द्र. प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय।
2. Meharchand Lacchmandas, Delhi, 1963.
3. Munshiram Manoharlal, Delhi, 1964.
4. Parimal Prakashan, Delhi, 1982.
5. Eastern Book Linkers, Delhi, 1991.
6. Eastern Book Linkers, Delhi, 1994.
7. Bharatiya Vidya Mandir, Kolkata, 2013.

(i) Discovery of Sanskrit Treasures, Grammar & Linguistics, Volume-I.[1]

(ii) Discovery of Sanskrit Treasures, Epic & Purans, Volume-II.[2]

(iii) Discovery of Sanskrit Treasures, Classical Sanskrit Literature, Volume-III,[3]

(iv) Discovery of Sanskrit Treasures, Modern Sanskrit Literature, Volume-IV.[4]

(v) Discovery of Sanskrit Treasures, Philosophy and Religion, Volume-V.[5]

(vi) Discovery of Sanskrit Treasures, South East Asian Studies, Volume-VI.[6]

(vii) Discovery of Sanskrit Treasures, Society and Culture, Volume-VII.[7]

(viii) Sanskrit based Words in South-East Asian Languages.[8]

(ix) Sanskrit Studies- New Prespectives.[9]

इन प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त डॉ० सत्यव्रतशास्त्री का निम्नलिखित योजनाओं पर कार्य चल रहा है–

1. Studies in the Language and the Poetry of the Yogavaśiṣṭha.
2. Ram Story in South East Asia.
3. Sanskrit inscription on Thailand.

---

1. Yash Publications, Delhi, 2006.
2. Yash Publications, Delhi, 2006.
3. Yash Publications, Delhi, 2006.
4. Yash Publications, Delhi, 2006.
5. Yash Publications, Delhi, 2006.
6. Yash Publications, Delhi, 2006.
7. Yash Publications, Delhi, 2006.
8. Somaiya Vidya Vihar, Mumbai, 2005.
9. Vijaya Books, Delhi, 2009.

(x) "**भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र**" शीर्षक से आत्मकथा का प्रणयन किया जिसका नाम है-"**दिने-दिने याति मदीय जीवितम्**"[1] जो कि संस्कृत वाङ्मय की पहली डायरी है। पत्रकाव्यम् की तरह इस रूप में भी इन्होंने संस्कृत में नई विधा का प्रवर्तन किया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने ए.ए. मैक्डानल द्वारा रचित "Vedic Grammar for Students" का हिन्दी अनुवाद करके अनुवाद करने की शैली को एक नई दिशा प्रदान की। आपने '**सुभाषित साहस्री**'[2] नामक ग्रन्थ में संस्कृत-साहित्य के बहुत ही सुन्दर सारगर्भित 1000 सुभाषितों को एकत्रित कर उनका हिन्दी और अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत कर संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी तीनों भाषाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य दिखाते हुए, सहृदयों के हृदय को इस भाषा-त्रिवेणी में रसाप्लावित किया। गतशताब्दी के संस्कृत महाकवि श्रीनित्यानन्दशास्त्री के चौदह सर्गों के चित्रकाव्य, **श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्**[3] का आपने अग्रेजी में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त **चाणक्यनीति** का इन्होंने हिन्दी और अंग्रजी में अनुवाद किया है[4] और दोनों भाषाओं में विस्तृत भूमिका भी लिखी है। इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में भी आपके 150 से अधिक लेख प्रकाशित हुए हैं। 130 के लगभग ग्रन्थों के प्राक्कथन भी आपने लिखे है जिनका संकलन लगभग 450 पृष्ठों में प्रकाशनाधीन है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर आपकी कृतियों को आधार बनाकर अनेक शोधकार्य हुए है जिसका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से है:-

शोध कार्य

1. A Thesis on a Study on Dr. Satyavrat Shastri's Prabandha Kāvya, the Śrīgurugovindasiṁhacaritam by Indira Sharma was approved for the M.A. degree by the Punjabi University, Patiala in 1973-74.
2. Ph.D. degree on a thesis on a study of Dr. Satyavrat Shastri's Mahākāyam the Indirā Gāndhīcaritam Ek

1. Moti Lal Bnarsidas, Delhi, 2012
2. राष्ट्रियसंस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2012
3. साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
4. भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता, 2013

Samikṣātmaka Adhyayana by Indira Kant Pathak was awarded by the Bhagalpur University in 1989.

3. Ph.D. degree on a thesis on Dr. Satyavrat Shastri – Poet and Critic by Vinita Singh was awarded by the Kurukshetra University in 1991.
4. Ph.D. degree on the Study of Dr. Satyavrat Shastri's Mahākāvya, Śrīrāmakīrtimahākāvyam Mein Sītā Kā Swaroop, Savitri Shukla, Rani – Durgavati University, Jabalpur, 1992.
5. Ph.D. degree on the study of Dr. Satyavrat Shastri's Mahākāvya, Śrīrāmakīrti Mahākāvyam – Ek Adhyayana by Poonam Sharma was awarded by Kurukshetra University in 1995.
6. Ph.D. degree on a thesis on a study of Dr. Satyavrat Shastri's Mahākāvya, Indirā Gāndhīcaritam Kā Ālocanātmaka Adhyayana by Vibhuti Mishra was awarded by Kanpur University, 1995.
7. D.Lit. degree on an assessment of Dr. Satyavrat Shastri on the totality of his work, creative, critical and translation under the title Saṁskṛta Saṁkṛiti-Sādhanā by Kamal Anand was awarded by the Panjab University, Chandigarh in 1998.
8. Ph.D. degree on the linguistic Study of Dr. Satyavrat Shastri's Mahākāvya Srīrāmakīrtimahākāvyam Kā Bhāṣāvaijñānika Adhyayana by Jaikrishna Sharma was awarded by the Maharishi Dayanand University, Rohtak in 1998.
9. Ph.D. degree on a Comparative Study of the themes of the Rāmāyaṇa aur Śrīrāmakīrti Mahākāvyam Ke Kathānakon Kā Tulanātmaka Adhyayana by Pampa Sen was awarded by the Ranchi University in 1999.
10. Ph.D. degree on a thesis on a Study of Dr. Satyavrat Shastri's Mahākāvya, Śrīrāmakīrtimahākāvyam Kā Ek Adhyayana by Salil Kumar awarded by D.A.V. College, Nakodar.

11. Ph.D. degree on a thesis on a Study of Dr. Satyavrat Shastri's Patrakāvyam II Kā Samīkṣātmaka Adhyayana by Virendra Kumar was awarded by the Patiala University in 2011.

आपने अब तक अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों पर प्राक्कथन भी लिखा है जिनका विवरण इस प्रकार से है:–

प्राक्कथन

1. Bhūṣaṇasāraprakāśaḥ by Shri Shukdeo Jha, 1948.
2. Vaiyākaraṇabhūṣaṇasāraḥ, Ed. by Vaidya Bhim Sen Shastri Published by the author, Delhi, 1969.
3. Laghusiddhāntakaumudī (Part II) with Bhaimi Tika by Vaidya Bhim Sen Shastri Published by the author, Delhi, 1971.
4. Studies in the Sectarian Upaniṣads by Dr. T.R. Sharma, Indological Book House, Delhi, 1972.
5. Advaita Vedānta by Dr. R.M. Sharma, National Publishing House, Delhi, 1972.
6. Mind and Art of Bhavabhūti by Dr. Vimla Gera, Meharchand Lachhmandas, Delhi, 1973.
7. Sanskrit Gītāñjali by Dr. Sushma Kulshreshtha, Mahalakshmi Publishing House, New Delhi, 1973.
8. Vaidika Saṅgraha by Dr. Krishna Lal, Indu Prakashan, Delhi, 1973.
9. Purāṇānām Kāvyarūpatāyā Vivecanam by Dr. Ram Pratap, University of Jammu, Jammu, 1974.
10. Samskṛte Pañcadevatāstotrāṇi by Dr. S.N. Tripathi, Sanmarga Prakashan, Delhi, 1974.
11. Śakti Cult in Ancient India by Dr. Pushpendra Kumar, Bharatiya Book Corporation, Delhi, 1974.
12. Ṛgveda par Vyākhyāna (Hindi translation of Ghate's Lectures on the Ṛgveda), Ed. by Dr. Satya Vrat Shasri, University of Delhi, Delhi, 1976.
13. Āsvalāyanagṛhyasūtra, Ed. by Dr. R.N. Sharma, Eastern Book Linkers, Delhi, 1976.

14. Culure and Civilization as revealed in the Śrautasūtras by Dr. R.N. Sharma, Nag Publishers, Delhi, 1976.
15. Kālidāsa Bibliography by Dr. S.P. Narang, Heritage Publishers, New Delhi, 1976.
16. Bāngládeśodayam by Srhi Ram Krishna Sharma, Published by the author, Delhi, Second Edition, Nag Publishers, Delhi, 1988.
17. Vedamīmāṁsā by Dr. L.D. Dikshit, Eastern Book Linkers, Delhi, 1980.
18. Mokṣamūdaravaiduṣyam by Srhi Bhawani Shankar Trivedi, Arya Bharati, Delhi, 1981.
19. Indra and Varuṇa in Indian Mythgology by Dr. Usha Choudhuri, Nag Publishers, Delhi, 1981.
20. Prachīna Kamboj Jana aur Janapada by Dr. Jiya Lal Kamboj, Eastern Book Linkers, Delhi, 1981.
21. Archaic Words in Pāṇini's Aṣṭādhyāyī by Dr. Avanindra Kumar, Parimal Publication, 1981.
22. Aitareya Āraṇyaka–Ek Adhyayana by Dr. Suman Sharma, Eastern Book Linkers, Delhi, 1981.
23. Darśapūrṇamāsa–A Comparative Ritualistic Study by Dr. Urmila Rustagi, Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi, 1981.
24. Vedasya Vyāvahārikatvam by Dr. Jyotsna, Chowkhamba Vishvabharati, Varanasi, 1981.
25. Prahlad Smarak Vaidika Vyākhyānamālā (Prathama Stabaka), Ed. by Dr. Krishna Lal, Eastern Book Linkers, Delhi, 1982.
26. Darśanamālā – A Critical Edition by Dr. R. Karunakaran, Sree Shankar Sanskrit Vidyapeetham, Quilon, 1983.
27. Sāhityasraṭā Pandit Vidya Dhar Shastri by Dr. Paramanand Saraswat, Published by the author, 1984.
28. Kālidāsa Sāhitya evam Vādanakalā by Dr. Sushma Kulshreshtha, Eastern Book Linkers, Delhi, 1986.
29. Madhurāmlam by Dr. Vinapani Patni, Nag Publishers, Delhi, 1986.

30. Valmīki aur Kālidāsa kī Kāvyakalā by Dr. Noda Nath Mishra, Nag Publishers, Delhi, 1989.
31. Vilāpapañcikā by Dr. Deepak Ghosh, Published by the author, Calcutta, 1989.
32. Karṇānandaḥ of Shri K.C. Goswami, Ed. by Shri Hitanand Goswami, Motilal Banarsidass, Delhi, 1990.
33. Pāṇini Re-interpreted by Shri Charu Deva Shastri, Motilal Banarsidass, Delhi, 1990.
34. Svānubhūtinātakam of Ananta Paṇḍita, Ed. by Dr. Uma S. Deshpande, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1990.
35. Upaniṣadon men Yogavidyā by Dr. Raghuvir Vedalankar, K.C. Publishers, Delhi, 1991.
36. Faiths and Beliefs in Kathāsaritsāgara by Dr. Nirmal Trikha, Eastern Book Linkers, Delhi, 1991.
37. Kādambarī kā Kāvyaśāstrīya Adhyayana by Dr. Rajeshwari Bhatt, Publication Scheme, Jaipur, 1991.
38. Bhīmaśatakam by Shri Shrikrishna Semwal, Delhi Sanskrit Academy, Delhi, 1991.
39. Etymologies in the Śatapathabrāhmaṇa by Dr. Nargis Verma, Nag Publishers, 1991.
40. Devayānī by Dr. Ram Kishore Mishra, Published by the author, Khekra (Meerut), 1992.
41. The wisdom of the Upaniṣads by Shri Jaikishandas Sadani, Calcutta, 1992.
42. Post-Mammaṭa Sanskrit Poetics by Dr. Sundari Siddhartha, Publication Division, University of Delhi, 1992.
43. Cāṇakya Nīti Śāstra. translated into Bhasa Indonesia by Shri Dharmayasa, Hanuman Sakti, Jakarta, Indonesia, 1992.
44. Comparative and Critical Study of Ekāvali : Contribution of Vidhyādhara to Sanskrit Poetics by Dr. Savitri Gupta, Eastern book Linkers Delhi - 1992.

45. Sanskrit Kāvyaśāstra Men Kāvya Bimba-vivecana by Dr. Shiva Prasad Bharadwaj Shastri, Radha Publication, New Delhi, 1992.
46. Stuti Mañjari by Dr. Pullela Shri Ramchandrudu, Published by the author, 1993.
47. Upadeśasatī by Dr. Hari Narayana Dixit, Eastern Book Linkers, Delhi 1993.
48. Prabhākara-Nārāyaṇa-Śrīḥ, Studies in Indology and Musicology, Dr. Prabhakar Narayan Kawthekar Felicitation Volume, Pratibha Prakashan, Delhi, 1993.
49. Jayadeva Mahakāvya kā Śailīvaijñānika Anuśīlana by Dr. Aradhana Jain "Svatantra", Sri Digambar Jain Munishangha, Chaturmasa Seva Samiti, Ganj Basoda, 1994.
50. Pāṇini as a Linguist: Ideas and Patierns by Dr. yajanveer Dahiya, Eastern Book Linkers Delhi 1995.
51. Parivartanam by Shri Khem Chand, Murti Prakashan, Delhi, 1995.
52. Ananta Kī Ora by Dr. Manjula Sahadev, Sahadev Publication, New Delhi, 1996.
53. Bopadev Kā Sanskrita Vyākaraṇa ko Yogadāna by Dr. Shanno Grover, Vidhyanidhi Prakashan, Delhi, 1996
54. Bhāskarācārya: A study with special reference to his Brahmasūtra Bhāṣya, published by the auhtor A.B. Khanna, 1997.
55. Narmadā, by Shri Prashasya Mitra Shastri, Akhsayavata Prakashan, Allahabad, 1997.
56. Parivāraniyojanam by Shri Khem Chand, Murti Publication, Delhi, 1998.
57. Vaināyakam by Dr. G.B. Palsule, Śaradā Gaurava Granthamālā, Pune, 1998.
58. Pustakālaya-Paricaryā-Prasūnam (Granthālaya Vijñānam) by Shri Ram Nayan Tiwari Shastri, Pratiha Prakashan, 1999.
59. Śrī Mastanāthacaritam, Edited and translated by Dr.

Saubhagyavati Nandal, Published by Chandanath Yogi, Rohtak, 1999.
60. Mahāsubhāṣitasangraha by Ludwik Sternbach, Ed. by S. Bhaskaran Nair, Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, 1999.
61. Vedic Humanism (Path to Peace) by Dr. Dilip Vedalankar, Vijay Kumar Govindaram Hasanand, Delhi, 2001.
62. Sanskrit men Vījñāna by Dr. Vidya Dhar Sharma Guleri, Sanskrit Bharati, Delhi, 2001.
63. Madan-Mohan-Malavīya- Caritam by Dr. Khema Chand, Murti Publication, Delhi.
64. The Kṛṣṇa Legend : A New Perspective by Asha Goswami, Y.R. Publication, Delhi, 2001.
65. Studies in Indian Culture, Science and Literature, Prof. K.V. Sarma Felicitation Volume, Shree Sarada Education Society, Adyar, Chennai.
66. Vaidika Sāhitya men Mānava Kartavya (Visva Kalyāṇa ki dṛṣti men) by Dr. Md. Hanif Khan Shastri, Saista View, Sadbhāvanā Manch, New Delhi, 2002.
67. Pātañjalayogadarśana- Ek Adhyayana by Raghuvir Vedalankar, Eastern Book Linkers, Delhi, 2001.
68. Rāmāyaṇa Sūkti Saṅgraha by Shri Subhash Vīdyalankara, Govindaram Hasaram, Delhi, 2002.
69. Kāvyakusumastabakaḥ by Dr. V.R. Panchamukkhi, Rashtriya Sanskrit Vidyapitha, Tirupati, 2002.

आपको सारस्वत साधना में निरन्तर रत रहते हुए जान विद्वानों ने समय-समय पर अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया है। आपको 83 पुरस्कार/सम्मान प्राप्त हुए है जिनका विवरण इस प्रकार है–

सम्मान

अन्ताराष्ट्रिय पुरस्कार (International Awards)

1. Honour from Royal Nepal Academy, Kathmandu, 1979.
2. Medallion of Honour from the Catholic University, Leuven, Belgium, 1985.

3. Elected Fellow, International Institute of Indian Studies, Ottawa, Canada.
4. Doctorate Honoris Causa rom the Silpakorn University, Bangkok, Thailand, 1993.
5. Honour : "Autorita Academische Italiano Straniere". The Civil and Academic Authority of Italy for Foreigners, 1994.
6. Kalidasa Award from the International Institute of Indian Studies, Ottawa, Canada, 1994.
7. Special Award from Centro Pimontese di Studi Sui Medio ed Estremo Oiente (CESMEO), Torino, Italy, 1995.
8. Honour from Gaja Madah University, Yogyakarta, Indonesia, 1995.
9. Royal Decoration "Most Admirable Order of the Direkgunabhorn" from His Majesty the King of Thailand, 1997.
10. Doctorate Honoris Causa, from the University of Oradea, Oradea, Romania.
11. Certificate of Excellence from the SpiruHaret University, Ramnicu-Valeca, Romania, 2001.
12. Certificate of Excellence from the Biblioteca Judeteana" Antim Ivireanul" Valeca, Romania, 2001.
13. Honour from Mihai Eminescu International Academy, Bucharest, Romania, 2001.
14. "Outstanding Teacher and Writer" by Biblioteca Pedagogica Nationala'I.C. Petrescu' and Biblioteca Indiana, Romania, 2001.
15. Golden Prize from CESMEO, International Institute for Advanced Asian Studies, Torino, Italy, 2001.
16. Elected Fellow, Accademia di Studi Mediterrani, Academy of Mediterranean Studies, Aggrigento, Italy.

राष्ट्रीय पुरस्कार (National Awards)

1. Sahitya Akademi Award, 1968 for Srigurugovindasimhacharitam (Poetry).

2. Honour from Sahitya Kala Parishad, Delhi Administration, Delhi, 1974.
3. Honour from Delhi Sikh Gurudwara Board, 1974.
4. U.G.C. National Lecturer, 1983.
5. President of India Certificate of Honour, 1985.
6. Shiromani Sanskrit Sahityakar Award, Govt. of Punjab, 1985.
7. Visista Sanskrit Sahitya Puraskara, Uttar Pradesh Sanskrit Academy, 1988.
8. Gita Rana Puraskara, IX International Gita Conference, Delhi, 1991.
9. Sanskrit Seva Sammana, Delhi Sanskrit Akademi, Delhi, 1992.
10. Sanskrit sahitya Paraskara, Bharatiya Bhasha Parishad, Kokata, 1992.
11. Indira Baharey Gold Medal, Tilak Maharashtra Vidyapeeth, Pune, 1992.
12. Pandit Jagannatha Sanskrit Padyaracana Puraskara, Delhi Sanskrit Akademi, Delhi, 1993.
13. Kalidasa Puraskara, Uttar Pradesh Sanskrit Academy, Lucknow, 1994.
14. Pandita Kshama Row Puraskara, Row Dayal Trust, Mumbai, 1994.
15. Vagbhusana title, Vanmaya-vimarsa, Delhi, 1994.
16. Devavaniratna Sammana, Devavani Parishad, New Delhi, 1994.
17. First All India Sammana, Rajasthan Sanskrit Academy, Jaipur, 1995.
18. Vachaspati Puraskara, K.K. Birla Foundation, New Delhi, 1995.
19. Dayawati Modi Vishwa Sanskriti Sammana, Modi Kala Kala Bharati, New Delhi, 1995.
20. Shastra-chudamani Award, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 1996.

21. Manasa Sammana, Tulasi Manasa Pratishthana, Madhya Pradesh and Tulasi Academy, Bhopal, 1997.
22. All India Kalidasa Puraskara, Madhya Pradesh Sanskrit Academy, Bhopal, 1997.
23. Honour from the Govt. of Maharashtra, 1998.
24. Degree of Mahamahopadhyaya, Honoris Causa, Rashtriya Sanskrit Vidyapitha, Tirupaṭi, 1999.
25. Padma Shri, Govt. of India, 1999.
26. Honour from Kurukshetra University, Kurukshetra, 1999.
27. Honour from Delhi Sanskrit Akademi, Delhi, 1999.
28. Degree of Vidyavachaspati, Honoris Causa, Gurukul Mahavidyalaya, Jwalapur, Hardwar, 1999.
29. Honour from Mahamahopadhyaya Pandit Naval Kishore Kankar Seva Parishad, Jaipur, 1999.
30. Kalidasa Sammana, Kalidasa Samaroha, Ujjain, 2000.
31. Title of Veda-shastra-visharada, Swami Vishvesh Tirtha, Adhokshaja Mutt, Udupi, Karnataka, 2002.
32. Shrivani Alankaraṇa, Ramakrishna Jaidayal Dalmiya Trust, Delhi, 2002.
33. Degree of Vidyamartanda (D.Litt.), Honoris Causa, Gurukul Kangri University, Hardwar, 2002.
34. Mahakavi Kalidasa Sanskrit Jivanavrati Rashtriya Sammana, Kavikulaguru Kalidasa Sanskrit Vishvavidyalaya, Nagpur.
35. Honour from All India Oriental Conference, 43rd Session, Puri, 2003.
36. Shrimati Chandrawati Joshi Sanskrit Bhasha Puraskara, Jnana Kalyana Datavya Nyasa, New Delhi, 2003.
37. Vedanga Puraskara, Maharshi Sandipani Vedavidya Pratisthan, Ujjain, 2003.
38. Acharya Umasvami Puraskara, Kundakunda Bharati, New Delhi, 2003.

39. First International Himadri Uttaranchal Sanskrit Sammana, Uttaranchal Sanskrit Academy, Hardwar, 2004.
40. Dr. Shashibhanu Vidyalankar Rashtriya Puraskara, Dr. Shashibhanu Vidyalankar Dharmartha Trust, Hardwar, 2006.
41. Jnanpith Award, Bharatiya Jnanpith, New Delhi, 2006.
42. Degree of vachaspati (D.Litt.), Honoris Causa, Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, New Delhi.
43. Life Time Achievement Award Vidyaratna, Purbanchal Academy of Oriental Studies, Kokata, 2008.
44. Elected General President, All India Oriental Conference, 45th Session, Tirupati, 2008.
45. Sardar Patel Award, Sardar Vallabhabhai Patel Foundation, New Delhi, 2008.
46. D.Litt. Degree Honoris Causa, Deccan College, Pune, 2009.

अत: अन्त में यही कहा जा सकता है कि इनका सम्बन्ध भारत के एकमात्र ऐसे परिवार से है जहाँ पिता पं० चारुदेवशास्त्री, पुत्र डॉ० सत्यव्रतशास्त्री तथा पुत्रवधू डॉ० उषा सत्यव्रत तीनों को भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित किया गया तथा पिता एवं पुत्र दोनों को पंजाब सरकार द्वारा शिरोमणि संस्कृत साहित्यकार पुरस्कार द्वारा पुरस्कृत किया गया। सच तो यह है कि आपका पूरा परिवार ही संस्कृत वाङ्मय को समर्पित है।

2

नामकरण तथा कथावस्तु संयोजना

(क) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का नामकरण

किसी भी कवि द्वारा महाकाव्य का नामकरण उसकी कथावस्तु या काव्य के नायक या अन्य किसी प्रबल आधार पर किया जाता है।[1] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री कृत श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का नाम इस महाकाव्य के नायक बोधिसत्त्व के नाम के आधार पर किया गया है। इसका नायक बोधिसत्त्व है क्योंकि इसमें भगवान् बुद्ध (बोधिसत्त्व) के पूर्वजन्म के अवदानों को ही काव्यरूप दिया गया है। महाकाव्य के प्रारम्भ में कवि ने स्वयं इसका संकेत दिया है।[2] बोधिसत्त्व बौद्धधर्म के महायान-सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। महायान ग्रन्थों में पूर्णबुद्धत्व प्राप्ति के लिए जो यत्न करता है वही बोधिसत्त्व कहलाता है।[3] इसमें दो पद हैं–बोधि + सत्त्व। इसमें बोधि का अर्थ है ज्ञान तथा सत्त्व का अर्थ है प्राणी अर्थात् बोधिसत्त्व एक ऐसा प्राणी है जो सम्यक्-सम्बोधि की प्राप्ति का इच्छुक होता है।[4] बौद्ध-धर्म के अनुसार बोधिसत्त्व वही है जिसके चित्त में करुणा का उदय हो चुका हो तथा करुणा के कारण केवल मात्र अपना ही नहीं अपितु प्राणीमात्र की दुःख निवृत्ति या उसके मोक्ष की कामना वह करता हो।[5] बौद्धधर्म में भगवान् बुद्ध की पूर्ण बुद्धत्व प्राप्ति से पहली अवस्था बोधिसत्त्व कहलाती है। जातक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि शाक्यमुनि

---

1. काव्यादर्श, 1.14–19
2. शास्तेति नाम्ना प्रथितो महात्मा
   बुद्धः प्रबुद्धो जनताहिताय।
   प्राग्जन्मवृत्तान्तकथास्तदीया
   गीर्वाणवाण्या समुदीरयामि। –श्री.बो.स.च., 1.1
3. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ.74
4. नि.क., डॉ० महेशतिवारी, प्राक्कथन, पृ.36
5. बौ.ध.मी., पृ.107–8

ने एक ही योनि में जन्म लेकर बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं की थी अपितु अनेक योनियों में जन्म लेते हुए बौद्ध-धर्म में मान्य पारमिताओं का पालन करते हुए तथा श्रेष्ठ कर्म करते हुए पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त किया था। फलतः पालिजातकों तथा संस्कृत जातकों में भगवान् बुद्ध के अनेक जन्मों की कथाऐं विद्यमान हैं।[1] आज भगवान् बुद्ध के जन्म से सम्बन्धित 550 के लगभग कथाऐं जिन ग्रन्थों में प्राप्त हैं वे ही जातक हैं।[2] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य की कथावस्तु उन जातकों में से ही कतिपय जातकों से ली गई हैं।[3] जातकों से गृहीत इन सभी कथाओं का पात्र एक ही बोधिसत्त्व है।[4] बोधिसत्त्व ही कभी व्यापारी,[5] कभी राजा,[6] कभी शिक्षक,[7] कभी कृषक,[8] कभी श्रेष्ठी के रूप में दिखाई देता है।[9]

महाकवि सत्यव्रतशास्त्री ने इन्हीं विभिन्न जन्मों में बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बौद्ध धर्म में गृहीत पारमिताओं का पालन करने वाले जातकों के प्रधान-पात्र बोधिसत्त्व को ही अपने काव्य की कथावस्तु का नायक चुना है। काव्यशास्त्र के नियमानुसार नायक के नाम पर ही इस महाकाव्य का नाम श्रीबोधिसत्त्वचरितम् रखा गया है।

प्रश्न है कि काव्यशास्त्र के आधार पर किसी भी काव्य का नायक आदि से अन्त तक एक ही व्यक्ति होता है[10] या एक वंशीय-राजाओं की परम्परा आदि से अन्त तक चलती है।[11] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् काव्य में न तो किसी एक ही राजा का आदि से अन्त तक वर्णन है और न एक ही वंशीय राजाओं या व्यक्तियों का वर्णन है, ऐसी स्थिति में नायक के आधार पर इस काव्य का नाम 'श्रीबोधिसत्त्वचरितम्' कैसे उचित हो सकता है? इसका समाधान है कि यद्यपि इस महाकाव्य में वर्णित कथावस्तु में ऐतिहासिकता की निरन्तरता नहीं है तथापि इस महाकाव्य में वर्णित विद्यमान एक ही

---

1. जा.मा., आर्यसूर, 1.34 कथाएं, पृ.1-482
2. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ.58
3. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्-एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त, पृ. (XIV)
4. श्री.बो.स.च., 1.1
5. वही, प्रथम एवं अष्टम-सर्ग
6. वही, तृतीय, चतुर्थ एवं नवम-सर्ग
7. वही, चतुर्दश-सर्ग
8. वही, द्वादश-सर्ग
9. वही, त्रयोदश-सर्ग
10. शिशुपालवधम् इत्यादि
11. रघु. इत्यादि।

बोधिसत्त्व की आत्मा विभिन्न व्यक्तियों के शरीर में अभिन्नरूप से विद्यमान है और यह अभिन्न आत्मा अनेक जन्मों में कर्मानुसार अनेक योनियों में जन्म लेकर पारमिताओं का पालन करती है। इस प्रकार कथावस्तु की भिन्नता में भी आत्मरूपेण एक ही बोधिसत्त्व की दृष्टि से नायकत्व की एकरूपता स्पष्ट है।[1] जातकों की भी यही मान्यता है कि बोधिसत्त्व ही जातकमालाओं के सभी जातकों के प्रधानपात्र हैं और वे ही अनेक रूपों में जन्म ग्रहण करते हैं। अतः जातकमाला के नायक बोधिसत्त्व हैं, वे अनेक होने पर भी एक-रूप में हैं क्योंकि उनके कर्म दिव्य तथा अद्‌भुत हैं। उनका जीवन साधारण न होकर असाधारण तथा लौकिक न होकर अलौकिक है।[2] वे ही बोधिसत्त्व इस महाकाव्य के नायक हैं। इस महाकाव्य के पढ़ने से स्पष्ट है कि इसके 14 सर्गों में से नौ सर्गों में एक मात्र बोधिसत्त्व के ही अवदानों का विभिन्न रूप से वर्णन किया गया है। उनमें से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम इन पांच सर्गों में वे एक राजा के रूप में हैं। प्रथम तथा अष्टम सर्ग में व्यापारी रूप में, छठे, बारहवें तथा चौदहवें इन तीन सर्गों में वे शिक्षक के रूप में वर्णित हैं। दशम तथा एकादश सर्ग में भी उपदेश के माध्यम से बोधिसत्त्व के चरित की ही उदात्तता दिखाई गई है। इस प्रकार प्रथम सर्ग से चतुर्दश सर्ग तक विभिन्न रूपों में एक मात्र बोधिसत्त्व के जन्म की कथावस्तु होने से इस महाकाव्य का नाम श्रीबोधिसत्त्वचरितम् शास्त्रीय दृष्टि से उचित है।

(ख) महाकाव्य की कथावस्तु का स्रोत

किसी भी काव्य अथवा नाटक का कथानक या तो प्राचीन परम्परा अथवा किसी प्राचीन काव्य पर आधारित हुआ करता है अथवा कवि कल्पित।[3] कभी-कभी लोक प्रचलित कथाओं के आधार पर महाकवि अपने काव्य की कथावस्तु का चयन करते देखे गए हैं।[4] जो कवि अवर्णित प्रसंगों को कथावस्तु के रूप में पिरोते हैं, उनके काव्य भी कल्पित ही समझे जाते हैं किन्तु जो कवि पुराने कथनों को नवीन रूप में ढालने की शक्ति रखते हैं उनके काव्यगत कथावस्तु को काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा नवीन माना गया है। उनकी दृष्टि से नवीन कथावस्तु के वर्णन में ही कवि की मौलिक

---

1. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्-एक आलोचनात्मक अध्ययन, भूमिका, डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त, पृ. (xviii)
2. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ.76-77
3. विष्णुधर्मोत्तरपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ.28-29
4. वा.रा., 1.18-19

प्रतिभा नहीं देखी जाती अपितु प्राचीन कथावस्तु को नवीन रूप से प्रस्तुत करने में भी उसकी प्रतिभा कारण हुआ करती है।[1] इससे स्पष्ट है कि काव्य की कथावस्तु का कोई न कोई आधार अवश्य हुआ करता है। कवि उसी आधार को ग्रहण कर अपनी प्रतिभा के बल पर उसे अलङ्कार, गुण, रीति, रस इत्यादि से सजाकर समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है।[2]

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य को पढ़ने के बाद इस की कथावस्तु को ढूँढने का अधिक प्रयास नहीं करना पड़ा अपितु कवि ने प्रसिद्ध जातक कथाओं को अपनी कथावस्तु का मुख्य आधार बनाया तथा अपनी प्रतिभा के बल पर उसी को अपनी कोमलकान्त पदावली के द्वारा सुचारु ढंग से सजा कर समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया।[3] ये जातक बौद्धधर्म के मूल हैं। इनमें भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व के अनेक जन्मों की कथाएं हैं।[4] भगवान् बुद्ध के विषय में कहा गया है कि बौद्धधर्म के अनुसार पूर्णबुद्धत्व की प्राप्ति होने से पहले वे अनेक जन्म ग्रहण करते हुए बौद्ध-धर्म में स्वीकृत पारमिताओं का पालन करते हैं। ये पारमिताएं ही बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व की वह निकषोत्पल हैं जिन पर पूर्णतया सटीक उतरने के बाद ही बोधिसत्त्व पूर्णबुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है।[5] जातक ग्रन्थों में स्पष्टतया उल्लिखित है कि बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व भगवान् बुद्ध ने बोधिसत्त्व के रूप में लगभग 500 बार यत्र-तत्र जन्म ग्रहण कर पारमिताओं का पालन किया था।[6] बुद्ध के पूर्व जन्मों के वृत्तान्त ही इन जातकों में वर्णित होने से इनकी संख्या भी 500 के लगभग है। आजकल उपलब्ध जातकों की संख्या 547 के करीब है किन्तु इन में कुछ जातकों की कथाओं में पुनरावृत्ति होने से उनके हटाने पर इनकी संख्या कम हो जाती है। उन सभी जातकों में बोधिसत्त्व की महिमा का वर्णन करने के उद्देश्य से उनके चरितों का पूर्णतः वर्णन किया गया है, साथ ही बुद्ध के जीवन की घटना, उन घटनाओं से जुड़े हुए पूर्व जन्म के वृत्तान्त तथा गाथाओं का भी सम्बन्ध दिखाया गया है।[7] भगवान्

---

1. आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
   वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्।। -ध्व., 4.14
2. वही, 4.16
3. श्री.बो.स.च., 1.1
4. जातक (प्र.ख.), अनु. भदन्त आनन्द कौशल्यायन, पृ. 15
5. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ. 97
6. वही, पृ. 77
7. बौ.ध.द., नरेन्द्रदेव, पृ. 180-182

बुद्ध की उन्हीं कथाओं में से कतिपय कथाओं को लेकर महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने इस महाकाव्य की रचना की है। अतः इन जातकों की कतिपय कथाएं ही इस महाकाव्य की कथावस्तु के स्रोत हैं जिनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

इस महाकाव्य में 14 सर्ग हैं। इन सभी सर्गों में एक ही कथा वर्णित न होकर एक मात्र बोधिसत्त्व के जीवन से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् कथाएं कथावस्तु के रूप में गृहीत हैं। जो इस प्रकार से देखी जा सकती हैं।

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य के प्रथम सर्ग में वर्णित जो दो वैश्य व्यापारियों से सम्बन्धित कथावस्तु है वह मूलरूप से जातक प्रथमखण्ड में वर्णित "**अपणक जातक**" से ली गई है[1] द्वितीय सर्ग में वर्णित श्रीकुमार तथा कौशलेश मलिक की कथावस्तु जातक द्वितीय खण्ड में वर्णित "**रजोबाद जातक**" से ली गई है।[2] तृतीय तथा चतुर्थ सर्ग की कथावस्तु मूल जातक में वर्णित "**महाशीलव जातक**" से ली गई है।[3] काव्य के पंचम सर्ग में चित्रित स्त्री के चरित्र का मूल स्रोत जातक में वर्णित "**उच्छंगजातक**" है।[4]

काव्य के सप्तम, अष्टम तथा नवम इन तीन सर्गों में एक ही कथावस्तु अविच्छिन्न रूप से चलती है। यह सम्पूर्ण कथानक जातक के पञ्चम खण्ड से सम्बन्धित हैं। वहाँ यह "**उन्मदयन्ती**" कथा के नाम से वर्णित है।[5] यही कथा जातक माला, आर्यशूरकृत में भी वर्णित है। जातक तथा आर्यशूर कृत जातक माला में वर्णित कथावस्तु में कोई अन्तर नहीं है। वे दोनों कथाएं ही इस सर्ग के कथानक का स्रोत है।[6]

दशम तथा एकादश इन दो सर्गों में वर्णित कथावस्तु किन्नरयुगल तथा राजा भल्लाटिय से सम्बन्धित है। यह कथावस्तु जातक प्रथम खण्ड में "**भल्लाटिय जातक**" के नाम से वर्णित है। वही इसका स्रोत है।[7]

द्वादश-सर्ग में वर्णित कृषक तथा उसके परिवार की कथा का मूल स्रोत जातक तृतीय खण्ड में विद्यमान "**उरग जातक**" के नाम से वर्णित है।[8] त्रयोदश सर्ग में

1. जातक (प्र.खं.) अनु. भदन्त आनन्द कौसल्यायन, अपण्णक वर्ग, क.सं.1, पृ.176-184
2. वही द्वि.खं., दलह वर्ग, क.सं.151, पृ.163-166
3. वही, प्र.ख., आसिंस वर्ग, क.सं. 51, पृ. 387-393
4. वही, इत्थि वर्ग, क.सं., 67, पृ. 443-444
5. वही, क.सं. 527, पृ.291-312
6. जा.मा., आर्यशूर, क.स.13, पृ.173-187
7. जातक, पञ्चम खं., मणिकुण्डल वर्ग, क.सं. 354
8. वही, तृतीय खं., क.सं.354, पृ.324-29

अकृतज्ञ मित्र की कथा जातक द्वितीय खण्ड में "**असम्पदान जातक**" के नाम से वर्णित है।[1] चर्तुदश सर्ग में पापक नाम के शिष्य की कथावस्तु का मूल भी जातक प्रथम खण्ड में से लिया गया है तथा वहाँ यह कथा "**नामसिद्धि जातक**" के नाम से पाई जाती है।[2]

इस प्रकार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य के सभी सर्गों में गृहीत भिन्न-भिन्न पात्रों की कथा मूलतः जातकों में वर्णित होने से जातक कथाएं ही इस महाकाव्य के कथानक के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।

(ग) कथावस्तु में परिवर्तन तथा परिवर्धन

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य की कथावस्तु का स्रोत जातक कथाऐं हैं। 14 सर्गों में गृहीत कथावस्तु किसी न किसी प्रकार बोधिसत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण उन सभी सर्गों के कथानकों का मूल स्रोत भगवान् बुद्ध (बोधिसत्त्व) से सम्बन्धित जातक कथाऐं हैं। कवि ने जिस किसी जातक से कथा को ग्रहण किया उनमें कतिपय सर्गों के कथानकों को छोड़कर अन्य सभी सर्गों के कथानक को बिना किसी परिवर्तन एवं परिवर्धन के जातक कथाओं से ग्रहण किया है केवल निम्नलिखित सर्गों के कथानक में मूलजातक कथा से तनिक परिवर्तन दिखाई देता है।

काव्य के प्रथम सर्ग में बोधिसत्त्व का जन्म किसी वैश्य के घर में दिखाया गया है[3] किन्तु जातक में बोधिसत्त्व का जन्म सत्यवाह नामक बंजारे के घर में बताया गया है। इसमें जिस दूसरे व्यापारी का वर्णन है उसे भी यहाँ वैश्य के रूप में लिया गया है[4] किन्तु मूलजातक कथा में, इसे भी बंजारा कहा गया है, साथ ही उसे मूर्ख भी कहा गया है[5] और कहा गया है कि बोधिसत्त्व ने अपनी बुद्धिमत्ता से अच्छा व्यापार किया तथा मूर्ख बंजारे ने अपनी मूर्खता से सब कुछ नष्ट किया।[6]

तृतीय-चतुर्थ सर्ग की कथावस्तु जातक प्रथम खण्ड में '**महासीलव**' नाम से

---

1. जातक, असम्पदान वर्ग, क.सं., 131 पृ.सं. 566-568
2. वही प्र.खं., लित्त वर्ग, क.सं. 97, पृ.367-573
3. श्रीबोधिसत्त्वो भगवान् महात्मा वैश्यस्य कस्यापि गृहे प्रजज्ञे। -श्री.बो.स.च.,1.5
4. तदैव कश्चिद् वणिगात्मजोऽन्यो-
   यानैः शतैः पञ्चभिरेतुमैच्छत, -वही,1.10
5. जातक, प्र.खं., क.सं.1, पृ.176-184
6. वही, पृ.176

वर्णित है जो कि श्रीबोधिसत्त्वचरितम् की कथावस्तु के ही सदृश है।[1] किन्तु यही कथा जातक (तृ.खं.) में '**सेय्यजातक**' नाम से वर्णित है।[2]

यह कथा श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के कथानक से कुछ भिन्न है। इसमें कोशल के राजा को चोर राजा कहकर पुकारा गया है साथ ही यह चोर राजा काशीनरेश के राज्य पर आधिपत्य कर उसे तथा उसके मन्त्रियों को श्मशान में नहीं गड़वाता अपितु कारागार में बन्द करवाता है। राजा शीलवान् कारागार में भी चोर राजा (कोशलेश) के प्रति मैत्रीभाव रखता है। फलतः कोशलराज के शरीर में भयंकर खुजली होती है और उसे स्वप्न आता है कि तुमने एक सदाचारी निर्दोष राजा को कैद किया हुआ है उसका ही यह परिणाम है, उसे छोड़ दो। कोशलेश काशी नरेश को छोड़ देता है, उससे क्षमा याचना करता है और उसका राज्य उसे सौंपकर चला जाता है।

(घ) महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग का सार

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में जो कथाएं हैं वे परिवर्तन किए बिना ही ली गई हैं और उन्हें संस्कृत में काव्यरूप दिया गया है। ये कथाएं प्रत्येक सर्ग में जिस प्रकार वर्णित हैं उनका सार निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

प्रथम-सर्ग

काशी में ब्रह्मदत्त नामक एक राजा हुए। महात्मा बुद्ध ने उन्हीं की नगरी में एक वैश्य के घर में जन्म लिया। बड़े होने पर उन्होंने व्यापार के लिए सुदूर प्रान्त में जाने की योजना बनाई। उसके लिए वस्तुओं का संग्रह किया और 500 बैलगाड़ियों को ले जाने का निश्चय किया। उसी समय एक अन्य व्यापारी भी उतनी ही बैलगाड़ियों को तैयार कर उसी रास्ते से, उसी प्रान्त की ओर व्यापार करने के लिए तत्पर हो गया। बोधिसत्त्व ने व्यापार के लिए उसका निश्चय देखकर एक साथ दोनों के जाने की कठिनाई का वर्णन किया और दोनों में से पहले किसी एक के जाने का प्रस्ताव रखा। उसने यह सोच कर कि पहले जाने से अत्यधिक लाभ होगा स्वयं पहले जाने का निश्चय किया तथा बैलगाड़ियों को लेकर व्यापार के लिए निकल पड़ा। मरुभूमि तथा गहन वनों को ध्यान में रखते हुए वह साथ में खाद्य-सामग्री तथा मटकों में पानी भर कर ले गया। बीहड़ जंगल में जाते हुए राक्षस ने वैश्य के साथियों तथा वैश्य को देखा और उन्हें मारने की योजना बना ली। राक्षस वेश बदल कर उसके सामने आया

1. जातक, प्र.खं., क.सं. 51, पृ. 387-931
2. वही, तृतीय खं., अब्भन्तर वर्ग, क.सं. 282

तथा समझाने लगा कि आप व्यर्थ ही इतना सारा जल भर कर ले जा रहे हैं। आगे मरुभूमि में पर्याप्त वर्षा हो रही है। तलाब भरे हुए हैं, कमल खिले हुए हैं अत: जल फैंक दो। व्यापारी ने उसके कथनानुसार सारा जल छोड़ दिया किन्तु आगे चलकर दूर-दूर तक कहीं भी उसे जल नहीं मिला। जलाभाव के कारण वह तथा उसके सभी साथी मर गए। राक्षस ने उनको अपना भोजन बना लिया। कुछ समय बाद बोधिसत्त्व भी उसी रास्ते गया। वही राक्षस उनके सामने आया तथा पहले वैश्य की तरह उन्हें भी ठगने लगा। बोधिसत्त्व ने पहले ही समझ लिया कि यह कोई राजा नहीं अपितु राक्षस है। उन्होंने उसकी बात नहीं मानी। दैत्य बोधिसत्त्व पर अपना प्रभाव नहीं जमा पाया और चला गया। बोधिसत्त्व ने आगे जाकर देखा कि पहले व्यापारी के बैल इधर-उधर घूम रहे हैं। वैश्य तथा उनके साथियों के हड्डियों के ढेर वहाँ पड़े हुए हैं। इस प्रकार बोधिसत्त्व अपनी बुद्धि के कौशल से राक्षस के कुचक्र से बच निकला तथा गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर व्यापार द्वारा धन प्राप्त कर वापिस अपने नगर को आया। डॉ० सत्यव्रत का कथन है कि जो व्यक्ति विचारशील, चरित्रवान् तथा बुद्धि से काम करते हैं, वे कभी हानि नहीं उठाते।[1]

द्वितीय-सर्ग

काशीनगरी में ब्रह्मदत्त नाम का राजा राज्य करता था। उसके घर में बोधिसत्त्व ने जन्म लिया। जिसका नाम श्रीकुमार रखा गया। तीव्र बुद्धि होने के कारण पढ़-लिख कर वह 16 वर्ष की ही अवस्था में पिता की राजगद्दी पर बैठ गया। उसके शासनकाल में प्रजा सभी प्रकार से सुखी थी। वह बड़ा लोकप्रिय था। सभी उसका यशोगान करते थे। एक दिन उसकी इच्छा हुई कि क्या मैं सचमुच ऐसे गुणों से युक्त हूँ, क्या ये लोग सच कहते हैं? उसे अपने गुणों की अपेक्षा अवगुणों के बारे में जानने की इच्छा हुई। वह अपनी राजधानी से बाहर चला गया। लौटते समय उसे अपने सारथि के साथ आता हुआ राजा मल्लिक मिल गया। दोनों के रथों का आमना-सामना हुआ। सारथियों ने एक-दूसरे के रथ को पीछे करने के लिए कहा पर कोई भी सारथि पहल नहीं कर रहा था। अन्त में निर्णय हुआ कि जो राजा गुणों में एक-दूसरे से बढ़ कर

---

1. यह धर्म कथा भगवान् ने श्रावस्ती के जेतवन महाविहार में रहते समय एक सेठ के पांच सौतैर्थिक (किसी अन्य पथ के अनुयायी) मित्रों के कारण कही। जातक प्रथम खण्ड में यह कथा "अपणक जातक" के नाम संग्रहीत हैं। इसमें वर्णित अतीत कथा को परिवर्तित किये बिना ही डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने बड़े ही सुन्दर ढंग से श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के प्रथम-सर्ग में उद्धृत किया है। -जातक, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 172-183

होगा उसी का रथ पहले निकलेगा। यह निश्चय होने पर दोनों सारथि अपने-अपने राजा के गुणों का वर्णन करने के लिए तैयार हो गए। प्रथम कोशलनरेश के सारथि ने अपने राजा के गुणों का वर्णन करते हुए कहा कि-"हमारे राजा नीतिशास्त्र के ज्ञाता, सम्पूर्ण विद्याओं में पारङ्गत हैं। प्रजा इनके शासन से बड़ी प्रसन्न है। शासन व्यवस्था बड़ी अच्छी है। काशीनरेश के सारथि को ये कोई विशेष गुण नहीं लगे उसने राजा के विनय के बारे में बताने को कहा। कोशलनरेश के सारथि ने कहा 'हमारे राजा सज्जन के साथ सज्जनता का, दुष्ट के साथ दुष्टता का, शठ के साथ शठता का व्यवहार करते हैं'। काशीनरेश के सारथि ने कहा कि, यह कोई खास विनय की बात नहीं। उसने अपने राजा के विषय में कहा कि-"हमारे राजा शान्तिप्रिय हैं, क्रोधरहित हैं, दुर्जन के प्रति भी सज्जनता का तथा उद्धत के प्रति भी सम नीति का व्यवहार करते हैं। लोभ, मोह, भय तथा शोक से दूर रहकर निर्बाध रूप से सुख का अनुभव करते हैं।" काशीनरेश के इस प्रकार के गुणों को सुनकर कोशलनरेश मल्लिक रथ से नीचे उतर और उसने काशीनरेश का अभिवादन किया उसके शील की प्रशंसा करते हुए स्वयं भी हृदय में शील को धारण कर अपने नगर को वापिस आ गया।[1]

तृतीय-चतुर्थ सर्ग

वाराणसी प्रसिद्ध नगरी पर राजा ब्रह्मदत्त का शासन था। उन्हीं के घर में एक कुमार का जन्म हुआ जिसका नाम शीलवान् रखा गया। बाल्यकाल में ही सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत होकर 16 वर्ष की आयु में ही पिता की मृत्यु के बाद वे सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुए। राजा शीलवान् नाम के अनुरूप ही गुणों वाले थे। उनका एक मन्त्री था। दैवयोग से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हुई और उसने अन्त:पुर में रानियों के साथ अनुचित व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया। राजा शीलवान् को पता चलने पर उन्होंने मन्त्री को नगर से निकाल दिया। मन्त्री भी शीलवान् का राज्य छोड़कर कोशलनरेश के राज्य में

1. दलहं दलहस्य खिपती.........." यह गाथा शास्ता ने जेतवन में रहते समय राजा को दिये गये उपदेश के बारे में कही। शास्ता ने कहा महाराज! धर्म से न्याय से, मुकद्दमे का फैसला करना शुभ कर्म है। वह स्वर्ग का मार्ग है। तुम मुझसे उपदेश लेकर न्याय से मुकद्दमे का फैसला करते हो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात तो इसमें है पूर्व के राजा लोगों ने ऐसे पण्डितों का उपदेश सुना जो सर्वज्ञ नहीं थे फिर भी धर्म से न्याय से मुकद्दमे के फैसले करते हुए चार अंगतियों (छन्द, द्वेष, भय, मोह के वशीभूत हो पक्षपात करना) से बचकर दस राजधर्मों से विरुद्ध न जा, धर्मानुसार राज्य करते हुए स्वर्ग-मार्ग को भरने वाले हुए। इतना कह पूर्वजन्म की कथा कही। जातक द्वितीय खण्ड में यह कथा 'राजोवाद जातक" के नाम से संग्रहीत है। -जातक, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 162-167

चला गया। वहाँ जाकर उसने काशीनरेश शीलवान् के वैभव का वर्णन कर कोशलनरेश को उस पर आक्रमण करने के लिए कहा। कोशलनरेश के सैनिकों ने भी काशीनरेश के राज्य पर आक्रमण कर जनता को कष्ट देना प्रारम्भ कर दिया। राजा ने उन्हें पकड़ा, बुलाया और दण्ड देने की अपेक्षा धन देकर लौटा दिया। सैनिकों ने काशीनरेश की सज्जनता के विषय में जब कोशलनरेश को बताया तो उसकी सज्जनता को देखकर राजा ने उस पर आक्रमण कर उसके सिंहासन एवं राज्य पर अधिकार कर लिया। अधिकार करते ही कोशलनरेश ने काशीराज को मन्त्रियों सहित पकड़ कर उनके हाथ–पाँव बँधवा कर श्मशानभूमि में इस प्रकार रेत में गाड़ने की आज्ञा दी, जिससे वे अपने हाथ–पांव भी न फैला सकें। जब श्मशानघाट में रेत में दबाने के बाद रात्रि में उन्हें खाने के लिए गीदड़ आए और एक गीदड़ को राजा ने किसी प्रकार अपनी चिबुक के नीचे दबोच लिया। गीदड़ ने इतना क्रन्दन किया कि उसे सुनकर सभी गीदड़ भाग गए। गीदड़ और राजा की छीना–झपटी में रेत कुछ नर्म पड़ गई और राजा बाहर आ गया। उसी समय कुछ लोग एक शव लेकर आए और छोड़कर चले गए। श्मशानभूमि में रहने वाले दो यक्ष शव को देखकर खुश हुए। उन्होंने उस शव को बांटने के लिए शीलवान् से प्रार्थना की। राजा ने कोशलनरेश के यहाँ से जल लाने के लिए कहा। वे दोनों महल से स्नान के लिए जल, अनुलेपन एवं खाने के लिए भोजन भी लाए। भोजन करने के पश्चात् राजा ने अपने घर से खड्ग मंगवाया। यक्षों द्वारा खड्ग लाए जाने पर शीलवान् ने उस शव के बराबर टुकड़े कर यक्षों में बांट दिए। दोनों यक्ष बड़े प्रसन्न हुए और शीलवान् से कुछ मांगने के लिए कहा। यक्ष की बात सुन कर शीलवान ने कहा कि जहाँ कोशल नरेश हैं वहाँ मुझे पहुँचा दो तथा मेरे मन्त्रियों को उनके घरों में पहुँचा दो। यक्षों ने ऐसा ही किया। शीलवान् ने जाकर खड्ग से कोशलनरेश को उठाया पर उसे मारा नहीं। कोशलनरेश पहले तो हाथ में खड्ग लिए हुए शीलवान् को देखकर बहुत डरा पर उसके द्वारा किसी भी प्रकार के बदले की भावना से काम न करते हुए देख उसे अपने किए हुए पर बहुत पश्चात्ताप हुआ तथा दूसरे ही दिन उसने अपने मन्त्रियों को बुलाया और सभा का आयोजन कर शीलवान् को उसका राज्य वापिस कर दिया।[1]

---

1. यह गाथा बुद्ध ने जेतवन में विहार करते समय एक हिम्मतहार भिक्षु के बारें में कही और कहा कि पूर्व समय में बुद्धिमानों में राज्य गंवा कर भी अपने वीर्य्यं (प्रयत्न) में स्थित रह (अपने) नष्ट हुए यश को पुनः पैदा कर लिया। जातक में यह कथा 'महासीलव जातक' नाम से संग्रहीत है। –जातक, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 387–393

पञ्चम-सर्ग

किसी समय वाराणसी नगरी में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे। एक बार वहाँ तीन सज्जन जङ्गल में भूमि जोत रहे थे। उसी समय एक चोर चोरी करके उसी जङ्गल की तरफ भागा। बहुत ढूँढने पर भी जब उस चोर का पता नहीं चला तब जङ्गल में काम कर रहे व्यक्तियों को ही चोर समझ कर सिपाहियों ने उन्हें बांध कर कारागार में डाल दिया। उसी समय कहीं से एक स्त्री मेरा आच्छादन मुझे लौटा दो, ऐसा क्रन्दन करती हुई राजभवन में आई। राजा ने सेवकों को उसे वस्त्र देने के लिए कहा किन्तु उसने वस्त्र लेने से इन्कार कर दिया। तब सेवकों ने राजा से जाकर कहा कि–वह कहती है कि मेरा आच्छादन मेरा पति है। राजा ने स्त्री को अन्दर बुलाया और पूछा, "कि ये तीनों तुम्हारे क्या लगते हैं? स्त्री ने उन तीनों को देखकर कहा कि – एक मेरा पति है, एक भाई एवं एक पुत्र। राजा ने उन तीनों में से किसी एक को छोड़ने की बात कही। उत्तर में स्त्री ने कहा कि मेरे भाई को छोड़ दीजिए। राजा ने आश्चर्य से पूछा कि भाई ही क्यों? तब स्त्री ने उत्तर दिया कि–मेरी गोद में पुत्र हजारों हो सकते हैं और मुझे पति भी अनेक मिल जाएंगे किन्तु मेरे माता-पिता की इकलौती सन्तान मेरा भाई इस संसार में दुबारा नहीं मिलेगा क्योंकि भाई का महत्त्व इस संसार में सबसे बढ़कर है। स्त्री की यह बात सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने तीनों को ही छोड़ दिया।" इस कथा से यही उपदेश मिलता है कि संसार में सभी कुछ प्राप्त हो सकता है पर सहोदर भ्राता मिलना कठिन है।[1]

षष्ठ-सर्ग

एक बार किसी बौद्ध विहार में भगवान् बुद्ध अपने सभी भिक्षुओं को विधिपूर्वक उपदेश देते हुए निवास कर रहे थे। उस भिक्षु सङ्घ में रहने वाला एक विद्वान् भिक्षु

---

1. "उच्छङ्गे देव! मे पुत्तो" .... यह गाथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक देहाती (जनपदिक) स्त्री के सम्बन्ध में कही जिसके पति, पुत्र और भाई को चोर समझ बन्धीजन कोसलनरेश के पास ले जाते हैं और रोती-पीटती बार-बार राजभवन के पास एक ही बात कहती है कि मुझे मेरा वस्त्र दो क्योंकि स्त्री हजार मुद्रा के मूल्य की चादर पहनने पर भी नंगी ही है यदि उसका पति उसके साथ नहीं है–
   नग्गा नदी अनोदिका नग्गं रट्ठं अराजिकं।
   इत्थीपि विधवा नग्गां यस्सापि दस भातरो।।
   जातक में यह कथा "उच्छग जातक" के नाम से संग्रहीत है।
   –जातक, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 443-444

भिक्षा पाने के लिए विचरण करता हुआ श्रावस्ती नामक नगरी में गया। लौटते हुए उसने एक अत्यन्त सुन्दरी रूप सम्पन्ना युवती को देखा। उसको देखकर वह काम से पीड़ित हो गया। उसने अपना नित्य-कर्म भी छोड़ दिया। सङ्घ-भिक्षुओं के पूछने पर उसने अपनी व्यथा सुनाई। भिक्षु की बात सुन कर सङ्घ के अन्य भिक्षु उससे बहुत नाराज हुए तथा उसे यह मार्ग छोड़ने के लिए कहा पर भिक्षुओं की बात को वह काम पीड़ित भिक्षु नहीं समझा और अशान्त ही बना रहा। स्थिति देखकर सन्यासी उसे बोधिसत्त्व के पास ले गए। बोधिसत्त्व ने उसे समझाते हुए कहा कि प्राचीन समय में भी जितेन्द्रिय सत्पुरुष हो चुके हैं। वे कभी भी जीवन में कामवासना के अधीन नहीं हुए। उदाहरण रूप से बोधिसत्त्व ने शिबि देश के राजा श्रीकुमार की कथा सुनाई।

सप्तम-सर्ग

बोधिसत्त्व कामपीडित भिक्षु को समझाते हुए कथा सुना रहे हैं कि-प्राचीन समय में शिबिराज्य के अन्तर्गत अरिष्टपुर नामक नगर में शिबि नामक राजा हुआ। उनके घर में पुत्र ने जन्म लिया जिसका नाम श्रीकुमार रखा गया। उसके सेनापति के यहाँ भी एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम अहिपारक रखा गया। दोनों साथ-साथ रहते तथा दोनों ने विद्या भी साथ ही ग्रहण की। बाद में दोनों ही अपने-अपने पिता के पदों पर अधिष्ठित हो गए। श्रीकुमार की नगरी में ही 80 करोड़ मुद्राओं का स्वामी तिरीटवत्स भी रहता था। उसकी उन्मदन्ती नाम की एक सुन्दर कन्या थी। उसका विवाह राजा से करवाने की इच्छा से सेठ राजा के पास गया तथा अपनी पुत्री की बात की। राजा ने ब्राह्मणों को कन्या के लक्षणों को जानने के लिए भेजा। ब्राह्मण तिरीटवत्स के घर में गए और उसकी पुत्री को देखकर स्वयं उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए तथा अपनी सुध-बुध भूल गए। उन्मदन्ती ने उनके इस व्यवहार से रुष्ट होकर उन्हें घर से निकाल दिया। इसे उन्होंने अपना अपमान समझा और बदले की भावना से राजा के पास जाकर उसके विषय में अनुचित धारणा पैदा कर दी। राजा ने उससे विवाह का निषेध कर दिया। उन्मदन्ती को इस बात का अत्यधिक दुःख पहुँचा। तिरीटवत्स ने उसका विवाह राजा के सेनापति अहिपारक से कर दिया।

अष्टम-सर्ग

इस सर्ग में उन्मदन्ती के पूर्वजन्म की कथा को सुनाते हुए श्रीबोधिसत्त्व राजा श्रीकुमार से कह रहे हैं कि पूर्व जन्म में उन्मदन्ती ने किसी महोत्सव में लाल वस्त्र पहने हुए किसी स्त्री को देखा और उसकी भी उसी प्रकार के वस्त्रों को पहनने की इच्छा हुई किन्तु वस्त्रों के मूल्यवान् होने के कारण माता-पिता के द्वारा असमर्थता

प्रकट करने पर उसने माता-पिता से नौकरी की अनुमति प्राप्त कर किसी अच्छे घर में सेवा करके उसके बदले सेठ के यहाँ से लाल वस्त्र प्राप्त किए। वस्त्र प्राप्त कर ज्यों ही वह स्नान कर वस्त्र धारण करने लगी, उसने दूर से आते हुए किसी वल्कलवस्त्र धारण किए हुए भिक्षु को देखा। उसकी दशा देखकर अपने शरीर का आधा वस्त्र उसने दे दिया। उस वस्त्र से भिक्षु की शोभा अत्यधिक बढ़ी हुई देखकर उसने अपने शरीर पर शेष बचा हुआ आधा वस्त्र भी उसे दे दिया। भिक्षु द्वारा आशीर्वाद रूप में वरदान मांगने के लिंए कहने पर उसने सभी के धैर्य को नष्ट कर देने वाले शरीर के सौन्दर्य को मांगा। दूसरे जन्म में यही कन्या तिरीटवत्स की पुत्री उन्मदन्ती हुई और राजा श्रीकुमार के द्वारा स्वीकार न किए जाने पर अहिपारक के साथ उसका विवाह हो गया।

एक बार नगर में किसी उत्सव को देखने के लिए राजा श्रीकुमार भ्रमण के लिए अहिपारक के भवन की ओर निकला। उन्मदन्ती को सेविका के द्वारा यह ज्ञात होने पर कि राजा उसके घर की ओर आ रहा है, उन्मदन्ती झट से भवन की अट्टालिका पर चढ़ गई। अचानक राजा की दृष्टि उन्मदन्ती पर पड़ी और देखते ही उसके सौन्दर्य से वह आकृष्ट हो गया। तत्काल उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगा। रथवान् ने बताया कि-यह मन्त्री अहिपारक की पत्नी है। राजा घर वापिस हो गया और उन्मदन्ती के वियोग से विह्वल रहने लगा।

नवम-सर्ग

इस सर्ग में सेनापति को पता चल जाने पर कि राजा उन्मदन्ती के लिए व्याकुल है, वह अपनी पत्नी को राजा को उपहार रूप में देना चाहता है। दोनों के मनोवैज्ञानिक संघर्ष को कवि ने काव्य रूप प्रदान कर प्राणीमात्र के हृदय की वियोगावस्था की दशा का चित्रण करने की चेष्टा की है। वस्तुतः कवि ने इस प्रकार के कथानक से राजा के रूप में एक वियोगी का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व दिखाया है। राजा पहले तो सेनापति की पत्नी पर पाप भरी दृष्टि रखता है किन्तु बाद में अहिपारक से कहता है कि-तुमने सर्वदा धर्म का पालन किया है। तुम कर्म तथा कर्म फल के ज्ञाता हो पर मेरी बात भी ध्यान पूर्वक सुनो कि-

विना विचारं मतिमान् मनुष्यः
कदापि कार्यं सहसा न कुर्यात्।
विनिन्द्यमुक्तं विपदां पदं तद्
दुःखमत्यवश्यं ह्यविमृश्यकारी।।

राजा का कहना है कि यदि मैं मोह-वश इस प्रकार अनर्थपूर्ण कार्य करता हूँ तो अवश्य ही नष्ट हो सकता हूँ। मैं एक विशाल साम्राज्य का स्वामी हूँ, अतः मैं पराई स्त्री को ग्रहण करने जैसे अमानवीय कर्म को नहीं कर सकता। इस प्रकार राजा पश्चात्ताप की अग्नि में तपकर निर्मल चरित्र हो जाता है।[1]

दशम-सर्ग

कोशलनरेश की रानी का नाम मल्ली था। एक बार उन दोनों में शयन के विषय में कलह हो गया और दोनों में बोलचाल बन्द हो गई। उसी समय घूमते हुए महात्मा बुद्ध (बोधिसत्त्व) भिक्षुओं सहित राजभवन पहुँचे। उसे स्वतः ही राजा के प्रणय कलह का ज्ञान हो गया। यह देख बोधिसत्त्व उन्हें समझाने के लिए उदाहरण रूप से एक कहानी सुनाते हैं कि-

प्राचीन समय में भल्लाटिय नामक एक राजा था। एक बार उसको हरिणों को मार कर उनके मांस खाने की इच्छा हुई। वह राज्य का भार मन्त्रियों को सौंप कर कुत्तों को साथ लेकर शिकार के लिए चल पड़ा और हिमालय पर्वत तक जा पहुँचा। वहाँ हरिणों को मार कर उनका माँस खाकर वन में घूमने लगा। उसी समय उसने किन्नरयुगल को देखा जो कभी विलाप कर रहे थे तथा कभी हंस रहे थे। राजा के मन में इनके विलाप तथा हँसने के कारण को जानने के लिए उत्सुकता हुई। वह किन्नर-मिथुन के पास गया और उनके विलाप तथा हँसने का कारण पूछने लगा। किन्नरवधू ने वृत्तान्त सुनाया कि, "हम दोनों परस्पर बहुत प्रेम करते थे। एक बार हम नदी के पास घूमने के लिए गए। नदी में अचानक बाढ़ आ गई। जिससे मैं नदी के पार रह गई और मेरा पति नदी के उस पार चला गया। वियोग के कारण हम दोनों उस अन्धेरी रात में कभी हंसते थे और कभी रोते थे। प्रातःकाल नदी का वेग शान्त हो गया। हम दोनों पुनः बड़े प्रेम से मिले। आज भी जब कभी हमें उस भयानक रात्रि की याद आती है तो हम कभी रोते हैं और कभी हंसते हैं।"

---

1. "निवेसनं कस्स नुदं सुनन्द .." यह गाथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उद्विग्नचित्त भिक्षु के बारे में कही जो उत्तम रूपवती स्त्री को देखा, आसक्त हो, चित्त को काबू न रख सका। जब उस भिक्षु को उसके अन्य साथीगण शास्ता के पास लेकर आये तो शास्ता ने कहा, "भिक्षु! पुराने पण्डितों ने राज-काज चलाते हुए भी कामवासना जाग्रत हो जाने पर, उसके वशीभूत न हो, चित्त को काबू में रख, अनुचित कर्म नहीं किया।" यह कह पूर्वजन्म की कथा कही। जातक पंचम खण्ड में यह कथा "उन्मदन्ती जातक" के नाम से संगृहीत है।
   -जातक, पंचम खण्ड, पृ.सं. 291-312

एकादश-सर्ग

दसवें सर्ग के अन्त में राजा भल्लाटिय के द्वारा किन्नरमिथुन के हंसने और रोने का कारण जानने पर उसने उनकी आयु पूछी। उन्होंने अपनी आयु एक हजार वर्ष बताते हुए कहा कि हम इसी प्रकार लगभग 700 वर्षों से प्रेम के बन्धन में बंधे हुए सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनका वृत्तान्त सुन कर राजा को अपने पर अत्यधिक दुःख हुआ कि मैं राजा होता हुआ भी सुखी नहीं हूँ तथा अपने सुख के लिए जीवों का शिकार करने के लिए वन में घूम रहा हूँ। राजा तत्काल अपनी राजधानी को लौट गया। लौट कर उसने राज्य में ब्रह्म-भोज करवाया। कथा सुनाते हुए श्रीबोधिसत्त्व ने उन्हें बताया कि पूर्व-जन्म में तुम ही किन्नर और किन्नरी थे। अब कलह मत करो और प्रेम से रहो। भिक्षु-रूप बोधिसत्त्व की बात सुनकर उन दोनों ने बुद्ध से क्षमा मांगी और उनकी आज्ञानुसार भविष्य में प्रेमपूर्वक रहने की प्रतिज्ञा की।[1]

द्वादश-सर्ग

प्राचीन समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त निवास करते थे। उनके घर में बोधिसत्त्व ने जन्म लिया। वे अच्छे कृषक थे। युवावस्था आने पर पिता ने उनका विवाह कर दिया। घर में एक पुत्र और एक पुत्री ने जन्म लिया। बड़े होने पर बोधिसत्त्व ने पुत्र का विवाह कर दिया। पुत्रवधू एक दासी को भी साथ लेकर आई। सारा परिवार प्रसन्नतापूर्वक समय व्यतीत करने लगा। खाली समय में बोधिसत्त्व अपने परिवार को संसार की क्षणभंगुरता तथा कर्म की प्रधानता बताते हुए सभी को निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश दिया करते। सभी सदस्य बोधिसत्त्व के उपदेश का पालन करने लगे।

एक बार पिता-पुत्र खेत में कृषि कार्य कर रहे थे। पिता हल चला रहा था और

---

1. "भल्लाटियो नाम अहोसि राजा..." यह गाथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय मल्लिका देवी के बारे में कही जिसका अचानक राजा (अपने पति) से झगड़ा हो गया। अगले ही सुबह शास्ता भिक्षु संघ सहित भिक्षाटन करने के अनन्तर राज-द्वार पर पहुँचे और मल्लिका के बारे में पूछा तो राजा ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब शास्ता ने कहा, "महाराज! पूर्व जन्म में जब तू किन्नर की जून में पैदा हुआ था तब एक रात किन्नरी से पृथक रह जाने के कारण सात वर्ष तक रोते हुए समय व्यतीत किया।" यह कह शास्ता ने पूर्व जन्म की कथा सुनाई। जातक पंचम खण्ड में यह कथा "भल्लाटिय जातक" के नाम से संग्रहीत है।

– जातक, पंचम खण्ड, पृ.सं. 24-31

पुत्र तिनकों (घास) को इकट्ठा कर उसमें आग लगा रहा था। अचानक धुआं लगने से एक साँप बाहर आया और उसने पुत्र को डस दिया। पुत्र की मृत्यु हो गई। पिता ने पुत्र के शव को उठाकर नीचे रखा और उसे चादर से ढक दिया। उसी समय एक व्यक्ति बोधिसत्त्व के घर जा रहा था। उस व्यक्ति के द्वारा पत्नी को सन्देश भेजा कि आज एक ही व्यक्ति का भोजन लाना तथा घर के सभी सदस्य अच्छे (शुद्ध) वस्त्र पहन कर हाथ में फूल लेकर आ जाएं। ऐसा सन्देश सुन कर ब्राह्मणी समझ गई कि मेरा पुत्र संसार में नहीं रहा। पति की आज्ञानुसार वह खेत में पहुँची और साथ में दासी और पुत्री भी आई। शव को देखकर कोई रोया नहीं। लकड़ियाँ एकत्रित कर बिना दुःख के सब उसका दाह संस्कार करने लग गए। उनकी ऐसी स्थिति देखकर स्वर्ग में इन्द्र को कुछ शङ्का हुई। वह तुरन्त उस स्थान पर पहुँचा और उनकी परीक्षा ली। उनको पुत्र की मृत्यु पर न रोने का कारण पूछा। सभी ने एक ही बात कही। संसार अनित्य है। मनुष्य कर्मों के अनुसार नाना प्रकार की योनियों को भोगता है। कोई भी रिश्तेदार इसमें कुछ नहीं कर सकता। इसलिए हम रो नहीं रहे, केवल अपना कर्त्तव्य निभा रहे हैं। इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और आशीर्वाद देकर चला गया।[1]

त्रयोदश-सर्ग

प्राचीन समय में मगध के राजगेहनगर में बोधिसत्त्व ने जन्म लिया। वे वहाँ संघ नाम से एक सेठ के रूप में प्रसिद्ध हुए जो 80 करोड़ के मालिक थे। उनका एक मित्र भी 80 करोड़ का मालिक था जिसका नाम पीलिय था। दैवयोग से पीलिय की सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई। वह संघ के पास गया और अपनी सारी व्यथा सुनाई। संघ ने उसे 40 करोड़ मुद्रायें दीं।

दैवयोग से कुछ समय पश्चात् संघ पर भी विपत्ति आई और उसका भी सारा धन नष्ट हो गया। उसने अपनी पत्नी को धर्मशाला में ठहरा दिया और अकेला ही पीलिय के पास गया। पीलिय ने उसका आदर सत्कार नहीं किया, केवल एक तुम्बी

---

1. "उरगोव तचं जिण्णं ...." यह गाथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय ऐसे गृहस्थ के बारे में कही जिसका पुत्र मर गया था और सभी शोक में डूबे हुए थे। तभी अचानक शास्ता उनके घर पहुँचकर दुःख का कारण जान कहने लगे, "आयुष्मान! जिसका टूटने का स्वभाव है वह टूट जाता है, जिसका नष्ट होने का स्वभाव है वह नष्ट हो जाता है। अनन्त चक्रवालों तथा तीनों-भवों में एक भी ऐसा नहीं जिसका मरण न हो। सभी प्राणी मरणशील हैं, संस्कार अनित्य है। पुराने पण्डितों ने भी पुत्रों के मरने पर 'नष्ट होने वाले नष्ट हो गये' सोच चिन्ता नहीं की।" यह कह पूर्व जन्म की कथा कही। जातक में यह कथा "उरग जातक" के नाम से संग्रहीत है। –जातक, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 324-330

भूसा मात्र दिया! वह अपनी पत्नी के पास लौटकर आया और सारा वृत्तान्त सुनाया। पत्नी को यह सुनकर अत्यधिक दु:ख हुआ। संघ को अचानक उसके पुराने सेवक मिल गए। वे अपने स्वामी संघ को पत्नी सहित घर ले आए। पुनः अपने स्वामी को करोड़पति बनाने के बारे में सोचने लगे। पीलिय को कैसे दण्डित किया जाए यह सोचते हुए वे राजा के पास गए और राजा को सारा वृत्तान्त सुनाया। राजा ने दण्ड स्वरूप पीलिय को सारी सम्पत्ति संघ को लौटने के लिए कहा पर संघ ने केवल 40 करोड़ मुद्राएं ही लीं। इससे सभी ने संघ की बड़ी प्रशंसा की और उसे एक सच्चा मित्र माना।

चतुर्दश-सर्ग

प्राचीन समय में प्रसिद्ध नगर तक्षशिला में बोधिसत्त्व गुरु के रूप में थे। वे प्रतिदिन 500 विद्यार्थियों को उपदेश देते थे। जिनमें से एक का नाम पापक था। उसे अपना पापक नाम अच्छा नहीं लगता था। उसने गुरु से यह बात कही। गुरु ने नाम की अपेक्षा काम को महत्त्व देते हुए कहा कि, "नाम नहीं अपितु काम की महिमा होती है।" फिर भी तुम भ्रमण करो और अच्छा नाम चुनकर लाओ। हम सभी तुम्हें उसी नाम से पुकारेंगे। वह नाम की खोज में निकल पड़ा।

भ्रमण करते हुए उसे एक मृत व्यक्ति मिला। पूछने पर पता चला कि इसका नाम जीवक था। ओह! जीवक (जीवित) रहने वाला भी मर सकता है। ऐसा सोचकर वह आगे चल पड़ा। वहाँ उसने धनपालिका को अपने स्वामी से पिटते हुए देखा। क्या धनपालिका (धनस्वामिनी) भी धन से रहित अर्थात् दासी हो सकती है। सोचता हुआ आगे बढ़ा तो उसे एक व्यक्ति मिला, जो रास्ता भूल गया था। नाम पूछने पर पता चला कि उसका नाम पन्थक (रास्ते को जानने वाला) है। क्या पन्थक भी रास्ता भूल सकता है। उसने पन्थक से पूछा तुम पन्थक हो तुम्हें रास्ता नहीं भूलना चाहिए। उसने उत्तर दिया अरे भाई नाम से कुछ नहीं होता कर्म से होता है। तब भिक्षु को गुरु की बात याद आई। वह वहीं से लौट गया।

आश्रम में आकर गुरु जी से कहा कि जैसा नाम वैसा काम" यह उक्ति केवल लोक में प्रसिद्ध है पर कार्य रूप में इसकी परिणति दिखाई नहीं देती और निवेदन किया कि महाराज! आप सत्य ही कहते थे नाम मैं कुछ नहीं है काम अच्छा होना चाहिए।[1]

---

1. "जीवकञ्च मतं दिस्वा" यह गाथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक नामसिद्धि भिक्षु के बारे में कहीं जो "नाम" में सिद्धि समझता है। वह केवल अभी नाम सिद्धिक नहीं है अपितु

(ङ) महाकवि पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

कवि क्रान्तदर्शी होता है। ब्रह्मा की सृष्टि की तरह उसकी भी अपनी एक सृष्टि होती है, किन्तु ब्रह्मा की सृष्टि और कवि की सृष्टि में अन्तर होता है। कवि अपनी नूतन भावों की कल्पना से एक ऐसी सृष्टि की रचना करता है जो प्रजापति की सृष्टि से नितरां भिन्न हुआ करती है।[1] काव्यशास्त्रियों ने भी प्रजापति से भिन्न कवि की सृष्टि को उत्कृष्ट मानते हुए कवि की सरस्वती को बार-बार प्रणाम किया है।[2] महाकवियों की यह एक विशेषता है कि यद्यपि उनसे पूर्व भी उन्हीं कथावस्तुओं का आधार मानकर काव्य लिखे जा चुके होते हैं या लोक में बार-बार देखे जा चुके होते हैं पर उनकी कमनीय कल्पना या रसादि के परिपोषण के द्वारा पूर्व वर्णित पदार्थ भी वसन्त ऋतु में वृक्षों के समान नए से प्रतीत होने लगते हैं।[3] किन्तु देखना यह होता है कि कवि में ऐसी कौन सी वस्तु होती है, जिसके कारण वह अन्य व्यक्तियों से पृथक् होकर इस प्रकार के काव्य का निर्माण कर लेता है जो अलौकिक एवं अद्भुत होता है। काव्यशास्त्रियों ने अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि जिस प्रकार लोक में कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं इसी प्रकार से किसी कवि में कारणों के बिना कवित्व-शक्ति का जागना संभव नहीं।

अनुसन्धान करने पर उन्होंने पाया कि कवि में स्वाभाविक प्रतिभा, शास्त्रों का गहन अध्ययन, निपुणता तथा अभ्यास का होना परमावश्यक है। विशाल काव्यरूपी वृक्ष के लिए प्रतिभा-बीज के समान मानी गई है।[4] कुछ आचार्यों का मानना है कि केवल प्रतिभावान् कवि अपनी प्रतिभा के बल पर किसी दृष्ट वस्तु या कल्पित वस्तु को वर्णित तो कर सकता है पर उसमें विशेषता उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। उसके लिए उसमें व्युत्पत्ति की भी आवश्यकता होती है। यदि कवि बहुज्ञ नहीं होता है तो कैसे वह एक पदार्थ को अनेक प्रकार से तथा अनेक पदार्थों को एक साथ कैसे वर्णन कर सकेगा। अत: कवि के लिए आवश्यक है कि उसमें व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा

पूर्वजन्म में भी नाम से सिद्धि समझता रहा है। जातक में यह कथा "नामसिद्धि जातक" से संगृहीत है। -जातक, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 101-105

1. ध्व., तृतीय उद्योत, पृ.312
2. का.प्र.,1.1
3. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
   सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।। -ध्व., 4.4
4. कवित्वं प्रतिभानम्। -का.सू.,1,316

दोनों विद्यमान हों। एक की कमी भी काव्य में अपूर्णता का कारण बन सकती है।[1] काव्यप्रकाशकार ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास इन तीनों को दण्डचक्रचीवरन्याय से कवि के लिए आवश्यक माना है अर्थात् इनमें से एक की कमी भी काव्य रचना में विघ्न पैदा कर सकती है।[2] जो कवि जितना अध्ययनशील होगा, विविध शास्त्रों का ज्ञाता तथा श्रोता होगा उसकी कविता उतनी ही चिरस्थायिनी होगी तथा अन्य कवियों की कविताओं की अपेक्षा उसमें जीवनाधायक-तत्त्व अधिक होंगे। कवि जितना बहुज्ञ होगा उतना ही उसकी कविता में दूरदर्शिता, लोकोपकारिता, लोककल्याण की भावना, सजगता और सरसता एवं प्रमाणिकता होगी। ऐसे कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव से प्रभावित होने पर भी अपने वर्णनीय विषय को नूतन ढंग से प्रकाशित करने में दक्ष होते हैं।[3] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री भी उन महाकवियों में से हैं जिन्होंने वेद-वेदाङ्ग, दर्शन, व्याकरण, साहित्य इत्यादि शास्त्रों तथा महाकवि वाल्मीकि, व्यास, भास, कवि कुलगुरुकालिदास, भारवि, भट्टि, माघ, श्रीहर्ष, इत्यादि महाकवियों की काव्य रचनाओं का अच्छी प्रकार से अध्ययन किया तथा देश और विदेश के विश्वविद्यालयों में उन महाकवियों के काव्यों का अध्यापन किया।[4] ऐसे में डॉ० सत्यव्रतशास्त्री की रचनाओं पर उन महाकवियों की रचनाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यह कवि की प्रतिभा है कि वह (उस अपनी प्रतिभा) के बल पर प्राचीन वस्तु को रस, भाव इत्यादि के द्वारा इस प्रकार से वर्णन करे कि वह एक नवीन सी प्रतीत होने लगे और डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने ऐसा ही किया।[5] प्रायः कवियों की वर्णन शैली में और बाह्य शब्दों में समानता होती है अपितु ध्वनि तथा रसाभिव्यंजना में पृथक्ता होती है। ध्वन्यालोककार ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि स्वयं वाचस्पति भी काव्य में तथा अपनी रचना में नए अक्षरों या पदों की रचना नहीं कर सकता।[6] अतः काव्य इत्यादि में बार-बार पूर्ववर्ती कवियों के पदों को अपनाने पर वे सब नये तो नहीं बन सकते पर उनमें विलक्षणता अवश्य ला सकते हैं।[7]

---

1. प्रतिभा व्युत्पत्तिमांश्च कविरुच्यते, -का.मी., 1.5
2. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्
   काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। -का.प्र.,1.3
3. अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्।
   सुकविरूपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति।। -ध्व., 4.16
4. श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का एक अध्ययन, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, पृ. 4
5. ध्व., 3.15-16
6. वही, 4.15
7. वही, 4.16-17

आनन्दवर्धनाचार्य ने इस प्रकार की समानता को संवाद कहा है। उनका मानना है कि बड़े-बड़े महाकवियों की रचनाओं में भी संवाद अर्थात् एकरूपता होती है, किन्तु समालोचकों को इस प्रकार की समानता में न एकरूपता समझनी चाहिए और न किसी प्रकार से दोष दृष्टि रखनी चाहिए।[1] उनका तो यहाँ तक मानना है कि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वस्तु का अनुसरण करने पर भी यदि उसमें वाच्यादि रूप से विलक्षणता हो, वाच्यादि रूप से समानता भी हो पर व्यङ्ग्य रसादि रूप की भिन्नता हो तो वह वस्तुवर्णन, चन्द्रमा की आभा से युक्त किसी कान्ता के मुख मण्डल के समान और अधिक सुशोभित होती है।[2]

वस्तुतः भिन्न-भिन्न देशों में विद्यमान होने पर भी क्रान्तदर्शी कवियों के विचार प्रायः एक जैसे होते हैं क्योंकि कवि कल्पना के क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हैं और दो व्यक्तियों की कल्पना तथा चिन्तन में समानता होना स्वाभाविक नहीं। फलतः किसी भी कवि पर पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता ही है। ऐसा प्रभाव निन्दनीय नहीं समझा जा सकता। उसमें एक प्रकार से चमत्कृति होती है।

(च) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् पर प्रभाव

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री विशाल प्राचीन संस्कृत साहित्य से परिचित ही नहीं हैं अपितु उसके पूर्ण ज्ञाता भी हैं। यही कारण है कि उनकी परिष्कृत शैली में उपनिषत्, श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, पञ्चतन्त्र, के अतिरिक्त जातकग्रन्थ, कालिदास, भवभूति, भारवि, हर्ष इत्यादि जैसे महाकवियों की कविता की छाया भी स्पष्ट दिखाई देती है। यह सम्पूर्ण महाकाव्य ही अनेकों महाकवियों की सूक्तियों से सुशोभित है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् पर यत्र-तत्र उपनिषद् वचनों का प्रभाव दिखाई देता है। बृहदारण्यकोपनिषत् में महर्षि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को जिस आत्मतत्त्व का उपदेश करते हैं[3] उसकी छाया काशीराज शीलवान् के निम्न वचनों पर स्पष्ट झलक रही है। शीलवान् कहता है कि-

---

1. ध्व., 4.11
2. संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिविम्बवत्।
   आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्।। -वही, 4.12
3. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो, मैत्रेयी......,बृह.उ., 2.4.5 तथा गीता, 4.18

एक आत्मैव सर्वत्र, मन्तव्यः सततातत:।
द्रष्टव्यः श्रवणीयश्च विज्ञेय इति मे मतम्।।[1]

उपनिषदों में आत्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप बताते हुए भी उसके एक होने पर भी अनेक रूपों में उसका प्रतिपादन किया गया है।[2] कविवर उसी ओर संकेत करते हुए राजा शीलवान् से अपने मन्त्रियों को कहलाते हैं कि–

सच्चिदानन्दरूपत्वादस्य शत्रुर्न विद्यते।
एक एवायमस्मासु देहोद्भेदस्तु भिद्यते।।[3]

गीता के प्रभाव से भला कवि कैसे प्रभावित हुए बिना रह सकते हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा शोक, भय, क्रोध आदि से रहित व्यक्ति को मुनि मानने पर[4] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री राजा शीलवान् के प्रति इसी प्रकार के भाव रखते हुए कहते हैं कि–

वीतशोकभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिराडिव।
तटस्थः सन्नवैक्षिष्ट कोशलेश्वरचेष्टितम्।।[5]

कवि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के स्तम्भभूत रामायण से इतने प्रभावित हैं कि उन्होंने रामायण में प्रदर्शित भ्रातृभाव से प्रभावित होकर विस्तृत रूप से उसके महत्त्व को प्रकाशित करने में रुचि दिखाई है तथा पंचम सर्ग के कई पद्यों में उसका वर्णन किया है।[6] कवि का कथन है कि इस सर्ग की कथा विशिष्ट रमणीय शिक्षा देने वाली है।[7] यहाँ कवि भगवान् राम के "मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता"[8] इन वचनों को ही शास्ता (भगवान् बुद्ध) के मुख द्वारा जनता तक पहुँचाता हुआ कहता है कि–

अरे मानवाः यूयमत्रावधत्त,
स्वकीयं चरित्रं पवित्रं विधत्त।

---

1. श्री.बो.स.च., 4.18
2. एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च, कठ.उ., 2.3.10
3. श्री.बो.स.च., 4.19
4. गीता, 2.56
5. श्री.बो.स.च., 3.104
6. वही, 5.16–24
7. वही, 5.32
8. वा.रा. (लङ्काकाण्ड), 60.4

सह भ्रातृभिर्मा स्म विगृह्यतालं,
यतो दुर्लभा भ्रातरः सर्वकालम्।।[1]

कवि पञ्चतन्त्रादि नीति ग्रन्थों में प्रतिपादित[2] मित्रादि के महत्त्व को सर्वसुलभ बताते हुए संघ के द्वारा कहलाते हैं कि–

सुखकरमिह वेद्यं मित्रताया हि तत्त्वं
परमतिमतिहीनो वेद नादो महत्त्वम्।
अहमनुपधि सख्यं मा स्म भाजि स्वकीयं
बुसमिदमिति बुद्धयैवाग्रहीषं तदीयम्।।[3]

कवि ने श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य की सम्पूर्ण कथावस्तु जातकों से ली है अतः उनका प्रभाव कवि की कविता पर पड़ना स्वाभाविक ही था। अतः काव्य में ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ जातक के वचन थोड़ी बहुत परिवर्तन के साथ उद्धृत किये हुए देखे जा सकते हैं। जैसे– जातक कथा में कौशल नरेश श्रीमल्लिक राजा के विषय में उसका सारथि कहता है कि–

दलहं दहलस्य खिपति मल्लिको मृदुना मृदुं
स्यद्युम्पि साधुना जेति असाधुम्पि असाधुना
एतादिसो अयं राजा मग्गा अय्याहि सारथि।[4]

कवि द्वारा इन्हीं वचनों को निम्न प्रकार से कहा गया है–

साधुना चरति साधुतां सदा
दुर्जनेन सह दुष्टतां तथा।
मार्दवञ्च मृदुना समं भज-
त्युद्धतो भवति चोद्धतेन सः।।[5]

इसके साथ ही काव्य में आद्योपान्त महाकवि कालिदास आदि जैसे महाकवियों के काव्यों की सूक्तियाँ बीच-बीच में इस प्रकार से गुम्फित हैं जिनकी शोभा स्वर्ण घटित आभूषण में सुन्दर नग के समान सुशोभित होती हुई पाठकों के मन को रसाप्लावित करती देखी गईं है। उदाहरणतः कालिदास का यक्ष मेघ से कहता है कि–

---

1. श्री.बो.स.च., 5.33
2. हितोपदेश मित्रलाभ, 97
3. श्री.बो.स.च.,13.56
4. जातक, द्वि.ख. अनु. भदन्त कौसल्यायन, क.स.,151, पृ. 165
5. श्री.बो.स.च., 2.48

'न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय' अर्थात् क्षुद्र व्यक्ति भी पूर्वकृत उपकार को नहीं भूला करता और अगर कोई बड़ा व्यक्ति हो तब उसका तो कहना ही क्या है?[1] कवि उसी सूक्ति का स्मरण करते हुए संघ सेठ के द्वारा कहलाते हैं कि–

न च कृतमुपकारं बन्धवो विस्मरन्ति।[2]

इतना ही नहीं कतिपय स्थलों पर तो कालिदास जैसे महाकवियों के वाक्यों को प्रामाणिकता के रूप में उद्धृत करते हुए वे कहते हैं–

मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धि र्वणिक् स दैत्यस्य वचोऽभ्युपेत्य।[3]

अन्य स्थलों पर भी इसी प्रकार कवि महाकविकालिदास की **'कामी स्वतां पश्यति'**[4] जैसे वचन को अपने काव्य में ग्रहण करते हुए लिखते हैं–**कामी स्वतां पश्यति सत्यमुक्तम्।**[5] महाकवि भारवि की–

सहसा विदधीत न क्रियाम् अविवेकः परमापदां पदम्।[6]

उपदेशात्मिका उक्ति को ग्रहण करते हुए वे लिखते है–

विना विचारं मतिमान् मनुष्यः कदापि कार्यं सहसा न कुर्यात्।[7]

कर्म के विषय में कवि पञ्चतत्त्व[8] आदि परक विचारों को कृषक के मुख से इस प्रकार कहलाते हैं:–

यादृङ् मृतो व्यधित कर्म, गतो गतिं तां कुर्यां तदर्थमहमत्र कथं नु चिन्ताम्?[9]

इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से ऐसे स्थल हैं, जहाँ कवि की कविता पर प्राचीन कवियों का प्रभाव देखा जा सकता है।[10]

---

1. मेघदूत (पूर्वमेघ) श्लो.17
2. श्री.बो.स.च.,13.29
3. वही, 1.57, तुलनीयम् "मूढः परः प्रत्यय नेय बुद्धिः, मालविकाग्निमित्र, 1.2
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2.2
5. श्री.बो.स.च., 6.17
6. किरातार्जुनीयम्, 2.30
7. श्री.बो.स.च.,9.37
8. पञ्चतन्त्र, 2.130-31, 3.17
9. श्री.बो.स.च.,12.50
10. वही, 3.74; 104, 4.90, 5.22, 6.43, 9.10, 10.25, 14.9; 35 इत्यादि

(छ) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का महाकाव्यत्व

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् को महाकाव्य के रूप में स्वीकृत करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि काव्य किसे कहते हैं और उसका स्वरूप क्या है। इस दिशा में देखा गया है कि लगभग सभी भारतीय तथा विदेशी विद्वान् काव्य का निर्दुष्ट लक्षण इस प्रकार नहीं कर सके जिस प्रकार सभी दार्शनिक निखिल ब्राह्माण्ड के रचयिता ब्रह्म का साङ्गोपाङ्ग लक्षण करने में आज तक सफल नहीं हुए। काव्यशास्त्र की इस दीर्घकालीन परम्परा को देखने से स्पष्ट है कि भरत और भामह से लेकर आधुनिक युग तक आचार्य काव्य के लक्षण को अपनी-अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करते रहे हैं। यह लक्षण दो प्रकार से किया गया है।

1. काव्य का शरीर क्या है। 2. काव्य की आत्मा क्या है।

काव्यशास्त्र को देखने से ज्ञात होता है कि आचार्यों की काव्य के शरीर के विषय में विशेष कर तीन प्रकार की धारणा रही है।

(1) शब्द और अर्थ को काव्य मानने वाले।[1]

(2) वाक्य को काव्य मानने वाले।[2]

(3) शब्द मात्र को काव्य मानने वाले।[3]

काव्य-लक्षण

काव्यशास्त्र की लगभग दो हजार वर्ष की सुदीर्घ परम्परा में यद्यपि आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुरूप काव्य के लक्षण प्रस्तुत किए किन्तु सभी आचार्यों के विचारों को यहाँ प्रस्तुत करना संभव नहीं। अतः प्रमुख आचार्यों के द्वारा स्वीकृत काव्य लक्षण ही यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

1. अग्निपुराण-अग्निपुराण में अलङ्कारों से सुशोभित, गुणों से युक्त, दोषों से रहित अभीष्टार्थ का प्रतिपादन करने वाली पदावली को काव्य कहा गया है।[4]

2. भामह-प्राचीन आचार्यों में भामह ही सर्वप्रथम ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने

---

1. काव्यालङ्कार, 1.16, का.सू.,1.1.1 वृत्तिः, का.प्र.,1.4
2. वाक्यं रसात्कम् काव्यम् - सा.द.,1.3
3. शब्दः काव्यम्, र.ग., पृ.8
4. संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
   काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।। -अ.पु., 337.6-7

स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण किया है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य का शरीर[1] तथा शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्य का सौन्दर्य निहित माना है।[2]

3. दण्डी–दण्डी ने हृदय को आह्लादित करने वाली पदावली को काव्य माना है।[3] यह लक्षण यद्यपि साधारण सा प्रतीत हो रहा है किन्तु अपने से उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए यह प्रेरणा का स्रोत होने के कारण असाधारण है।

4. वामन–वामन ने काव्य के शरीर पर विचार करते हुए विशेष कर काव्य की आत्मा क्या है, काव्य में ऐसा कौन सा तत्त्व है जो उसे अन्य से पृथक् करता है इसी पर विचार किया, किन्तु रीति क्या है? इसका विश्लेषण करते हुए पदों के पारस्परिक सम्बन्ध को रीति माना।[4] साथ ही काव्य का शरीर क्या है? इस पर भी अपना मत रखते हुए कहा कि काव्य का शरीर गुण तथा अलङ्कार से युक्त शब्द और अर्थ हैं।[5]

5. रुद्रट–रुद्रट ने भी शब्द और अर्थ दोनों के मिलन को ही काव्य माना है। उन्होंने शब्द को अर्थवान् कहा अर्थात् वह शब्द अर्थप्रतिपादक होना चाहिए और वह ध्वन्यात्मक न होकर वर्णनात्मक होना चाहिए।[6]

6. आनन्दवर्धनाचार्य–आनन्दवर्धनाचार्य ने मुख्य रूप से काव्य की आत्मा ध्वनि के विषय में विचार किया[7] पर साथ ही वृत्ति में काव्यविषयक अन्य आचार्यों के मत का विश्लेषण करते हुए सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर मानते हुए काव्य के लक्षण में शब्द और अर्थ दोनों को स्थान प्रदान किया।[8]

7. राजशेखर–कविराज राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती मान्य आचार्यों के काव्य लक्षणों का अनुशीलन कर निम्नलिखित प्रकार से काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है।

"गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्"।[9]

---

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्-काव्यालङ्कार, 1.16
2. शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टम् द्वयं तु नः। -वही, 1.15
3. शरीरं तावत् ईष्यर्थव्यवच्छिन्ना पदावली। -काव्यादर्श, 1.10
4. रीतिरात्मा काव्यस्य। - का.सू., 1.2.6-8
5. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते। - वही, 1.1.1 वृत्तिः।
6. शब्दार्थौ काव्यम्-काव्यालङ्कार, रुद्रट, 3.1
7. काव्यस्यात्मा ध्वनिः-ध्व.,1.1
8. सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्, -वही, 1.1 वृत्तिः
9. चन्द्रालोक, 1.6

अर्थात् गुण और अलंकारों से युक्त वाक्य काव्य है।

8. कुन्तक—कुन्तक के मत में सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाले तथा वक्रविन्यास से सुशोभित, सहभाव से युक्त, शब्द और अर्थ काव्य होता है। वह केवल शब्द और केवल अर्थ को काव्य नहीं मानते। भले ही वे रमणीय और चारुता से युक्त भी हों। वह शब्द तथा अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य मानते हैं।[1]

9. भोज—भोज ने काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए ही काव्य का लक्षण भी प्रस्तुत किया। उनके मत में दोषरहित, गुण-अलङ्कारों से अलङ्कृत तथा रस से समन्वित शब्द और अर्थ ही काव्य है।[2]

10. आचार्य क्षेमेन्द्र—शरीर के बिना आत्मा और आत्मा के बिना शरीर का कोई महत्त्व नहीं इसी प्रकार काव्य में शब्दार्थ, गुण, रसादि भी औचित्य के अभाव में निस्सार ही प्रतीत होते हैं। अतः शब्दार्थ काव्य के शरीर है, रस आत्मा है तथा औचित्य काव्य का काव्यत्व है।

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा।
औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।[3]

11. मम्मट—इनके मत में दोषरहित, गुणाभिव्यञ्जक, अलङ्कारयुक्त तथा कहीं-कहीं स्पष्ट अलङ्काररहित शब्द और अर्थ युगल काव्य होते हैं।[4] आचार्य मम्मट का यह लक्षण सबसे औचित्यपूर्ण, उपयोगी तथा वैज्ञानिक माना गया है। इनके उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ तथा जगन्नाथ जैसे विद्वानों के द्वारा इसकी समालोचना करने पर भी आज तक इसी (मम्मट के काव्य लक्षण) को स्वीकार किया जा रहा है।

12. हेमचन्द्र—जैन आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट के इस लक्षण को ही अपनाया। केवल मात्र उसमें से अलङ्कृती विशेषण को छोड़कर उसके स्थान पर सालङ्कारौ विशेषण जोड़ कर, दोष-रहित, गुणों से युक्त, अलङ्कारों से युक्त, शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य माना है।[5]

---

1. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।। -व.जी.,1.7
2. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विंदति।। -स.क.,1.2
3. औ.वि.चं., पृ.115
4. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। -का.प्र.,1.4
5. काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, पृ.19

13. वाग्भटाचार्य–वाग्भयचार्य ने वामन और मम्मट दोनों के मतों का समन्वित रूप ग्रहण कर काव्य का लक्षण करते हुए कहते हैं कि- गुण, अलंकार, रीति और रस से युक्त तथा दोष रेहित सुन्दर शब्दार्थों का समूह काव्य है।[1]

14. जयदेव–चन्द्रालोककार "पीयूषवर्ष" जयदेव ने अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों का विचारसार ग्रहण कर काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है:-

निर्दोषा लक्षणावती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ।।

अर्थात् दोषरहित, गुण, अलंकार, रीति, रस तथा वृत्ति इन समस्त उपादानों से युक्त कवि की वाणी काव्य है।[2]

15. विश्वनाथ–विश्वनाथ ने वाक्य को काव्य मानते हुए रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। उन्होंने रसात्मक वाक्य को काव्य माना[3] तथा आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य माना।[4]

16. पण्डितराजजगन्नाथ–काव्यशास्त्र की परम्परा में यद्यपि अन्य भी अनेक आचार्य हुए है किन्तु पाण्डित्य तथा नूतन रूप से काव्य का लक्षण प्रस्तुत करने वाले आचार्यों में पण्डितराजजगन्नाथ अन्तिम आचार्य हैं, जिन्होंने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों का खण्डन करते हुए - रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य माना है।[5] यहाँ रमणीय अर्थ से तात्पर्य लोकोत्तर आनन्द से है न कि लौकिक-आनन्द से।[6] बाद के आचार्यों द्वारा इन्हीं आचार्यों के मत का अनुसरण करते हुए अपने-अपने ग्रन्थों में काव्य के लक्षण दिए गए है।

पाश्चात्य विद्वान् तथा काव्य का स्वरूप

भारतीय आचार्यों के समान पश्चिम में भी अनेक विद्वानों, सहृदय कवियों तथा साहित्य आलोचकों ने काव्य का लक्षण किया है, पर वे भी काव्य को किसी लक्षण में पूर्ण रूप से बांध न सके। जिन विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया उनमें

---

1. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इहिास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. 427
2. चन्द्रालोक, जयदेव, 1.7
3. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। -सा.द.,1.3
4. वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासक्तियुक्तःपदोच्चयः। -वही, 2.1
5. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। -र.ग., प्रथम आनन, पृ. 8
6. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। -वही, वृत्तिः, पृ. 8

से कतिपय विद्वानों की काव्य-विषयक मान्यताओं का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

1. प्लेटो (Plato)–प्लेटो ने काव्य-शास्त्र को काव्य की दृष्टि से न देखकर दार्शनिक दृष्टि से देखा। वह काव्य को अनुकृति की अनुकृति मानते हैं। उनके मत से संसार के सभी पदार्थ उस परम सत्य की अनुकृति मात्र हैं और कवि काव्य में उन्हीं का वर्णन कर एक प्रकार से अनुकृति का ही अनुकरण करता है।[1]

2. अरस्तू (Arastu)–अरस्तू ने प्लेटो की मान्यता के अनुसार ही काव्य का लक्षण करते हुए लिखा है कि–"काव्य एक कला है और कला प्रकृति का अनुकरण है।" प्रकृति से तात्पर्य अरस्तू का केवल दिखाई देने वाले बाह्यपदार्थों से ही नहीं अपितु मनुष्य के अन्तर्गत भाव, काम, क्रोध इत्यादि भावों से भी हैं। उनकी दृष्टि में बाह्य और आन्तरिक वस्तुओं की अनुभूति, संवेदना और कल्पना के साथ वर्णन करना ही काव्य है।[2]

3. विलियम शेक्सपियर (William Shakespear)–विलियम शेक्सपियर ने कविता में कल्पना को विशेष स्थान देते हुए कविता की परिभाषा में लिखा कि–कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है। उसकी लेखनी वायवीय नगण्य, अस्तित्व शून्य पदार्थों को भी मूर्त रूप बनाकर नाम तथा धाम प्राप्त करती है।[3]

4. कॉलरिज (Coleridge)–कवि कॉलरिज के शब्दों में – सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में कविता होती है।[4]

5. जेम्स हेनरी ले हण्ट (Games Henery Ligh Hunt)–जेम्स हेनरी

---

1. "Poetry is twice removed from the reality." द्र. पाश्चात्यकाव्यशास्त्र, डॉ० कृष्णदेव शर्मा, पृ. 4
2. वही, पृ. 7
3. "The Poets eye, in fine frenzy rolling,
   Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven.
   And as imagination bodies forth
   The forms of things unknown, the poets pen
   Turns them to shapes and gives to airy nothings.
   A local Habitation and a name."

   वही, पृ. 118
4. "Poetry is the best word in the best order." –वही, पृ.119

ले हण्ट कविता को पैशन (Passion) मानता है। पैशन में बलवती इच्छा की भावना अधिक सम्मिलित है।[1]

6. डॉ० जॉनसन (Dr. Johnson)—डॉ० जॉनसन ने कविता को दो रूपों में देखते हुए अपने विचार दो प्रकार से प्रकट किए। प्रथम छन्दोमयी वाणी कविता है।[2] द्वितीय कविता वह कला है जो कल्पना की सहायता से विवेक के द्वारा सत्य और आनन्द का संयोजन करवाती है।[3]

7. डॉ० मैथ्यू आरर्नाल्ड (Dr. Mathew Arnold)—इनके मत में सत्य और काव्य सौन्दर्य के सिद्धान्तों के द्वारा निर्धारित बन्धनों के अधीन जीवन की आलोचना का नाम ही काव्य है।[4]

8. पी.बी.शैली (P.B. Shelley)—कविवर शैली के मत में-"सर्वमुखी तथा सर्वोत्तम मनों के सर्वश्रेष्ठ और सभी तरह सुख से भरे हुए क्षण ही कविता है।"[5]

9. जॉन मिल्टन (John Milton)—मिल्टन ने काव्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि –"कविता सरल ऐन्द्रिय तथा रागात्मक होनी चाहिए।"[6]

10. विलियम वर्ड्सवर्थ (William Wordsworth)—शृङ्गार रस के प्रसिद्ध कवि William Wordsworth का मानना है कि–"कविता शान्ति के समय में स्मृति में आने वाले तीव्र मनोवेगों का स्वाभाविक उफान है।"[7]

11. इनसाइक्लोपीडिया आफ ब्रिटैनिका—इसमें काव्य का अर्थ किया गया है कि "कवि का कार्य और कला"।[8]

---

1. The utterance of passion or truth, beauty and power embodying and illustrating its conceptions by imagination and fancy modulating its language on the principles of variety in unity.
   पाश्चात्यकाव्यशास्त्र, डॉ० कृष्णदेव शर्मा, पृ० 110
2. "Poetry is meterical Composition", Johnson. -वही, पृ.119
3. "Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to help of reason." -वही, पृ.116
4. "Poetry is the Criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of peotic truth and poetic beauty." -वही, पृ. 120
5. वही, पृ. 120
6. "Poetry should be simple sensous and passionate." वही, पृ० 118
7. "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility." -वही, पृ० 117
8. "Poetry-art, work of the poet". - Encyclopedia of Britanica.

काव्य के भेद

साहित्यदर्पणकार ने सर्वप्रथम काव्य के दो भेद किए है- (1)दृश्य काव्य (2) श्रव्य काव्य।[1]

(i) दृश्य काव्य–जिनका अभिनय किया जा सके वे दृश्य काव्य हैं क्योंकि उसमें पात्रों का आरोप किया जाता है उसे रूपक भी कहते हैं।[2] इसके 10 भेद हैं।[3]

(ii) श्रव्य काव्य–जो केवल सुना ही जा सकता है जिसका रङ्गमंच पर अभिनय नहीं किया जा सकता उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य के दो भेद होते हैं[4]:–(1) गद्य (2) पद्य।

(iii) पद्य काव्य–छन्दोमयरचना को पद्य-काव्य कहा जा सकता है।[5] यह भी दो प्रकार का है - (1) महाकाव्य (2) खण्डकाव्य।[6]

महाकाव्य का स्वरूप

जिस प्रकार काव्य को किसी एक लक्षण में बांधना महान् दुष्कर कार्य था उसी प्रकार महाकाव्य को भी किसी एक लक्षण में बांधना अत्यन्त कठिन कार्य है। यही कारण है कि प्रथम शताब्दी से लेकर आज तक आचार्य महाकाव्य की किसी एक परिभाषा पर सहमत नहीं हो सके। यह तो निश्चित है कि अलङ्कार ग्रन्थों से पूर्व अलङ्कार्य ग्रन्थ अर्थात् महाभारत इत्यादि जैसे महान् ग्रन्थ विद्यमान थे। आचार्यों ने उन-उन महाकाव्यों को सम्मुख रखकर उन्हीं को आदर्श मान कर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए। इसी परम्परा में कहा जा सकता है कि लाक्षणिक ग्रन्थों को लिखने की परम्परा कितनी पुरानी है उपलब्ध लाक्षणिक ग्रन्थों में भामह का काव्यालङ्कार ही आचार्यों द्वारा सर्वप्राचीन (सर्वप्रथम) ग्रन्थ माना जाता है[7] जिसमें महाकाव्य का लक्षण विस्तृत तथा ऊहापोह के साथ दिया गया है। यद्यपि भरतमुनि को सर्वप्रथम आचार्य माना जाता है किन्तु उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में महाकाव्य या अन्य काव्यों

---

1. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। –सा.द., 6.1
2. दृश्यं तत्राभिनेयम्, तद्रुपारोपात्तु रूपकम्। –वही, 6.21
3. वही, 6.3
4. श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा। –वही, 6.313
5. छन्दोबद्धपदं पद्यम्, - वही, 6.314
6. वही, 6.329 (पूर्वार्द्ध)
7. काव्यशास्त्रविमर्श, भा. 2, डॉ० कृष्णकुमार, पृ. 90

के विषय में कुछ भी न लिखते हुए केवल मात्र नाटकों से सम्बन्धित नाट्य-अङ्गों की विशेष चर्चा की।[1]

1. विष्णुधर्मोत्तरपुराण—महाकाव्य के विषय में सर्वप्रथम विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय खण्ड के पन्द्रहवें अध्याय में महाकाव्य का उपलब्ध प्राचीनतम लक्षण है जिसमें उसके स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की गई है।[2]

2. भामह—काव्य के आचार्यों में सर्वप्रथम भामह ने इस दिशा में लिखा है कि-(1) महाकाव्य सर्गों में निबद्ध होना चाहिए। (2) उसमें किसी भी प्रकार से ग्रामीण शब्दों का प्रयोग न हो। (3) वह अलङ्कारों से अलङ्कृत तथा माधुर्य इत्यादि गुणों से गुम्फित हो। (4) उसमें दूत, प्रेषण, सेना का प्रयाण, युद्धादि का वर्णन होना चाहिए। (5) वह रीति से युक्त तथा रसान्वित होना चाहिए। (6) उसमें नायक के पराक्रम का तथा उसके उत्कर्ष का वर्णन होना चाहिए। (7) नायक के वध का वर्णन किसी भी प्रकार से नहीं दिखाना चाहिए।[3]

3. दण्डी—भामह के बाद दण्डी ने भामह द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य के लक्षण में कुछ परिवर्तन करते हुए लिखा कि - महाकाव्य का प्रारम्भ आशीर्वचन, नमस्कार या वस्तु-निर्देश से होना चाहिए। उसकी कथावस्तु ऐतिहासिक या कल्पित हो सकती है। उसका नायक चतुर तथा उदात्त हो। उसमें नगर, पर्वत, चन्द्रोदय, उद्यान, जलक्रीड़ा, मद्यपान, रति-उत्सव, विप्रलम्भ, विवाह, कुमार इत्यादि की उत्पत्ति का वर्णन होना

1. काव्यशास्त्रविमर्श, भा. 2, डॉ० कृष्णकुमार, पृ. 42
2. एकस्य चरितादेव तथा काव्यं प्रकीर्तितम्।
   निबद्धो यत्र राजेन्द्र नायकप्रतिनायकौ।।
   प्रायेणोद्यतसंप्रेषयुद्धयुक्तं तदेव तु।
   नायकाभ्युदयोपेतं महाकाव्यं तदिष्यते।।
   वर्णयेच्च महाकाव्ये देशपत्तनपार्थिवान्।
   ऋत्वद्रिनिम्नगाश्चैव तथा नारीश्च पार्थिव।।
   वर्णनीयौ तथैवात्र नायकप्रतिनायकौ।
   नायको धर्मविजयी सताम्पन्थानमाश्रितः।।
   तथा च लोकविजयी विज्ञेयः प्रतिनायकः।
   प्रतिनायक घातस्तु वक्तव्यो नेतरस्य तु।।
   नायकस्य महाराज मरणं नैव वर्णयेत्।
   सशरीरस्य यस्य स्यात्संप्राप्तिस्तस्य वर्णयेत्।। -वि.ध.पु., 3.15.3-8
3. काव्यालङ्कार, भामह, 1.19-22

चाहिए। उसमें सर्ग न बहुत अधिक बड़े हों और न छोटे। काव्य स्थायित्व लिए हो। अन्य बातें उन्होंने भामह के समान ही स्वीकृत की हैं।[1]

4. रुद्रट—रुद्रट ने दण्डी द्वारा वर्णित महाकाव्य के स्वरूप को ही किञ्चित् परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। उनका मानना है कि महाकाव्य की कथावस्तु उत्पाद्य या अनुत्पाद्य, गद्यात्मक या पद्यबद्ध हो। महाकाव्य का नायक द्विजकुल में उत्पन्न, सर्वगुणसम्पन्न, वीर, शक्तिशाली, नीतिकुशल राजा हो। प्रतिनायक के कुल तथा उसके जीवन का भी विस्तार से वर्णन हो। अन्त में नायक की विजय ही दिखई जाए।[2] रुद्रट के बाद यद्यपि अन्य भी आचार्य हुए है किन्तु इस दिशा में विषेश कर रुचि नहीं दिखाई यहाँ तक कि ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रबन्धकाव्य की परिभाषा तो नहीं की पर उसमें अलंकार, रसादि का सन्निवेश किस प्रकार हो यह स्पष्ट निर्देश दिए हैं।[3]

5. विश्वनाथ—महाकाव्य के लक्षण की परम्परा में यद्यपि अन्य आचार्यों ने भी अपने-अपने मतानुसार महाकाव्य के लक्षण किए किन्तु महाकाव्य के लक्षण का पूर्ण विकास आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में देखने को मिलता है। इसका एकमात्र कारण है कि इनके समय तक अनेक प्रकार की कथावस्तु तथा अनेकविध वर्णन से समन्वित महाकाव्य विद्यमान थे जिनमें वे सभी विधाएं विद्यमान थीं जो एक परिपूर्ण महाकाव्य के लिए अपेक्षित हुआ करती हैं। उन्होंने महाकाव्य का जो सर्वाङ्गीण

---

1. सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
   आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।।
   इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
   चतुर्वर्गफलोयत्तं चतुरोदात्तनायकम्।।
   नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
   उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः।।
   विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
   मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।।
   अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
   सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।।
   सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम्।
   काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलङ्कृति।। -काव्यादर्श, 1.14-19
2. काव्यालङ्कार, रुद्रट, 16.2-19
3. ध्व., 3.10-14

लक्षण किया वह उत्तरवर्ती सभी आचार्यों को मान्य रहा। संक्षेपतः उनके द्वारा किए गए महाकाव्य में किन-किन तत्त्वों का होना आवश्यक माना गया है वे इस प्रकार हैं-

1. महाकाव्य सर्गों में बंधा होना चाहिए।
2. महाकाव्य का नायक देवता या अच्छे वंश में उत्पन्न क्षत्रिय हो। उसमें धीरोदात्त आदि नायक के गुण विद्यमान हों।
3. कहीं-कहीं एक वंश में उत्पन्न कुलीन अनेक राजा भी नायक हो सकते हैं।
4. शृङ्गार, वीर और शान्त रस में से कोई एक रस प्रधान और अन्य रस गौण होने चाहिए।
5. नाटकीय पांच सन्धियों का वर्णन महाकाव्य में होना चाहिए।
6. महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक या किसी प्रसिद्ध सज्जन से सम्बन्धित हो।
7. नायक को चतुर्वर्ग में से किसी एक की फल की प्राप्ति हो।
8. प्रारम्भ में नमस्कार, आशीर्वाद या वर्ण्यवस्तु का निर्देश होना अपेक्षित है। किसी-किसी महाकाव्य में प्रारम्भ में दुष्टों की निन्दा तथा सज्जनों के गुणों का वर्णन होता है।
9. इसमें न छोटे, न बड़े आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द नहीं चाहिए किन्तु सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिया जाय।
10. कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। आवश्यकता पड़ने पर सर्ग के अन्त में अग्रिम कथा का संकेत भी होता है।
11. महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, नदी, वम, समुद्र, संयोग-वियोग, मुनि, स्वर्ग, नरक इत्यादि का वर्णन भी होना चाहिए।
12. महाकाव्य का नाम कवि के नाम पर या नायक के चरित्र के नाम पर अथवा नायक के नाम पर होना चाहिए।
13. सन्धियों के अङ्ग यथाशक्ति, यथामति रखने चाहिए।
14. ऋषि प्रणीत काव्यों में सर्गों का नाम आख्यान इत्यादि होता है। प्राकृत काव्य में आश्वास होते हैं।[1]

---

1. सा.द. 6.315-325

विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत महाकाव्य के लक्षण के आधार पर ही श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का महाकाव्यत्व निम्न रूप से निर्धारित किया जा रहा है।

1. सर्गबद्धता–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में महाकाव्य के अनुरूप सर्गबद्धता है। इसमें 14 सर्ग हैं, जिनमें 980 पद्य हैं।

2. नायक–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का नायक श्रीबोधिसत्त्व हैं। साहित्यदर्पण में नायक के जो गुण बताए गए हैं वे सभी गुण श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में विद्यमान हैं।[1] वे धीरोदात्त नायक हैं[2] उनमें त्याग भावना है। वे महान् कार्यों को करने वाले हैं।[3] प्रथम सर्ग में वे एक अच्छे वैभव सम्पन्न वैश्य कुल में जन्म लेते हैं।[4] दूसरे सर्ग में भी वे राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ उत्पन्न होते हैं[5] अर्थात् इस महाकाव्य की कथावस्तु में जहाँ पर भी उनका जन्म हुआ है, वहीं वे अच्छे कुल में उत्पन्न हैं। वे बुद्धिमान् हैं।[6] उत्साह से सम्पन्न तथा नाना प्रकार की सम्पत्तियों से युक्त हैं।[7] निरन्तर उत्साही और जनता के साथ प्रेमभाव रखने वाले शीलवान् हैं।[8] जहाँ भी वे जन्म लेते हैं बड़े सौम्य भाव से भरे रहते हैं।[9] वह वैर भाव से रहित तथा अहिंसा के पुजारी हैं। महाकाव्य के नियमानुसार वे एक धीरोदात्त नायक हैं।[10] वे आत्म श्लाघा से सर्वथा रहित हैं। क्षमावान् हैं।[11] गम्भीर प्रकृति के दिखाई देने वाले सुख-दुःख में समान भाव से रहने वाले स्थिर तथा विनीत भाव से सम्पन्न हैं।[12] इस प्रकार महाकाव्य के लिए निर्धारित धीरोदात्त नायक के सभी गुण बोधिसत्त्व में हैं। यद्यपि इस महाकाव्य

---

1. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
   दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता।। -सा.द., 3.30
2. अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः।
   स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः।। वही, 3.32
3. श्री.बो.स.च., 3.90-91
4. वही, 1.5
5. वही, 2.1;5
6. वही, 1.77
7. वही, 13.2
8. वही, 3.17-18
9. वही, 3.78
10. वही, 3.95
11. सा.द., 3.30
12. श्री.बो.स.च., 4.90

के विभिन्न सर्गों में वर्णित विभिन्न चरित्रों से युक्त व्यक्ति पात्र हैं तो भी इन सभी में श्रीबोधिसत्त्व की ही आत्मा की कल्पना की गई है और वह आत्मा भिन्न-भिन्न जन्मों में उत्पन्न बोधिसत्त्व की ही है। अत: बोधिसत्त्व को नायक मानने में किसी भी प्रकार से महाकाव्य के स्वरूप का उल्लंघन नहीं है।[1]

3. ख्यातवंशीय–नायक प्रख्यात राजवंशीय हो या कोई देव विशेष हो। इस काव्य का नायक बोधिसत्त्व एक अच्छे वंश में उत्पन्न है। जहाँ भी उन्होंने जन्म लिया वह एक उन्नत वंश है। इस महाकाव्य का नायक अनेक योनियों में अनेक कुल में उत्पन्न सच्चरित्र दिखाई देता है।[2]

4. रस–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का प्रधान रस धर्मवीर है। इसके नायक बोधिसत्त्व समय-समय पर मर्यादा एवं धर्म का पालन करते हैं तथा धर्म को सर्वश्रेष्ठ समझते हुए उसके लिए सर्वस्व तक न्यौछावर करने के लिए तैयार रहते हैं।[3] गौण रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार रस,[4] शान्त रस इत्यादि भी अपनाए गए हैं।[5]

6. इति-वृत्त–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का कथावृत्त केवल मात्र कल्पित न होकर जातकों पर आधारित हैं। जातक भगवान् बुद्ध की पूर्वजन्म की घटनाओं, उनके तप तथा त्याग, पारमिताओं एवं अन्य सिद्धान्तों का ऐतिहासिक साहित्य है।[6] स्वयं डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने स्वीकार किया कि भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म के चरित्रों को ही इस महाकाव्य में संस्कृत भाषा से मण्डित किया जा रहा है। इससे स्पष्ट है कि यह एक ऐतिहासिक काव्य है।[7]

6. पुरुषार्थ-चतुष्टय–धर्मवीर रस की प्रधानता होने के कारण से इस महाकाव्य में पुरुषार्थ चतुष्टय में विशेष कर धर्म का ही निरूपण किया गया और उसे फलरूप से सर्वतो भावेन धर्म का उपनिबन्धन ही माना गया।[8]

7. महाकाव्य का प्रारम्भ–महाकाव्य का प्रारम्भ वस्तुनिर्देशात्मक है। कवि ने

---

1. श्रीबोधिसत्त्वचरित एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० धर्मेन्द्रनाथ गुप्त, पृ. IVX; XV.
2. श्री.बो.स.च.,1.5; 2.5; 3.5; 5.9; 7.2; 12.2; 13.2
3. वही, 9.43
4. वही, 6.12-19
5. वही, 12.12-15
6. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्, भूमिका, डॉ० रविशंकर नागर, पृ. viii
7. श्री.बो.स.च.,1.1
8. श्रीबोधिसत्त्वचरितम् एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त, पृ. xx

जातकों में वर्णित प्रसिद्ध बोधिसत्त्व के चरित को संस्कृत भाषा में निबद्ध करने का निर्देश देते हुए सर्ग का प्रारम्भ किया।[1]

8. छन्द—कवि ने काव्य का प्रारम्भ इन्द्रवज्रा छन्द से किया है और उपजाति वंशस्थ, भुजंगप्रयात, स्रग्धरा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रिडित, रथोद्धता, स्वागता, अनुष्टुप् इत्यादि छन्दों का प्रयोग किया। कवि का प्रयत्न रहा है कि एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया जाए किन्तु सर्गान्त में निश्चित रूप से महाकाव्य के नियमानुसार छन्द बदल दिया गया है। काव्य में कुल 14 छन्दों का प्रयोग हुआ है।

9. प्रकृति-वर्णन—कवि ने महाकाव्य के नियमानुसार जहाँ भी समय मिला प्रकृति के सुन्दर दृश्यों का वर्णन किया है।[2]

10. मृगया-वर्णन—यद्यपि श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में ऐसे नायक के चरित्र का वर्णन है जो अपने जीवन में निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है तथा अहिंसा का महान् पुजारी है फिर भी महाकाव्य के नियमानुसार इसमें मृगया का वर्णन भी किया गया है। 10वें सर्ग में भल्लाटिय राजा अपना राज्य भार मन्त्रियों को सौंप कर स्वयं मृगया के लिए हिमालय पर्वत पर जाता है और वहाँ हिरणों के मांस खाने की इच्छा से भरपूर शिकार करता है।[3]

11. चन्द्रोदय-वर्णन—सूर्यास्त, चन्द्रोदय के सुन्दर उदाहरण भी काव्य में यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं।[4]

12. नगर-वर्णन—महाकाव्य की परिभाषानुसार कवि ने अरिष्टपुर के वर्णन में कौमुदी महोत्सव के अवसर पर नगर का अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है।[5]

13. यात्रा-वर्णन—महाकाव्य के नियमानुसार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के प्रथम-सर्ग में ही वैश्य द्वारा व्यापार के लिए जाने पर यात्रा का सुन्दर वर्णन है।[6]

14. दूत-प्रेषण—महाकाव्य के नियमानुसार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में भी एक राजा के द्वारा दूसरे राजा के पास दूत भेजे जाने का वर्णन है। राजा कोशलेश अपने

---

1. श्री.बो.स.च., 1.1
2. वही, 1.45-46, 10.12
3. वही, 10.10-11
4. वही, 8.39
5. वही, 8.32-41
6. वही, 1.30-34

दूतों को काशीराज के पास भेजता है। काशीराज भी उनके साथ दूतों जैसा व्यवहार ही करता है और उन्हें धन आदि देकर लौटा देता है।[1]

15. संग्राम-वर्णन–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के तृतीय और चतुर्थ सर्ग में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उस समय के संग्राम का वर्णन है जब कोशलेश काशीराज की सीमाओं पर अपने सैनिक भेजकर उसकी सीमाओं को विध्वंस कर काशीराज के राज्य को छीन लेता है।[2]

16. पुत्र-जन्म–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में भगवान् बुद्ध के जन्म ग्रहण की कथावस्तु होने से प्रथम-सर्ग में राजा ब्रह्मदत्त के घर में बोधिसत्त्व का जन्म तथा द्वितीय सर्ग में उनके जन्म का तथा नामकरण इत्यादि का वृत्तान्त दिखाया गया है।[3]

इस प्रकार महाकाव्य के सभी तत्त्वों के आधार पर श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का परीक्षण करने पर लिखा जा सकता है कि यह एक उत्कृष्ट महाकाव्य है और इसमें महाकाव्य के सभी तत्त्व विद्यमान हैं और (डॉ० सत्यव्रतशास्त्री) के व्यक्तित्व की पूर्ण छाप इस महाकाव्य में देखने को मिलती है। व्यक्तित्व क्या है? इस विषय में यदि संक्षेप से कहा जाये तो कहा जा सकता है कि वह है व्यक्ति के भीतर अदृश्यमान रूप से रहने वाला कोई ऐसा गुण जो उसके जन-समाज से पृथक् करते हुए उसकी किसी विशेषता को प्रकट करे। यह व्यक्तित्व घट में रहने वाले घटत्व के समान नहीं है, क्योंकि घट में रहने वाला घटत्व जाति होती है और वह समान रूप से एक से अधिक वस्तु में रहती है,[4] इसलिए व्यक्ति में रहने वाले व्यक्तित्व को उपाधि कहा जा सकता है। उपाधि प्रत्येक वस्तु में पृथक्-पृथक् रूप में रह सकती है।[5] प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिपात करने से ज्ञात हो जाता है कि उस क्षेत्र में किसी विशेष प्रकार के कार्य करने वाले व्यक्ति में जो एक प्रकार से जनता के द्वारा सम्मान तथा पूज्य भाव स्थापित किया जाता है या उसको विशेष स्थान दिया जाता है वही उसका व्यक्तित्व है। इसको ऐसे भी कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति अपने विशिष्ट कार्यों के द्वारा समाज या व्यक्ति विशेष अथवा विशिष्ट व्यक्तियों पर तथा जन साधारण पर जो प्रभाव छोड़ता है वही उसका व्यक्तित्व है। यदि इसे काव्य की दृष्टि से देखा जाए तो

1. श्री.बो.स.च., 3.86
2. वही, 3.67
3. वही, 1.5; 2.5; 3.5; 7.2 इत्यादि
4. तर्कसंग्रह, व्याख्या.-आचार्य श्रीनिवास, पृ. 16
5. वही पृ. 175

किसी कवि की अपनी जो शैली होती है, भाव होते हैं, भाषा होती है, वह पृथक्-पृथक् ही होती है। यह उसकी प्रतिभा है। प्रतिभा ही काव्य का बीज होता हैं। उसी को उसका व्यक्तित्व भी कहा जा सकता है।[1] उससे ही कवि के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। कवि अपनी कविता के द्वारा, लेखक अपने लेखों के द्वारा, गायक अपने गीतों के द्वारा या अपने मधुर स्वर के द्वारा विद्वत्-समाज पर तथा पाठकों अथवा श्रोताओं पर जो विशेष प्रकार का प्रभाव छोड़ता है जिसके कारण वह जन-जन के मानस में आदर भाव को प्राप्त करता हुआ देश और विदेश में ख्याति प्राप्त करके वहाँ के विद्वानों के द्वारा या जनता के द्वारा या समाज के द्वारा एक विशेष व्यक्ति के रूप में देखा जाता है या स्वीकार किया जाता है वही उसका व्यक्तित्व है।

पद्मभूषण डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के व्यक्तित्व के विषय में भी कुछ ऐसी ही परम्परा है। आपको संस्कृत तथा संस्कृति के उपासक कुल में उत्पन्न होने का सौभाग्य प्राप्त है। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के चरित्र से स्पष्ट है कि वे ऐसे परम आदरणीय पिता के पुत्र हैं जो विद्वानों में अपने अद्वितीय वैदुष्य तथा व्याकरण के पण्डित होने के कारण अभिनवपाणिनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। जिनके नामोच्चारणमात्र से ही उनके व्यक्तित्व का बोध होता था। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने अपनी प्रतिभा से प्राप्त व्यक्तित्व के द्वारा अनेक राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त किये।[2] उन्होंने अपने अध्यापन, प्रशासन तथा संस्कृत के प्रचार और प्रसार में अपने व्यक्तित्व की जो एक अमिट छाप छोड़ी है उसी का फल है कि उन्हें भारतवर्ष के अनेक शिक्षा-संस्थानों, विद्वद्-गोष्ठियों एवं विश्वविद्यालयों में व्याख्यान देने के लिए बड़े आदरभाव से आमन्त्रित किया जाता रहा है।[3] अतः इन्होंने अफ्रीका, आस्ट्रेलिया महाद्वीपों को छोड़ विश्व के सभी महाद्वीपों तथा देशों के विश्वविद्यालयों तथा अनेक संस्थानों में व्याख्याता के रूप में शताधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान देकर संस्कृत-भाषा एवं भारतीय-संस्कृति का न केवल प्रचार और प्रसार ही किया अपितु अपनी विद्वता और व्यक्तित्व के बल पर थाईलैंड जैसे देशों में संस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहित कर वहाँ के विश्वविद्यालयों में संस्कृत-विभाग की स्थापना भी करवाई।[4]

---

1. तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूल-शब्दार्थोपस्थितिः। -र.ग., प्रथम आनन, पृ. 27
2. श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का एक अध्ययन, प्रथम अध्याय, पृ. 40-43
3. श्री.बो.स.च., पृ. 4
4. द्र., पृ. 4

किसी भी कवि के व्यक्तित्व की परख जहाँ सामाजिक, शैक्षणिक इत्यादि क्षेत्रों में प्राप्त मान-सम्मान के द्वारा की जाती है, वहीं उसका व्यक्तित्व उसकी रचनाओं में प्राप्त उसकी विचारधाराओं में निहित होता है। काव्य में कवि की आत्मा निहित होती है। उसके आन्तिरक विचार, भाव, भावनाएँ शब्द तथा अर्थ रूप में साकारता को धारण करते हुए जनसामान्य तक पहुँचते हैं जिससे सामाजिक व साहित्यिक-क्षेत्र में विद्वानों तथा पाठकों के द्वारा उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट रूप से पहचान होती है। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के व्यक्तित्व को उजागर करने वाले यद्यपि उनके सभी काव्य हैं तथापि यहाँ उन सभी काव्यों को लक्षित न करते हुए विशेषरूप से श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य में कवि-प्रौढोक्ति द्वारा प्रतिपादित उनके विचारों से ही उनके व्यक्तित्व की उत्कृष्टता का केवल आभास ही नहीं होता अपितु पाठक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के व्यक्तित्व की अपूर्व पहचान है कि विद्वान् होने पर भी विद्वानों के प्रति उनका आदर-भाव। उनके पत्र-काव्य में ऐसे अनेक पत्र हैं, जो उन्होंने अपने मित्रों या विद्वानों या परिचित व्यक्तियों के लिए समय-समय पर भेजे। उन पत्रों में से उनके विनम्र व्यक्तित्व की पूर्ण झलक श्री बटुकनाथशास्त्री खिस्ते के लिए भेजे गए पत्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।[1] महाकवि के व्यक्तित्व का आधार उनकी सत्य के प्रति निष्ठा है। उनकी यह निष्ठा श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के पंचम-सर्ग में एक रमणी के द्वारा सच्चाई व्यक्त करने पर उससे प्रसन्न होकर राजा द्वारा उनके प्रियजनों के लिए कवि द्वारा कहलाए गए वचनों से इस प्रकार प्रकट हो रही है कि-

"हे देवि ! तुम्हारे उत्तर को सुनकर मैं प्रसन्न हूँ। तुमने सत्य कहा है इसलिए तुम अपनी इच्छानुसार इन तीनों (पुरुषों) में से एक को ले लो। मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें प्रदान करता हूँ।[2] कविवर शास्त्री गुण और कर्म के पक्षपाती हैं। वे किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व की महानता और कीर्ति उसके कर्मों पर निर्भर मानते हैं। कर्म द्वारा वे किसी को भी सिद्धि प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। स्वयं उनका व्यक्तित्व भी कर्म में ही निहित है। सत्कर्म द्वारा उन्हें जिस व्यक्तित्व की प्राप्ति हुई उसी व्यक्तित्व के आधार पर वे पाठकों को भी उसी मार्ग पर चलने का उपदेश देते हुए दिखाई देते हैं। इस बात की पुष्टि उनके द्वारा स्वीकृत नाम के पात्र पापक द्वारा अपने गुरु के समक्ष

---

1. प.का., पृ.17, श्लो., 1-4
2. श्री.बो.स.च., 5.15

कहे गए वचनों से होती है कि – कर्म द्वारा ही श्रेय सिद्धि होती है, नाम से क्या होता है।[1] यही कविवर डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के व्यक्तित्व की विशेषता है कि वह सत्कर्म करते हुए अपने काव्यों में भी उसी प्रकार की कथावस्तु का संकलन करते रहे हैं, इसीलिए वह पाठकों को संकेत करते हैं कि–

निर्मल बुद्धि वाले आर्य जनों को सर्वदा श्रेष्ठ कर्म करना चाहिए।[2] इस संसार में सर्वत्र कर्म द्वारा ही प्रयोजन की सिद्धि होती है।[3] उनका मानना है कि इस प्रकार जो यह पापक नामक शिष्य के चरित्र की लघु कथा वर्णित की गई है इसका तात्पर्य यही है कि केवल नाम से नहीं अपितु गुणों से अभिष्ट सिद्धि प्राप्त होती हैं। नाम चाहे शुभ हो या अशुभ हो इससे मनुष्य के व्यक्तित्व के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[4]

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री नारी को एक शक्ति के रूप में देखते हैं। जिस प्रकार डॉ० सत्यव्रतशास्त्री का अपना सुदृढ़ व्यक्तित्व है। नारी–जाति में भी उसी प्रकार की दृढ़ता वे देखते हैं। उनका मानना है कि नारी कृष–काय तथा कोमल–हृदया होती हुई भी समय आने पर एक पर्वतीय नदी के जल के बहाव के समान दृढ़ होती है, जिस प्रकार पर्वतीय नदी के जल के प्रवाह को रोकना कठिन है इसी प्रकार नारी की दृढ़ शक्ति को रोक पाना भी संभव नहीं है।[5] देश के प्रति उनका अगाध प्रेम उनके व्यक्तित्व को ही विकसित नहीं करता अपितु **"जननी जन्मभूमिश्च स्वगादपि गरीयसी"** का स्मरण भी कराता है।

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री विदेशों में रहते हुए भी प्रतिपल अपनी जन्मभूमि भारत को याद करते रहे हैं। विदेशों में सब कुछ सुलभ होने पर भी वहाँ प्राप्त सुख–सुविधाओं को अकिञ्चिन समझते हुए चार मास के प्रवास को चार वर्ष के बराबर मानते हैं। यह बात बैल्जियम से डॉ० कृष्णलाल के लिए लिखे गए पत्र से स्पष्ट होती है।[6]

यद्यपि कविवरशास्त्री कर्म पर विश्वास रखते हैं फिर भी उनका मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करते हुए कभी–कभी पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं भी होती फिर भी व्यक्ति को कार्य करते रहना चाहिए। उसे चरित्रवान् होना चाहिए क्योंकि चरित्रवान्

---

1. श्री.बो.स.च., 14.45
2. वही, 14.38
3. वही, 14.39
4. वही., 14.41
5. इ.गा.च., 9.21
6. प.का., पृ. 73, श्लो.8

धीर–पुरुष की कहीं भी हानि नहीं होती।[1] प्रतीत होता है कि कवि के जीवन में ऐसा समय अवश्य आया होगा जहाँ कवि कार्य करता हुआ थक गया हो, उसका मनोबल डगमगा गया हो और अन्त में उसे लिखना ही पड़ गया हो कि–"बलवति सति दैवे पूरुषः को वराकः"।[2] इस विषय में किसी भी प्रकार से विद्वानों में दो राय नहीं हो सकती कि व्यक्तित्व और प्रतिभा के धनी डॉ० सत्यव्रत शास्त्री व्याकरणशास्त्र के एक उच्चकोटि के विद्वान् हैं। यह व्याकरणगत पाण्डित्य उन्हें विरासत के रूप में अपने पितृचरण आधुनिकपाणिनि पण्डित चारुदेवशास्त्री से प्राप्त है। इतना होने पर भी उनका व्यक्तित्व इसीलिए अनुकरणीय है कि उन्होंने अपने पाण्डित्य को दिखाने के लिए अपनी रचनाओं को व्याकरण की नीरसता से सर्वदा दूर रखा फिर भी स्वभावतः काव्य में कतिपय इस प्रकार से शब्द आए हैं जो उनके व्याकरणगत वैदुष्य को प्रकट करते हैं।[3] कुछ स्थानों पर कवि द्वारा स्वभावतः ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ जिनका उल्लेख किसी–किसी कोष ग्रन्थ में ही प्राप्त होता है जैसे– अपीप्यत्, अपपारम्, अषीलि, सममीलि, चूचूर्यमाण, पाटूपट, अयट्यमान्, आभील, मङ्क्षु, वियाता इत्यादि।[4] कहीं–कहीं स्वाभाविक रूप से न दिखाई देने वाला उनका वैदुष्य शब्द रचना के रूप में झलकता हुआ उनके व्यक्तित्व को प्रदर्शित करता है जैसे – 14वें सर्ग में पापक की कथा में जब पापक गुरु के कहने पर अपना सुन्दर नाम ढूंढने के लिए निकलता है। सर्वप्रथम उसे जीवक नाम का व्यक्ति मरा हुआ दिखाई देता है। उसकी यह जिज्ञासा हुई कि यह जीवक नाम से प्रसिद्ध अर्थात् दीर्घ आयु वाला कैसे मर गया? क्योंकि जीवक का अर्थ है चिरंजीवी, पाणिनि ने ऐसी भूल कैसे कर दी? पर यहाँ यह मृत है। कविवर समाधान करते हुए अपने वैदुष्य का परिचय देते हुए कह रहे हैं कि इसमें पाणिनि की तनिक भी भूल नहीं क्योंकि जब जीवक शब्द में जीव्यात् अयं इस प्रकार की व्युत्पत्ति से आशी अर्थ में जीव से वुन् प्रत्यय किया जाय तब जीव्यात् का अर्थ होगा चिरंजीव।[5] किन्तु जब कुत्सित अर्थ में कन् प्रत्यय किया जाएगा तब जीवक का अर्थ होगा कुत्सित अर्थात् निकृष्ट।[6] इस प्रकार कवि एक ही

---

1. श्री.बो.स.च., 1.102
2. वही, 13.27
3. वही, 1.25, 6.19, 9.27, 11.3, 13.4 इत्यादि
4. वही, 10.3, 10.36, 13.100, 1.64, 3.36, 6.2, 3.90, 3.51, 8.83
5. पा.अ., 3.1.50
6. कुत्सिते - पा.अ., 5.3.74

समय में एक ही शब्द से दो अर्थों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। बोलचाल के शब्दों का भी विशेष रूप से प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं जैसे बांट,[1] अष्टादशे जून दिने[2] रेले न यातव्यम्,[3] रेलविरामभूमि[4] (रेलवे स्टेशन) इत्यादि।

भारतीय संस्कृति के उपासक डॉ० सत्यव्रतशास्त्री अहिंसा तथा क्षमा के परम पुजारी हैं। उनकी यह अभिव्यक्ति श्रीबोधिसत्वचरितम् के तृतीत तथा चतुर्थ-सर्ग में वर्णित कोशलपति तथा शीलवान् राजा के चरित्र से स्पष्ट होती है। कवि का राजा शीलवान् के द्वारा यह कहलाना कि – हिंसक के प्रति हिंसा का व्यवहार करने से हिंसा की भावना बढ़ती है, अतः परम सुख की उपलब्धि के लिए अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ है।[5] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री का व्यक्तित्व इससे और भी महनीय हो जाता है जब वे राजा केशलपति द्वारा शीलवान् राजा को कष्ट पहुँचाए जाने पर भी उसको क्षमा कर देते हैं। उन्होंने क्षमा को इतना महत्त्व दिया कि पूरे दो सर्गों में उस कथावस्तु का वर्णन किया जिसके मूल में क्षमा का समावेश है।[6]

1. श्री.बो.स.च.,1.24
2. श.दे.सु.वि.,11
3. वही, 16
4. वही, 16
5. श्री.बो.स.च., 3.80
6. वही, तृतीय एवं चतुर्थ-सर्ग

3
रस सिद्धान्त

(क) काव्य में रस का स्थान तथा महत्त्व

काव्य शास्त्र की परम्परा में रस का स्थान सर्वोपरि है। आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रस शब्द उतना ही प्राचीन है जितना वेद। रस शब्द वेद में कई स्थलों पर पाया जाता है तथा इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। ऋग्वेद में 'रसेन सभगस्महि' इस मन्त्र में रस शब्द जल के सार का बोधक है।[1] दूसरे स्थान पर 'जम्भे रसस्य वावृधे' रस शब्द गो-दुग्ध का वाचक है।[2] एक अन्य मन्त्र "धनंजयः पवते कृत्व्यो रसो विप्रःकविः काव्येना स्वर्चनाः'।[3] में रस से कवि, काव्य और रस का अभिप्रेत है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ जो कवि और रस के सम्बन्ध का प्रतिपादन हुआ वही बाद में काव्य और रस के सम्बन्ध का आधार हुआ होगा। इसके साथ ही 'यो वः शिवतमो रसः'।[4] यहाँ जो जल से सम्बन्धित रस है वह शिवतम अथवा आनन्दमय कहा गया है। ऋग्वेद में काव्य-रस की आनन्दमयता के मूल ऐसे अनेक मन्त्र हैं। उपनिषदों में आए हुए रस शब्द को काव्यगतरस की पुष्टि के लिए प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया।[5] उपनिषदों में आस्वाद्य अर्थ में भी रस प्रयोग हुआ है।[6] देखा गया है कि दार्शनिकों के द्वारा जिस प्रकार आत्मतत्त्व को समक्ष रखकर विचार किया गया, उसी प्रकार नाट्यशास्त्र में नाटक के आत्मभूत तत्त्व रस को समक्ष रखकर नाटकीय-तत्त्वों का विवेचन हुआ, जिसका वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है।

---

1. ऋ.वे., 1.23.23
2. वही, 1.37.5, 5.44.13
3. वही, 9.84.5
4. वही, 10.9.2 तथा शु.यजु.वे., 11.51
5. यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। -तै.उ., 2.7.1
6. यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै...। - बृ.उ., 4.3.25

(1) भरतमुनि–काव्य में रस को महत्त्व देते हुए भरतमुनि को यह कहना पड़ा कि नाट्य शास्त्र में रस के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का प्रवर्तन नहीं किया जा सकता।[1] कुछ आचार्यों के मत में भरत से भी पूर्व रस की मान्यता एवं उसका स्वरूप निर्धारित हो चुका था, क्योंकि भरत ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के ही मानदण्डों को आधार मान कर रस का विस्तार से विवेचन किया।[2] काव्यमीमांसा में नन्दिकेश्वर को रस का प्रतिपादक माना गया है।[3] डॉ० नगेन्द्र का मानना है कि कामसूत्र में पर्याप्त रूप से रस के सिद्धान्त मिलते हैं। उनके मत में वात्स्यायन का कामसूत्र ही भारतीय नाट्यसाहित्य तथा नाट्यशास्त्र का प्रमुख आधार रहा है।[4] इस दिशा में जिन प्रमुख आचार्यों ने कार्य किया उनका संक्षेप से परिचय इस प्रकार है।

(2) भामह–भरतमुनि के बाद भामह का नाम काव्यशास्त्र में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ लिया जा सकता है। भरत और भामह के मध्य कोई भी रस मीमांसा विषयक ग्रन्थ नहीं मिलता केवल अलङ्कार सम्बन्धी ही ग्रन्थ प्राप्त होता है। भामह का काव्यालङ्कार काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अलङ्कारों की अपेक्षा रस को गौण मानते हुए इन्होंने रस, भाव इत्यादि को अलङ्कारों में अन्तर्भूत किया। उनका कथन है कि जहाँ स्पष्ट रूप से रस इत्यादि दिखाए गए हों वहाँ रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कार ही होते हैं।[5] ऐसी धारणा होने पर भी वे रस जैसे तत्त्व को नकार नहीं सके और उन्होंने अपने ग्रन्थ में महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्वों को गिनाते समय रस को भी स्वीकार किया।[6]

(3) अग्निपुराण–अग्निपुराण में रस को प्राण मानते हुए काव्य के लिए आत्मस्वरूप मानकर अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया।[7] धनञ्जय तो रस के इतने समर्थक हैं कि उन्होंने रस के महत्त्व को नाट्य और काव्य तक सीमित न रखकर संसार की प्रत्येक वस्तु तक जोड़ दिया। उनके मत में संसार की अच्छी और बुरी,

---

1. न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। –ना.शा., षष्ठ अध्याय, रस निरुपण, पृ.228
2. भारतीयशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, प्रो. राजवंशसहाय हीरा, पृ.198
3. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। –का.मी., प्रथम अध्याय, पृ.39
4. रस.सि., डॉ० नगेन्द्र, पृ.11
5. रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा।
   देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता।। –काव्यालङ्कार, 3.6
6. युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। –वही, 1.21
7. अ.पु., 337.33

रमणीय या घृणित ऐसी कोई वस्तु नहीं जो कवि की भावना को प्राप्त कर रस या भावरूप न बन जाती हो।[1]

(4) दण्डी–दण्डी अलङ्कारवादी तथा गुणवादी आचार्य होने पर भी भामह के समान रस के प्रति अनुदारवादी नहीं दिखाई देते और काव्य में रसों का महत्त्व स्वीकार करते हैं।[2] यद्यपि ये गुणों को काव्य में आत्मरुप से स्वीकार करते है पर रस के महत्त्व से पूर्णतः परिचित हैं और रस की मान्यता से पीछे नहीं हटते तथा रस की स्थिति भी स्वीकार करते हैं। वे रस के स्थायीभाव तथा रस की पृथक्ता को जानते थे। इनके ग्रन्थ में रस के कई उदाहरण मिलते हैं।[3] ये रस के विषय में भरतमुनि के मत से प्रभावित थे तथा इन्होंने विभावानुभावादियों से पुष्ट स्थायी–भाव को रस मान कर उदाहरण दिये हैं।[4]

(5) उद्भट–उद्भट ने अलङ्कार विवेचन के प्रसङ्ग में रस का विवेचन करते हुए उसको (रस) रसवद्–अलङ्कार के अन्तर्गत माना तथा लिखा कि शृङ्गारादि रसों को परिपुष्ट करने वाला शृङ्गार आदि शब्द विभाव आदि से परिपुष्ट होने वाला रसवद् अलङ्कार है। इन्होंने शान्त–रस को स्वीकार करते हुए उसको नवम रस के रुप में स्वीकार किया।[5]

(6) वामन–वामन ने स्पष्ट रूप से तो नहीं किन्तु प्रकारान्तर से रस के महत्व को स्वीकार किया। इन्होंने काव्यों में नाटकों को श्रेष्ठ माना क्योंकि नाटक के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है।[6] इन्होंने काव्य के नित्यधर्म गुणों में रस का अन्तर्भाव करके रस को नित्य माना और कान्ति नामक गुण के लक्षण में रस को लक्ष्य करते हुए उसके महत्त्व को स्वीकार किया।[7]

(7) रुद्रट–रुद्रट रस के प्रबल समर्थक हैं। यही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अलङ्कारवादी होते हुए भी रस को काव्य में महत्त्व प्रदान किया और अपने ग्रन्थ के चार अध्यायों में रस का विवेचन किया। रस का महत्त्व बताते हुए इन्होंने लिखा कि

---

1. रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं....लोके। –द.रू., 4.85
2. काव्यादर्श, 2.275
3. वही, 1.51
4. वही, 2.81–85
5. नव नाट्ये रसाः स्मृताः। –का.सा.सं., 4.4–5
6. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। –का.सू., 1.2.30
7. दीप्तरसत्वं कान्तिः। –वही, 3.2.15

कवियों को काव्य में रस का निरूपण करना चाहिए। रस के बिना काव्य काव्य न होकर काव्यशास्त्र मात्र रह जायेगा।[1] इस प्रकार इन्होंने आचार्यों द्वारा उपेक्षित रस का मार्ग प्रशस्त किया तथा भरतमुनि द्वारा स्वीकृत आठ रसों में शान्त और प्रेयस् को जोड़कर रसों की संख्या 10 कर दी।[2]

(8) रुद्रभट्ट–रुद्रभट्ट ने अपने शृङ्गारतिलक में रस क़ो नाट्य के साथ-साथ काव्य के लिए आवश्यक तत्त्व बताकर काव्य में भी रस के महत्त्व की उद्घोषणा की।[3]

(9) भट्टतौत–भट्टतौत भी नाटक और काव्य दोनों में रस मानने के पक्षपाती थे। यद्यपि उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, पर अभिनवभारती में प्राप्त उनके मत से इसकी पुष्टि होती है। इनके मत से रससिद्ध कवि के लिए दर्शन एवं वर्णन दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं।[4]

(10) आनन्दवर्धनाचार्य–ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने ध्वनि की स्थापना के लिए ध्वनिविरोधियों का खण्डन करते हुए एक प्रकार से रस को ही काव्य में महत्त्व प्रदान करते हुए काव्य तथा नाटक दोनों के लिए रस को अनिवार्य माना।[5] उन्होंने शान्तरस को भी पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया।[6]

(11) राजशेखर–राजशेखर प्रथम आचार्य हुए हैं, जिन्होंने रस को काव्य की आत्मा मानते हुए रस को महत्त्व प्रदान कर आगे के आचार्यों को भी काव्य में रस की प्रधानता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।[7]

(12) कुन्तक–वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले कुन्तक भी रस को उचित स्थान प्रदान करते दिखाई देते हैं। इन्होंने रस को काव्य में अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया। इनके मत से बड़े से बड़े कवि को भी कथावस्तु में काव्यत्व प्रदान

---

1. काव्यालङ्कार, रुद्रट, 12.1-2
2. वही, 12.3
3. प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यैः रसस्थितिः।
   यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते।। -शृङ्गारतिलक, 1.5
4. रससमुदायो हि नाट्यम्। न नाट्य एव च रसाः काव्येऽपि नाट्यमान एव रसः।
   काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इति।। -ना.शा., अ.न.भा. 504-05
5. ध्व., 3.21
6. वही, पृ. 344-349
7. का.मी., तृतीय अध्याय, पृ. 74

करने के लिए रस की परम आवश्यकता होती है क्योंकि काव्य बिना रस के निष्प्राण हैं।[1]

(13) महिमभट्ट—ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनि का प्रबल विरोध करते हुए भी रसवादी आचार्यों के सदृश काव्य में रसध्वनि का पूर्ण रूप से समर्थन करते हुए रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना।[2] वे रस को अनुमेय मानते हैं। रस चाहे अनुमेय हो या अभिव्यञ्जित पर उन्होंने रस को काव्य की आत्मा मानते हुए रस विषयक अनौचित्य को दोष माना है तथा औचित्य के बिना रसानुभूति को संभव नहीं माना।[3]

(14) भोज—भोज काव्य में रस को स्थान देने के पक्षपाती हैं। शृङ्गार का महत्त्व बताते हुए उन्होंने लिखा कि यदि कवि शृङ्गारिक है, तो सम्पूर्ण संसार सरस होता है, यदि कवि शृङ्गार रहित है तो नीरस। अतः उन्होंने सम्पूर्ण वाङ्मय को वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति में विभक्त कर केवल रसोक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। उनका मानना है कि चाहे विद्वान् कुछ कहें केवल शृङ्गार रस ही एक मात्र रस है।[4]

(15) क्षेमेन्द्र—क्षेमेन्द्र काव्य की आत्मा रस मानते हैं पर साथ ही रस की आत्मा औचित्य को स्वीकार करते हैं। रस के अभाव में अनौचित्य युक्त काव्य को वह काव्य नहीं मानते।[5]

(16) रुय्यक—राजानक रुय्यक रसादि को काव्य का प्राणभूत तत्त्व मानते हैं तथा रस को अलङ्कार से भिन्न मानकर उनमें उपकार्य-उपकारी भाव स्वीकार करते हैं।[6]

(17) मम्मट—काव्य में निर्भ्रान्त रूप से रस को महनीय स्थान प्रदान कराने वाले आचार्य मम्मट हैं। यद्यपि इनसे पूर्व अभिनवगुप्त रस की मान्यता स्वीकार कर चुके थे पर उन्होंने रस की केवल व्याख्या की है। काव्य में उसका स्थान निर्धारित करने वाले आचार्यों में मम्मट का स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि मम्मट ध्वनि प्रतिपादक

1. व.जी., 3.14-15
2. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः। संज्ञायां सा,। -व्य.वि.,1.26
3. वही, पृ. 157
4. शृ.प्र., 5.1-4,8
5. औ.वि.च., कारिका 5
6. अ.स., पृ. 32

आचार्य माने जाते हैं पर उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती रसविरोधी आचार्यों का तर्कपूर्वक खण्डन करते हुए रस को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। उनके मत में जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर निष्प्राण है, इसी प्रकार रस के बिना काव्य भी निष्प्राण है।[1] उत्तरवर्ती आचार्यों में रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनय एवं भानुदत्त इत्यादि आचार्यों ने रस को अलङ्कार्य एवं अलङ्कारों को उसका उपस्कारक माना है।[2]

(18) विश्वनाथ—विश्वनाथ तो रस के इतने समर्थक हैं कि उन्होंने काव्य का लक्षण ही रसात्मक रूप में किया तथा रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशबलता, भावप्रशमन और भावसन्धि इन सभी को रस के अन्तर्गत मान लिया।[3] उन्होंने गुण, अलङ्कार, वृत्ति, औचित्य, वक्रोक्ति, रीति इत्यादि सभी को काव्य के लिए स्वीकार तो किया पर गौण रूप से।[4]

(19) केशवमिश्र—केशवमिश्र भी रस को काव्य में आत्मस्थानीय मानते हैं।[5]

(20) पण्डितराजजगन्नाथ—पण्डितराजजगन्नाथ ने दार्शनिक पद्धति को अपनाते हुए रस को सत्- चित्–आनन्दस्वरूप माना और उसकी पुष्टि में वैदिक मन्त्र को उद्धृत किया।[6] इनकी रस विषयक अपनी कई एक ऐसी मान्यताऐं हैं जिससे रस का स्थान काव्य में आत्मा के रूप में इतना सुदृढ़ हो गया कि उत्तरवर्ती आचार्य रस के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व को काव्य का जीवनाधायक तत्त्व न मान सके।[7] उन्होंने रस को शुद्ध आत्म–चैतन्य मानकर यह प्रतिपादन किया कि काव्य के लिए चैतन्य स्वरूप रस का होना नितान्त आवश्यक है इसलिए उन्होंने रस को भग्नावरणाचित् रूप माना है। उनके मत में वही आस्वाद है और वही चर्वणा। इस प्रकार पण्डितराज ने काव्य में रस को वह स्थान प्रदान किया जो स्थान वेदान्तियों ने अचिद्–रूप शरीर में चिद्–स्वरूप आत्मा को।[8]

---

1. का.प्र., 8.1, वृत्तिः, पृ. 284
2. ना.द., कारिका 123, सूत्र 177 की वृत्तिः
3. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। –सा.द., प्रथम परिच्छेद, काव्य का स्वरुप, पृ. 19
4. वही, 1.3
5. रसः आत्मा परे मनः। - अ.शे., 2.1
6. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति इति। - तै.उ., 2.7.1
7. रसगङ्गाधर का काव्य शास्त्रीय अध्ययन, डॉ० प्रेमस्वरूपगुप्त, पृ. 220
8. र.ग., प्रथम आनन, रस स्वरुप, पृ. 96

रस का स्वरूप

रस के दीर्घकालीन इतिहास में सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों में रस स्वरूप के विषय में भरत का नाट्यशास्त्र कुछ दिशा निर्देश करता है। उन्होंने वहाँ रस विषयक जो सूत्र लिखा वही सूत्र उत्तरवर्ती आचार्यों के रस परिभाषा तथा निष्पत्ति का मूल बीज रहा। भरतमुनि ने रस के प्रसङ्ग में लिखा कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है।[1] इस सूत्र में भरत ने निष्पत्ति के विषय में कहा, पर लक्षण के विषय में नहीं किन्तु सूत्र के व्याख्याकार अभिनवगुप्त इस सूत्र को ही भरतमुनि कृत रस का लक्षण भी मानते हैं। उनका मानना है कि भरतमुनि ने स्वयं स्पष्टीकरण करते लिखा कि जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों तथा नाना प्रकार के व्यञ्जनों एवं औषध आदि से प्रपाणक (जलजीरा) जैसे स्वादिष्ट रस उत्पन्न हो जाया करते हैं इसी प्रकार आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव और सञ्चारी भावों के मेलन से सहृदयों के हृदय में विद्यमान स्थायीभाव रस रूप में प्रकट होता है।[2] साथ ही रस-आस्वाद के विषय में भी उनका मानना है कि जिस प्रकार किन्हीं व्यक्तियों द्वारा नाना प्रकार के पदार्थों से निष्पन्न व्यञ्जन आदि का रसास्वादन किया जाता है, इसी प्रकार अनेक भावों तथा नट-नटी के आङ्गिक, वाचिक तथा सात्विक अभिनयों के द्वारा व्यक्त किए गए स्थायीभाव का सहृदय सामाजिक रसास्वादन करते हैं।[3] रसास्वादन के विषय में श्रीमन्नारायण कवि का मानना है कि विश्रान्ति की स्थिति चमत्कार है और वह रसास्वाद के समय ही संभव हो सकती है अन्यथा नहीं। रस का अपर-पर्याय चमत्कार नहीं है अपितु वही रसास्वाद है और वह उन्हीं को होता है जो पूर्वजन्म से पुण्यात्मा हो।[4] आचार्य मम्मट रस के परम पोषक हैं। उन्होंने काव्यप्रकाश में विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी तथा स्थायीभाव के पारस्परिक संयोग के द्वारा रस की अभिव्यक्ति का उल्लेख किया है। उनके मत में लौकिक व्यवहार में चित्तवृत्तियों के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं उनको ही जब कवि काव्य और नाटक में अपनाते हैं और कवि उनका वर्णन करते हैं तब वे ही सहृदयों के हृदय में वासना रूप से स्थित रति इत्यादि स्थायीभावों की अभिव्यक्ति में विभाव-अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव

1. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। -ना.शा., षष्ठ अध्याय, रस सूत्र पृ. 228
2. यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद् रसनिष्पत्तिर्भवति। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यै-र्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। -वही, पृ. 251
3. वही, 6.33-34,
4. रसे सारश्चमत्कारः.....। सा.द., तृतीय परिच्छेद, पृ. 49

कहे जाते हैं[1] और उन विभाव इत्यादि के द्वारा व्यक्त रति इत्यादि स्थायीभाव ही रस कहलाता है।[2] आचार्य विश्वनाथ के मत में रस की परिभाषा इस प्रकार है–

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्।।[3]

अर्थात् विभाव–अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से ही रति इत्यादि स्थायी भाव रस रूप में परिणत होता है। व्यक्त से तात्पर्य यहाँ किसी वस्तु का प्रकारान्तर से परिणत होना है, न कि नूतन रुप से प्रकट होना। तात्पर्य है कि जिस प्रकार खट्टा मिलाने से दूध दही रूप में परिणत हो जाता है और तदनन्तर दूध पृथक् रूप से प्रतीत नहीं होता इसी प्रकार विभावादि स्थायीभावों की सहायता से रसरूप में परिणत हो जाने पर तत्–तत् स्थायीभाव पृथक् रूप से नहीं दिखाई देते जिस प्रकार प्रपाणक (जलजीरे) में कटु, तिक्त, अम्ल, लवण.., इत्यादि सभी रसों के विद्यमान होने पर भी उनकी अलग–अलग प्रतीति नहीं होती ठीक इसी प्रकार रसावस्था में विभावादियों की पृथक्–पृथक् प्रतीति न होकर समूहालम्बनात्मक रूप से प्रतीति होती है। यही व्यक्त शब्द का अर्थ है न कि अंधेरे में रखे हुए घट का दीपक के द्वारा प्रकट होना।[4]

विश्वनाथ रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए लिखते हैं कि– रस की अनुभूति सत्व गुण सम्पन्न सहृदयों के हृदय में ही होती है प्रत्येक के नहीं। रस अखण्ड है, स्वप्रकाश है, ऐन्द्रिय आनन्द से भिन्न, अनिर्वचनीय आनन्द सदृश एवं अलौकिक है।[5] रसावस्था में प्रमाता को अपने पराए का भाव नहीं रहता। रस देश कालातीत वस्तु है। आत्मा का विषय है। रस ब्रह्मानन्द सहोदर है न कि ब्रह्मानन्द क्योंकि ब्रह्मानन्द में लौकिक विषयों का कदापि भान नहीं रहता जबकि रसावस्था में लौकिक विषयों का भान होता रहता है।[6]

---

1. का.प्र., 4.27
2. व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः। –वही, 4.28
3. सा.द., 3.1
4. वही, 3.15
5. सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
   वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मस्वादसहोदरः।।
   लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
   स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। वही, 3.2-3
6. वही, 3.2

रस संसारिक विषयों से भिन्न है। संसारिक वस्तुएं या तो कारण होती हैं या कार्य लेकिन रस न तो ज्ञाप्य है और न कार्य।[1] यह निर्विकल्पकज्ञान नहीं है तथा आस्वाद्य मात्र होने के कारण सविकल्पक ज्ञान भी नहीं माना जाता।[2] यह अतीन्द्रिय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसकी इन्द्रियों से प्रतीति हुआ करती है। अतः द्विविध-ज्ञान से भिन्न होने के कारण अलौकिक है।[3] रस लौकिक हर्ष-शोकादि से भिन्न आनन्द स्वरूप है। काव्य या नाटक में शोक या दुःखमयी घटनाओं के वर्णन से भी पाठक एवं दर्शक को एक प्रकार से आनन्द की ही अनुभूति होती है। अभिमन्युवध आदि नाटक दर्शकों को आनन्ददायक ही होते हैं। यदि नाटक दुःखात्मक होते तो सामाजिकों की प्रवृत्ति उनको देखने की न होती।[4] रस ऐसी विलक्षण वस्तु है कि, न इस को नित्य कहा जा सकता है और न अनित्य। यदि रस को नित्य माना जाए तो विभावादियों के ज्ञान के पूर्व भी रसानुभूति होनी चाहिए पर रस ऐसा नहीं। अनित्य इसलिए नहीं कि विभावादियों की अवधिपर्यन्त रस की निरन्तर अनुभूति होती रहती है।[5] रस भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों से रहित है। भूत का साक्षात् नहीं होता, जबकि रस का साक्षात्कार होता है। भविष्यत्वस्तु की वर्तमान में प्रतीति संभव नहीं जबकि रस की प्रतीति विभावादियों के विद्यमान होने पर होती रहती है।[6] विभावादियों की विद्यमानता में उसका (रस) का साक्षात्कार होने के कारण वह परोक्ष-ज्ञान नहीं है। अनुकार्य होने के कारण अपरोक्ष-ज्ञान भी नहीं है।

परम्परागत पण्डितराजजगन्नाथ ने रस स्वरूप का निरूपण यद्यपि अभिनवगुप्त, मम्मट इत्यादि आचार्यों के अनुसार ही किया है तथापि उन्होंने कुछ एक स्थानों पर रस निरूपण में वेदान्तदर्शन की प्रक्रिया को भी अपनाया है।[7] वे रसास्वाद एवं ब्रह्मास्वाद की प्रक्रिया को एक समान मानते हुए उसी दृष्टि से रस की परिभाषा करते दिखाई देते हैं। उनके मत में जब स्थायीभाव सत्य एवं विज्ञान स्वरूप होने के कारण स्वतः-प्रकाशस्वरूप आत्मानन्द के समान अनुभव में आते हैं तब वे स्थायीभाव

---

1. यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मक, तस्मान्न कार्यः। सा.द., 3.20
2. वही, 3.24
3. वही, 3.26
4. वही, 3.4-5
5. वही, 3.21
6. वही, 3.22
7. र.ग., रस निष्पत्ति प्रकरण।

कहलाते हैं[1] किन्तु उन स्थायीभावों से उस आनन्द का अनुभव या आस्वादन तब तक नहीं होता जब तक आत्मा अज्ञान रूपी आवरण से आच्छादित रहती है। जब उस चैतन्य के उपर से अज्ञान का आवरण हट जाता है तब रसचर्वणा होती है। वस्तुतः अज्ञान–आवरण का हटना ही रसचर्वणा है।[2]

इनके मत में यदि दूसरे ढंग से कहा जाये तो अन्तःकरण की वृत्तियों का आनन्दाकार होना ही रस है। अतः वेदान्त से प्रभावित पण्डितराजजगन्नाथ सविकल्पक एवं निर्विकल्पक समाधि में से सविकल्पक समाधि काल में विद्यमान आनन्दाकारचित्तवृत्ति से सदृश रस को मानते हुए कहते हैं कि – जिस प्रकार साधक को सविकल्पकसमाधि में संसारिक पदार्थों का ज्ञान नहीं रहता वह केवल ब्रह्मानन्द में लीन रहता है, इसी प्रकार स्थायीभावों से युक्त आनन्दाकारः वृत्ति ही रस कही जाती है।

रसनिष्पत्ति

रस के स्वरूप के अनन्तर जिज्ञासा है कि रस की काव्य तथा नाटक में किस प्रकार से निष्पत्ति होती है? कैसा अनुभव होता है? वह अनुभव किसको होता है? इसका समाधान उपलब्ध ग्रन्थों में केवल मात्र भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित निम्न सूत्र से मिलता है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरतमुनि ने स्वयं भी विस्तार रूप से इसकी व्याख्या भी की है।[3] इसी सूत्र को आधार मान कर इसमें पठित संयोगाद् तथा निष्पत्ति इन दो पदों को लेकर अनेक विद्वान् अपने-अपने सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या करते आये है। इनमें से सर्वप्रथम व्याख्याकार चार मुख्य हैं वे इस प्रकार से हैं।

(1) भट्टलोलट्ट – (उत्पत्तिवाद)–आचार्य भट्टलोलट्ट उत्पत्तिवादी हैं। इनके मत में नायिका आदि आलम्बन तथा उद्यान या चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारण से नायक आदि आश्रय में स्थायीभाव उत्पन्न होता है। तदनन्तर कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभाव रूपी कार्यों से वह प्रतीति योग्य बनाया जाता है। निर्वेद आदि व्यभिचारी

---

1. चिरं चितेऽवतिष्ठन्ते, सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
   रसत्वं ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते।। र.ग., प्रथम आनन, पृ. 138
2. तदाकारान्तः करणवृत्तिर्वा। वही, पृ.95
3. ना.शा., पष्ठ अध्याय, रस लक्षण सूत्र

कारणों से परिपुष्ट होता है और तब रस की उत्पत्ति होती है।[1] उनके मत में मूलरूप से रस की उत्पत्ति राम आदि अनुकार्य में होती है और नट-नटी इत्यादि अनुकर्ता में सामाजिकों के द्वारा केवल राम आदि अनुकार्यों का आरोप मात्र किया जाता है। इनके मत में संयोगाद् शब्द का उत्पाद्य-उत्पादक-भाव-सम्बन्धात् तथा निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति किया गया है।[2] सामाजिकों के साथ रस का कुछ भी सम्बन्ध न होने से यह मत ग्राह्य नहीं रहा।

(2) श्रीशङ्कुकः -(अनुमितिवाद)--श्रीशङ्कुक नैय्यायिक हैं इन्होनें न्यायमत का आश्रय लेते हुए ही सूत्र की व्याख्या की है। इन्होंने सूत्र में विद्यमान संयोगाद् शब्द की अनुमाप्य-अनुमापक-भाव-सम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिः (उत्पत्ति) रूप अर्थ किया गया है। इनके मत में मूलरूप से रस अनुकर्ता (नट-नटी) में रहता है और नट-नटी द्वारा राम आदि का अभिनय किए जाने पर सामाजिक उनमें केवल रस का अनुमान मात्र करते हैं।[3] इस मत में सामाजिकों को केवल रस की अनुमान द्वारा प्रतीति मानी गई है। अतः यह मत भी रस की अभिव्यक्ति में उचित स्थान प्राप्त न कर सका।

(3) भट्टनायक -(भुक्तिवाद)--इनके मत में सर्वप्रथम काव्य में अभिधावृत्ति द्वारा शब्दार्थ के रूप में तथा नाटक में नट-नटी के द्वारा राम सीता तथा दुष्यन्त शकुन्तला आदि विभवादियों का ज्ञान होता है। उसके बाद भावक नाम के व्यापार से उन रामादि विभावादियों का साधारणीकरण हो जाता है। उसके बाद दर्शक और सामाजिक अपने आपको ही उस कथा के पात्र समझने लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह दुष्यन्त है या मैं हूँ इत्यादि भेद समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर भोजकत्व व्यापार से तमोगुण और रजोगुण को अभिभूत कर सत्वगुण की वृद्धि से जिस आनन्दरूप ज्ञान की अनुभूति होती है वही रस है अर्थात् उनके मत में रस का भोजकत्व व्यापार से भुक्ति होती है। इन्होंने संयोगाद् शब्द का भोज्य-भोजक भाव सम्बन्धात्, रसस्य निष्पत्ति (भुक्ति) अर्थ किया है।[4]

---

1. का.प्र., चतुर्थ उल्लास, पृ. 90-92
2. मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य, साक्षात् क्रियते। -र.ग., प्रथम आनन, भट्टलोल्ट मत, पृ. 124
3. .. नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्द-व्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद् रसनीयत्वे-नाऽन्यानुनीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति। -का.प्र., चतुर्थ उल्लास, पृ. 94-96
4. काव्ये नाटये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिः सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति।

-वही भटनायक मत प ९६-९७

(4) अभिनवगुप्त (अभिव्यक्तिवाद)–इनके मतानुसार सामाजिकों के हृदय में रत्यादिस्थायीभाव पहले से ही वासना-रूप से विद्यमान रहते हैं और यह भाव विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप में परिणत होते हैं।[1] पहले मत की अपेक्षा इनमें विशेषता है कि इन्होंने भट्टनायक द्वारा स्वीकृत भावकत्व नामक व्यापार को साधारणीकरण व्यापार माना और रस को व्यंजना वृत्ति का विषय मान कर रस की अभिव्यक्ति स्वीकार की न कि भुक्ति।[2] इन्होंने सूत्रगत संयोगात् का व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव-सम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिः अभिव्यक्तिः अर्थ किया है। रस विषय में अभिनवगुप्त की सबसे बड़ी मान्यता रही कि इन्होंने विभावादियों का साधारणीकरण स्वीकार किया तथा रस की स्थिति सामाजिकों में स्वीकार की है। आगे चलकर आचार्य मम्मट[3] तथा विश्वनाथ ने भी इनके पदचिन्हों पर चलते हुए साधारणीकरण के सिद्धान्त को अपनाते हुए रस विषयक निष्पत्ति को अभिव्यक्ति रूप में स्वीकार किया।[4] पण्डितराजजगन्नाथ ने रस विशेष विचार करते हुए अभिनवगुप्त की मान्यता को प्रामाणिक मानते हुए अपने रस निष्पत्ति निरूपण के समय बड़े आदर से उनका नाम लिया।

विभाव

लोक में जो पदार्थ रस आदि के उद्बोधक होते हैं उन्हीं को काव्य या नाटक में विभाव कहा जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं–

(1) आलम्बन विभाव

(2) उद्दीपन विभाव।[5]

आलम्बन विभाव–आलम्बन का अर्थ होता है आश्रित अर्थात् जिस पर जो वस्तु आधारित हो वही आलम्बन कहलाती है। काव्य या नाटक में वर्णित नायक, नायिका आदि आलम्बन विभाव कहलाते हैं[6] तात्पर्य है कि जिस पात्र या वस्तु का

---

1. र.ग., प्रथम आनन, अभिनवगुप्त मत, पृ. 128
2. मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद् भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः। भोगस्तु व्यक्तिः, भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनाद् विशिष्टम्। - वही, प्रथम आनन, पृ. 94
3. का.प्र., चतुर्थ उल्लास, पृ. 99-100
4. सा.द., 3.1
5. ना.शा., षष्ठ अध्याय, पृ. 228
6. रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।
   आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। -सा.द., 3.29

आलम्बन कर आश्रय के हृदय में स्थयीभाव जागृत होता है उसी को आलम्बन विभाव कहते हैं। जैसे श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में राजा कुमार के हृदय में उन्मदन्ती विषयक रति जागृत होने पर राजा शृङ्गार का आश्रय और उन्मदन्ती आलम्बन विभाव है।[1]

उद्दीपन विभाव—किसी भी पात्र के हृदय में स्थायीभाव को अधिक उद्बुद्ध करने वाली सामग्री उद्दीपन कहलाती है।[2] ये दो प्रकार की होती हैं। प्रथम वे जिनका सीधा सम्बन्ध नायक-नायिका आदि पात्रों की चेष्टा, वचन, वेश-भूषा तथा व्यवहार से होता है। जैसे नायिका विषयक रति होने पर नायिकागत चेष्टाऐं तथा नायक विषयक रति होने पर नायक गत चेष्टाएं[3] एवम् द्वितीय शृङ्गार में चन्द्रमा की चान्दनी, एकान्त स्थान, मन्दसुगन्धित पवन, उद्यान, वन, वसन्त ऋतु इत्यादि परस्पर उद्दीपन विभाव होंगे। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रसों के लिए भिन्न-भिन्न आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव होंगे।

अनुभाव—अनुपश्चाद् भावः उत्पत्तिः येषां ते अनुभावाः, अनुभावयन्ति इति वा। विभावों के बाद होने वाले भाव अनुभाव कहलाते हैं। इनका शरीर मात्र से सम्बन्ध होता है। ये रस के कार्य होते हैं। अनुभावों के द्वारा जो आङ्गिक, वाचिक तथा सात्विक अभिनय होते हैं, उन्हें अनुभाव कहा गया है। वस्तुतः जो रजोभाव हृदय में उद्बुद्ध रति इत्यादि भावों को बाह्यरूप से प्रकट करते हैं, वे शरीर आदि की चेष्टाऐं अनुभाव कहलाती हैं।[4] ये अनुभाव तीन प्रकार के होते हैं—आङ्गिक, वाचिक, सात्विक। भानुदत्त ने आङ्गिक वाचिक, आहार्य एवं सात्विक रूप से चार प्रकार के माने हैं।[5]

सात्विकभाव—सत्व अर्थात् मन से उत्पन्न होने वाले भाव सात्विकभाव कहलाते हैं। विश्वनाथ के मत में उद्रेक से उत्पन्न होने वाले भाव सात्विक होते हैं।

ये सात्विक भाव एक प्रकार से अनुभाव ही हैं। इनकी संख्या आठ मानी गयी है।[6]

---

1. आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्। -सा.द., 3.29
2. श्री.बो.स.च., 8.45-49
3. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा।
   -सा.द., 3.131
4. द.रू., 4.3
5. स.द., 6.2
6. वही, 3.182

व्यभिचारीभाव–चित्त–वृत्तियों का दूसरा नाम भाव है जो भाव स्थिर नहीं होते अपितु प्रतिपल बदलते रहते है उन्हें संचारी भाव कहते हैं। वस्तुतः जो भाव विशेष उत्कटता से रति आदि स्थायी–भावों को रसास्वाद में परिणत करते रहते हैं तथा जो भाव समुद्र में जल बुद्–बुदों के समान निमज्जित तथा उन्मज्जित होते रहते हैं अर्थात् बनते बिगड़ते रहते है उन्हें संचारीभाव कहते हैं। ये स्थायी–भावों के सहायक होते हैं।[1] इनकी संख्या सभी आचार्यों ने 33 मानी है।[2]

स्थायीभाव–प्राणीमात्र के हृदय में जन्म–जन्मान्तरों से वासना (संस्कार) रूप से विद्यमान भाव स्थायीभाव कहलाते हैं। जब ये भाव किसी के हृदय में स्थायीत्व को प्राप्त करते हैं तब इसको न तो कोई अनुकूल और न प्रतिकूल भाव दबा सकता है और न छिपा सकता है, यह भाव रस की प्रथमावस्था से लेकर अन्तिमावस्था तक विद्यमान रहता है।[3] सहृदयों के हृदय में वासनारूप से स्थित यह भाव उचित सामग्री प्राप्त कर दध्यादि न्याय से रसरूप में परिणत होता है।[4] भरतमुनि ने इनकी संख्या 8 मानी है।[5] उत्तरवर्ती आचार्यों मे इनकी संख्या नौ मानी है।[6] साहित्यदर्पण में मुनीन्द्र सम्मत कह कर वत्सल रस को मानते हुए वत्सलता नामक दशवें स्थायीभाव को स्वीकार किया है।[7]

(ख) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में प्रधान रस

काव्यशास्त्रीय आचार्यों के मतानुसार किसी भी महाकाव्य या मुक्तक–काव्य में रस की संयोजना में कवि को बड़ी साबधानी से काम लेना चाहिए और उसमें परस्पर विरोधी रसों के परिहार के लिए सावधान रहना चाहिए क्योंकि महाकाव्यों में अनेकों रसों की योजना हुआ करती है।[8] विश्वनाथ आदि आचार्यों का तो यहाँ तक कहना है कि महाकाव्य में शृङ्गार, वीर अथवा शान्त रस में से किसी एक रस को अङ्गीरूप में तथा अन्य रसों को गौण रूप में अपना कर उनको इतना पुष्ट करना चाहिए कि वे

---

1. सा.द., 4.134–135
2. वही, 3.141
3. वही, 3.174
4. स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति ये। –ना.शा., पृ. 343
5. वही, 6.15
6. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। –का.प्र., 4.47
7. सा.द., 3.251
8. ध्व., 3.17–18

अङ्गीरस के परिपाक में सहायक हो।[1] ध्वन्यालोककार भी इसी मत के पक्षपाती हैं कि- प्रबन्ध-कवि अपने में नानारसों के होने पर भी एक ही रस को अङ्गी-रूप में परिपुष्ट करे।[2] उन्होंने अङ्गीरस का लक्षण करते हुए लिखा कि-प्रबन्ध काव्य में अभिव्यक्त नाना रसों में से जो कथानक के कलेवर में सर्वाधिक व्याप्त हो वही अङ्गीरस है।[3] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के अनुशीलन से स्पष्ट है कि इसमें वीर, शृङ्गार तथा शान्त आदि अनेक रसों का वर्णन बड़ी कुशलता के साथ हुआ है, किन्तु अन्य रसों की अपेक्षा वीर रस का ही नायक बोधिसत्त्व के विविध रूपों में परिपाक हुआ है। अन्य रसों की भी अभिव्यञ्जना यत्र-तत्र इस महाकाव्य में हुई हैं किन्तु वे सभी गौणरूप में रहकर वीररस को ही परिपुष्ट कर रहे हैं। वीर रस में भी यहाँ धर्मवीर का ग्रहण होगा। वीर रस के लक्षण में कहा गया कि इसका स्थायीभाव-उत्साह, आलम्बन-विभाव, विजेतव्य आदि उद्दीपन-विभाव की चेष्टा आदि, अनुभाव- जिस प्रकार का वीर हो उसके अनुरूप वस्तुओं को अपनाना। संचारी भाव-धृति, मति, गर्व, रोमाञ्च, तर्क आदि। इसका देवता- महेन्द्र, वर्ण-सुनहरा, रूप-चमकीला, प्रकृति-उत्तम व्यक्तियों में रहने वाला है।[4]

धनिक धनञ्जय ने वीररस का लक्षण करते हुए लिखा कि-प्रताप, विनम्र, अध्यवसाय, सत्त्व, मोह, अविवाद, नय, विस्मय एवं पराक्रम आदि विभावों से उत्पन्न होने वाले उत्साह से वीर रस की प्रतीति होती है।[5] वीररस के चार भेद किए गए हैं।[6] पण्डितराज अनेक भेद मानने के पक्षपाती हैं।[7] प्रस्तुत काव्य में चार ही भेद स्वीकृत किए गए हैं-(i) **धर्मवीर** (ii) **दानवीर** (iii) **दयावीर** (iv) **युद्धवीर**। इस काव्य में **धर्मवीर रस** का परिपाक अधिक हुआ है। अतः धर्मवीर ही इस काव्य में अङ्गीरस है। समालोचकों को भी यही मान्य है।[8] यहाँ धर्मवीर से तात्पर्य श्रीबोधिसत्त्व के उन उत्तम, त्याग, सत्य, धृति, क्षमा इत्यादि उत्कृष्ट आचरण से है, जिनका उन्होंने

---

1. शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
   अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे ....। सा.द., 6.317
2. ध्व., 3.21-22
3. वही, 3.24
4. सा.द., 3.232-234
5. द.रू., 4.72
6. स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा। - सा.द., 3.234
7. वीरश्चतुर्धा, दान-दया-युद्ध-धर्मैस्तदुपाधेरुत्साहस्य चतुर्विधत्वात्।- र.गं.,प्रथमानन, पृ. 164
8. श्रीबोधिसत्त्वचरितम् एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० धर्मेन्द्रगुप्त, पृ. xx

अपने अवदानों में पूर्णतया पालन किया तथा जिसके कारण उनके जीवन की उदात्त भावनाएें समय-समय पर प्रस्फुटित हुईं। श्रीबोधिसत्त्व के जीवन की सभी कथाऐं उनके जीवन की सर्वाधिक संभावनाओं तक विकसित हुईं।[1] इन्हीं उदात्त भावों के विकास से काव्य में आद्योपान्त वीर रस की पुष्टि हुई है।

वीर रस (धर्मवीर) का सुन्दर उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं। द्वितीय सर्ग में जब बोधिसत्त्व श्रीकुमार के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं, वे बड़े धार्मिक होते हैं, बड़े होने पर वे काशी की राजगद्दी पर बैठते हैं। एक बार कहीं जाते हुए कोशलेश के साथ रास्ते में भेंट होने से उनके सारथि के पूछने पर इनका सारथि उनकी धर्मपरायणता का वर्णन करता हुआ कहता है-

उदाहरण-

> शान्तिपूर्वकमयं प्रयस्यति, क्रोधमेष सुतरां निरस्यति।
> साधुवद् व्यवहरन्नसाधुनाप्युद्धतं प्रति सदैव शाम्यति।।[2]

इसमें काशीनरेश के उदात्त गुणों का वर्णन है। प्रजा के प्रति सद्भाव होने से काशीराज उत्साह का आश्रय है, प्रजा-जन आलम्बन विभाव, सभी प्रजाजनों का राजा के प्रति आदरभाव उद्दीपन-विभाव, राजा द्वारा प्रजा के प्रति कर्तव्यपालन का स्मरण करना अनुभाव, मति, गर्व, धृति, इत्यादि संचारीभाव हैं। इन सभी के सहयोग से परिपुष्ट यहाँ धर्मवीर रस का पूर्णतः परिपाक हुआ। इसी प्रकार त्रयोदश सर्ग में सेठ पीलिय तथा सेठ संघ का विवाद राजा के पास पहुँचता है। वहाँ राजा की धर्मप्रियता के विषय में कहा गया कि-

उदाहरण-

> वचनमिति निगद्याभ्यर्हितं मन्त्रिणस्ते,
> बहु सदसि निनिन्दुस्तं स्वकर्मण्यशस्ते।
> अवनिपतिरपीष्टं निर्णयं स्वं चकार,
> तदनु दृढनिदेशं धर्मविद् व्याजहार।।[3]

यहाँ राजा धर्ममय उत्साह का आश्रय है। संघ सेठ आलम्बन विभाव है, मन्त्रियों द्वारा दिया गया सुझावादि तथा संघ द्वारा मित्र के लिए दी गई सहायता आदि पीलिय

---

1. श्री.बो.स.च., 9.51
2. वही, 2.58
3. वही, 13.93

द्वारा मित्र के साथ किया गया व्यवहार उद्दीपन विभाव है। राजधर्म की स्मृति, अपने धर्म का पालन, प्रसन्नता आदि अनुभाव, धृति, मति, इत्यादि संचारीभाव हैं। इन सभी से परिपुष्ट धर्मवीर रस की योजना पूर्णरूप से देखी जा सकती है। इसी प्रकार तृतीय-सर्ग में काशीराज शीलवान् की धर्मपरायणता भी धर्मवीर का ज्वलन्त उदाहरण है। शत्रु राजाओं के द्वारा आक्रमण किए जाने पर भी काशीराज धर्ममयी भावना से युक्त होकर उसके साथ किसी भी प्रकार से युद्ध करने के लिए तैयार नहीं है। राजा कहता है कि-

नाऽहं युद्धमभीप्सामि न च मे प्रत्यनीकता
त्वं वृथैवाभ्यमित्रीयो बहुधाभीलमन्वभूः।
राज्यं मदीयमादत्स्व भोगान् भुक्त्वा च निर्वृणु
रोगशोकभयस्थानं युद्धोद्योगं तु संवृणु।।[1]

राजा को युद्ध कदापि वाञ्छित नहीं। वह वैर-भाव से रहित है। दूसरे राजा को भी वैर-भाव छोड़ने के लिए कहता है। इस पद्य में राजा उत्साह स्थायीभाव का आश्रय है। शत्रु राजा आलम्बन विभाव है। कोशलपति का द्वार पर पहुँच जाना, बार-बार युद्ध के लिए ललकारना इत्यादि उद्दीपन-विभाव हैं। युद्ध की अनावश्यकता, अहिंसा का स्मरण, प्रजा के हित का ध्यान इत्यादि अनुभाव हैं। निर्वेद, मति, गर्व, दैन्य, तर्क इत्यादि संचारी-भाव हैं। इन सभी विभावादियों से परिपुष्ट उत्साह स्थायीभाव वीररस में परिणत हो रहा है।

नवम सर्ग में शिबि देश के राजा श्रीकुमार यद्यपि थोड़ी देर के लिए विचलित होते हैं पर फिर भी वे अपनी मर्यादा पर चलते हुए अपने धर्म को समझते हुए मन्त्री अहिपारक से कहते हैं-

किंत्वब्धिवेलेव विलोकनीया,
धर्माः सतां सन्त्यविलङ्घनीयाः।
श्रेयोर्थिभिर्ये परिपालनीया,
मया सदा मित्र! निभालनीयाः।।[2]

राजा का मानना है कि अपने धर्म का पालन करना मेरा प्रथम कर्त्तव्य है। उसकी रक्षा के लिए तो मुझे अपने जीवन का बलिदान भी कर देना चाहिए।

---

1. श्री.बो.स.च., 3.90-91
2. वही, 9.30

इस पद्य में राजा उत्साह स्थायीभाव का आश्रय है। प्रजा आलम्बन विभाव है। शरीर त्यागने की भावना, शास्त्रों के वचन, वीरों के कर्त्तव्यों का स्मरण उद्दीपन है। चित्तवृत्तियों को स्थिर करना अनुभाव है। निर्वेद, दैन्य, जड़ता, गर्व, मति इत्यादि संचारीभाव है इनकी सहायता से उत्साह स्थायीभाव धर्मवीर रस में परिणत हो रहा है।

इसी प्रकार तृतीय सर्ग में कोशलनरेश के सैनिक काशीनरेश की सीमाओं को पारकर उसके जनपद में प्रवेश कर तथा अनेक प्रकार के उपद्रव मचाने पर, उसके मन्त्रियों के द्वारा बार-बार शत्रु सैनिकों को नष्ट करने के लिए कहने पर भी अपने धर्ममय स्वभाव से विचलित नहीं होता। काशीनरेश की ऐसी स्थिति को देखकर कोशलनरेश मन में विस्मित होता हुआ कहता है–

मनसा कर्मणा वाचा योऽनुगृह्णाति जन्तुषु।
प्रतीपेष्वपि सद्बुद्धिरसौ केनोपमीयताम्।।[1]

जो व्यक्ति विरोधियों के साथ भी मन, वचन और कर्म से दयाभाव दिखाते हैं तथा सद्विचारों से युक्त होते हैं, ऐसे व्यक्तियों की तुलना किससे की जाय? इसमें शीलवान् की धर्मपरायणता बताई गई है।

इस पद्य में उत्साह स्थायीभाव का आश्रय, कोशलनरेश है। काशीश्वर आलम्बन विभाव है। काशीश्वर की सरलता, अहिंसा का भाव, अनुग्रह का भाव तथा मैत्रीभाव उद्दीपनविभाव है। सबके प्रति सम-भाव अपनाना, वैरभाव को त्यागना, दण्ड इत्यादि की उपेक्षा करना अनुभाव है। निर्वेद, ग्लानि, दैन्य, मोह, जडता और उग्रता, गर्व इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इन सब से पुष्ट यह धर्मवीर का उदाहरण है।

चतुर्थ सर्ग में यक्षों द्वारा जब काशीराज को रात्रि के समय कोशल राज के कमरे में पहुँचाया जाता है, कोशलराज निःशस्त्र होता है और काशीराज के हाथ में खड्ग होता है पर वह शत्रु पर वार नहीं करता, तब उसकी धर्मपरायणता का वर्णन करता हुआ कोशलराज कहता है कि–

अहिंसावृत्तिनानेन नाहं हिंस्त्रोऽपि हिंसितः।
दयावताऽवता लोकान् मदिच्छाऽपूरि सूरिणा।।[2]

इसमें उत्साह स्थायीभाव का आश्रय राजा काशीराज है। आलम्बन विभाव कोशलराज है। उसकी साधुप्रवृत्ति, अहिंसाप्रवृत्ति, प्रियवचन इत्यादि उद्दीपन विभाव

1. श्री.बो.स.च., 3.97
2. वही, 4.103

हैं। शान्ति, प्रेम, साधुवृत्ति इत्यादि अनुभाव हैं। मति, धृति, बुद्धि इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इन सभी से परिपुष्ट यहाँ धर्मवीर का परिपोषण हो रहा है।

1. दानवीर–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में कई स्थानों पर दानवीरता के उत्कृष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं। उनमें से कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं। त्याग का उत्कृष्ट उदाहरण अष्टम सर्ग में देखा जा सकता है। जहाँ निर्धन बालिका स्वयं आजीविका द्वारा प्राप्त किए गए वस्त्र के आधे भाग को किसी भिक्षु को नग्न देख उसे प्रदान कर देती है।[1]

उदाहरण–

इत्याकलय्येत्यपुरः पटं स्वं
सा स्नाननिर्णिक्ततनुर्विपाट्य।
अर्धं स्वयं पर्यदधादथार्धं
प्रणम्य तस्मै यतये मुदाऽदात्।।

केवल आधा ही नहीं अपितु वह शेष बचे हुए अपने आधे वस्त्र खण्ड को भी भिक्षु को दे देती है।[2] इस पद्य में उत्साह का आश्रय निर्धन कन्या उन्मदन्ती है। आलम्बन विभाव भिक्षु है। उसकी नग्नावस्था को देखना उद्दीपनविभाव है। दया, निर्धनता का स्मरण करना अनुभाव हैं। मति, तर्क, गर्व, इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इन सभी से परिपुष्ट दानवीर की परिणति हुई है।

त्रयोदश सर्ग में पीलिय और संघ सेठ की मैत्रीभाव में संघ का अपने मित्र पीलिय के प्रति दिखाए गए त्यागभाव का वर्णन भी दानवीरता का उत्कृष्ट उदाहरण है–

वचनमिदमुदीर्य प्रीतिमान् सत्यसन्धः
कृतसुहृदनुकम्पः स्फीतसौहार्दबन्धः।
स्वयमनुपधि चत्वारिंशतं वित्तकोटी-
र्व्यतरदयममुष्मै सद्य आपन्निमित्तम्।।[3]

इस पद्य में संघ सेठ उत्साह स्थायीभाव का आश्रय है। पीलिय आलम्बन विभाव है। पीलिय की दयनीय स्थिति, दीन-वचन इत्यादि उद्दीपनविभाव हैं। दयाभाव,

1. श्री.बो.स.च., 8.17
2. वही., 8.22
3. वही,13.21

मैत्रीभाव का स्मरण अनुभाव है। हर्ष, मति इत्यादि सञ्चारी भाव है। इन सभी से परिपुष्ट दानवीर की परिणति हुई है।

2. दयावीर—दयावीर का प्रसङ्ग सर्वप्रथम तृतीय सर्ग में राजा शीलवान् द्वारा विभिन्न-व्यक्तियों के साथ किए गए व्यवहार से दृष्टिगोचर होता है। जहाँ शीलवान् शत्रु के द्वारा भेजे गए आक्रमणकारियों को पकड़ कर भी दण्डित न कर उन्हे पुरस्कृत करता हुआ कहता है–

अस्तु तावत्पुनर्नैव सीमाध्वंसो विधीयताम्
इदं चाभीप्सितं द्रव्यं समादायोपभुज्यताम्।
एवमुक्त्वा स तान् मुक्तांश्चक्रे वित्तं च दत्तवान्
उपकर्ता भवेत्साधुः सदैवापकृतावपि।।[1]

इसमें उत्साह स्थायी भाव का आश्रय राजा शीलवान् है। आलम्बन विभाव शत्रु राजा के सैनिक है। उद्दीपन विभाव इनके द्वारा की गई तोड़ फोड़ है। दया भाव, उपकार, अहिंसा, प्रेमभाव का स्मरण अनुभाव हैं तथा मति, दीप्ति, गर्व इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इनसे पुष्ट हो कर दयावीर की परिणति हो रही है। इसका एक और उदाहरण देखें:–

शान्त्या प्रशमयेत् क्रोधं सलिलेनेव पावकम्।
चित्तं प्रसादयेद् धीमान् सर्वभूतानुकम्पया।।[2]

इस पद्य में दयालु शीलवान् राजा अपने समर्थवान् वीरों को उपदेश दे रहा है। इसमें उत्साह स्थायीभाव का आश्रय राजा है। आलम्बन विभाव सैनिक हैं। युद्ध से उत्पन्न हिंसा, प्रजा को दुःख, अशान्ति इत्यादि उद्दीपनविभाव हैं। निर्भयता, समानता इत्यादि का अनुभव करना अनुभाव है। गर्व, मति इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इन सब से पुष्ट हो करके दयावीर की परिणति हो रही है।

3. युद्धवीर—युद्धवीर का एक मात्र उदाहरण तृतीय-सर्ग में मिलता है। कोशल-नरेश काशीनरेश पर आक्रमण करता है। शत्रु की सेनाएं काशीराज के जनपद के मध्यभाग तक पहुँच जाती हैं। यद्यपि काशीराज की सेना उनका प्रतिरोध नहीं करती किन्तु शत्रुसेना शत्रुता का व्यवहार करती है। कवि उस दृश्य का वर्णन करता हुआ लिखता है कि–

---

1. श्री.बो.स.च., 3.58-59
2. वही, 3.81

मध्याञ्जनपदांस्तत्र द्राक् स्वसैन्यैर्व्यनाशयत्।
समस्तवस्तुसम्पूर्णमलुलुण्ठत् पुनः पुरम्।।[1]

यहाँ पर उत्साह स्थायी भाव का आश्रय काशीराज हैं। शत्रु की सेना आलम्बन विभाव है। शत्रुसेना द्वारा किया गया विध्वंस, जनता पर किया गया अत्याचार, लूटपाट आदि उद्दीपनविभाव हैं। दयाभाव, अहिंसा, धर्मपरायणता, कर्त्तव्य का स्मरण अनुभाव है। निर्वेद, मति, धृति इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इन सभी से परिपुष्ट राजा के हृदय में विद्यमान उत्साह रसरूप में परिणत हो रहा है। इस प्रकार वीर (धर्म, युद्ध, दान, दया) के अन्य उदाहरण भी श्रींबोधिसत्त्वचरितम् में देखे जा सकते हैं।

(ग) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में गौण रस

1. शान्त रस–रस विवेचन के अवसर पर भरतमुनि ने केवल आठ ही रस माने हैं। इनका मानना था कि शान्तरस के विभावादियों का अभिनय नहीं किया जा सकता।

अतः आठ ही रस हैं[2] किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक प्रकार की उक्ति प्रत्युक्तिपूर्वक काव्य में शान्तरस की परिणति स्वीकार की है।[3] उनका मानना है कि जिस प्रकार आनन्द की चरम अवस्था शृङ्गार है, इसी प्रकार मोक्ष की आध्यात्मिक आनन्दानुभूति शान्तरस में है अतः शान्त रस है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है।[4] विश्वनाथ ने इसका स्थायीभाव शम माना है। इसका आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। संसार की अनित्यता, संसारिक विषयों का ज्ञान अथवा परमात्मक-विषयक ज्ञान इसका आलम्बन विभाव है। तीर्थस्नान, आश्रम, भगवत् क्रीड़ा स्थल, साधुसङ्गति, वन आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। रोमाञ्च, अश्रुपात आदि अनुभाव तथा निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति आदि व्यभिचारीभाव होते हैं। इसका वर्ण श्वेत तथा देवता भगवान् नारायण हैं।[5]

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के द्वादश सर्ग में पुण्यात्मा कृषक की कथावस्तु में आद्योपान्त

---

1. श्री.बा.स.च., 3.63
2. शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
   बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।। -ना.शा., 6.15
3. शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते, मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्व-शब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्यां दर्शितम्।। -ध्व., चतुर्थ उद्योत, पृ. 346
4. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। - का.प्र., 4.47
5. सा.द., 3.245-24

शान्तरस का परिपाक हुआ है। कृषक के रूप में उत्पन्न बोधिसत्त्व सत्वगुण-सम्पन्न अपने गृहस्थ आश्रम का पालन करते हैं।[1] उनकी एक पत्नी, एक पुत्र, एक पुत्रवधू, कन्या तथा पुत्रवधू के साथ विवाह में आई हुई दासी है। कृषक नित्य प्रति अपने परिवार की आध्यात्मिक उन्नति के लिए निर्दोष, प्रशंसनीय गुणों से युक्त सुन्दर युक्ति-प्रत्युक्तियों से समन्वित निर्वेदोत्पादक उपदेश दिया करता है। एक बार खेत में कार्य करते हुए उसका पुत्र सर्पदंश के कारण पञ्चतत्त्व को प्राप्त हो जाता है। पारिवारिकजन उसका दाह संस्कार करते हैं पर रोते नहीं हैं। इन्द्र परीक्षार्थी बनकर आता है। प्रश्न करता है कि यदि तुम्हारा यह पुत्र है तो तुम उसको क्यों जला रहे हो, तुम रोते क्यों नहीं? तब कृषक उत्तर देता है-

जाते वपुष्यभिमताखिलभोगहीने
कालक्रमेण विगतासुनि तत्त्वलीने।
दग्धोऽग्निना भवति देह्यत एष किञ्चिज्
जानाति नेष्टजनरोरुदितं कथञ्चित्।।[2]

इस पद्य में निर्वेद स्थायीभाव का आश्रय् कृषक है। प्राणी का नश्वर शरीर आलम्बनविभाव है। संसार की अनित्यता, पूर्व श्रुत उपदेश उद्दीपनविभाव हैं। रोमाञ्च इत्यादि अनुभाव, गर्व, निर्वेद मति इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इन सभी के सहयोग से कृषक के हृदय में विद्यमान निर्वेद या शम स्थायीभाव शान्तरस में परिणत हो रहा है। कवि द्वारा निबद्ध एक अन्य उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है-

ध्येयं समस्तजगतः क्षणभङ्गुरत्वं
दुखास्पदत्वमरसत्वमसुस्थिरत्वम्।
प्रेयो विहाय परमार्थरताः प्रकामं
श्रेयस्करं कुरुत कर्म गुणाभिरामम्।।[3]

इस पद्य में कृषक, निर्वेद स्थायीभाव का आश्रय, संसार या सांसारिक अनित्य वस्तु-समूह आलम्बन-विभाव, भगवत्-स्मरण, कृषक का उपदेश, संसारिक सुखों की अनित्यता, उद्दीपन विभाव, परमार्थ चिन्तन में मग्न रहना, रोमाञ्चित होना अनुभाव हैं। निर्वेद हर्ष, स्मृति, धृति इत्यादि व्यभिचारीभाव हैं। इन सभी भावों से पुष्ट होकर निर्वेद स्थायीभाव शान्त रस में परिणत होकर रसास्वादन का विषय बन रहा है।

---

1. श्री.बो.स.च., 12.4
2. वही, 12.49
3. वही, 12.13

2. शृङ्गार रस—शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है। इसके नायक तथा नायिका उत्तम प्रकृति के होते हैं। नायक नायिका में से कोई एक आलम्बन विभाव होता है। चन्द्र, चन्द्रिका, उद्यान, एकान्त स्थान, रात्रि का समय, नदी तट, शीतल मन्द सुगन्धित पवन, चन्दन इत्यादि का लेप इसके उद्दीपन होते हैं। संयोग शृङ्गार में परस्पर आलिङ्गन आदि तथा वियोग शृङ्गार में रूप इत्यादि की स्मृति, रोमाञ्च, स्वेद, कम्पन, स्फुरण इत्यादि अनुभाव, लज्जा, उत्कण्ठा, हर्ष, मद इत्यादि व्यभिचारी भाव होते हैं। इसका वर्ण श्याम, देवता भगवान् विष्णु या कामदेव होता है।[1] शृङ्गार के दो भेद किए गए हैं संयोग तथा विप्रलम्भ,[2] संयोग शृङ्गार के यद्यपि अनेक भेद किए जा सकते हैं किन्तु उन सभी का वर्णन असम्भव होने से केवल एक ही भेद माना गया है। विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्व-राग, मान, प्रवास तथा करुण विप्रलम्भ चार भेद किए गए हैं।[3]

3. संयोग शृङ्गार—बोधिसत्त्वचरितम् में केवल किन्नरमिथुन के पारस्परिक मिलन रूप शृङ्गार का वर्णन मिलता है। राजा के पूछने पर किन्नरी का कथन है कि—

दृढप्रेमाबद्धौ बहुलरसयुक्ताववियुतौ।
स्रवन्तीरेत्यामूर्विहरणमकुर्व प्रतिदिनम्।।[4]

इसमें रति का आश्रय किन्नरभूत राजा है, आलम्बन विभाव किन्नरीभूता रानी है। उद्दीपनविभाव नदियों के तट, एकान्त एवं रमणीय स्थल, मन्द-पवन आदि हैं, रोमाञ्च, आलिङ्गन, चुम्बन इत्यादि अनुभाव तथा स्वेद, मद, कम्पन इत्यादि व्यभिचारी भाव के संयोग से किन्नरगत राजा की हृदयगत रति रस-रूप में परिणत हो रही है। विप्रलम्भपूर्वस्मृत संयोग शृङ्गार का कवि द्वारा चित्रित एक अनुपम उदाहरण देखिए। किन्नरी रोने तथा हंसने का कारण बताती हुई कहती है कि—

प्रभातायां तस्यामुदयमुपयाते दिनमणौ
नदीवेगे शान्ते सति घटनमावामतनुव।
मिथः कृत्वाऽऽश्लेषं निधुवनविशेषं च बहुशः
सकृद्धासं चाथ व्यतनुव सकृच्चापि रुदितम्।।[5]

---

1. सा.द., 3.183–185
2. विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः। –वही, 3.186
3. स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्। –वही, 3.187
4. श्री.बो.स.च.,10.24
5. वही, 10.39

नदी के वेग से जिनका वियोग हो गया। प्रातःकाल नदी वेग कम होने पर वे पुनः मिले हैं और पारस्परिक संयोग जन्य रति का फल प्राप्त किया है। इस प्रकार इसमें संयोग शृङ्गार के विभावादियों से पुष्ट किन्नरीहृदयगत रति शृङ्गार-रस में परिणत होकर उनकी अनुभूति का विषय बनती है। आचार्यों का मानना है कि शृङ्गार की परिपक्वता के लिए विप्रलम्भ का होना नितान्त आवश्यक है। वह काव्य नीरस समझना चाहिए, जिसमें विप्रलम्भ शृङ्गारमयी कोमल भावना की झलक न हो। संयोग के लिए वियोग का होना आवश्यक है। वियोग अवस्था में ही प्रेमी और प्रेमिकाओं की हृदयगत भावों तथा मानसिक वृत्तियों की मिलन की प्रबल इच्छा होती है। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने इस महाकाव्य में अपनी रसात्मक और भावात्मक प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए वीर और शान्तरस में भी शृङ्गाररस को ग्रहण कर दो विरोधी रसों को भिन्न-भिन्न पात्रों में अपनाकर बड़ी कुशलता के साथ रस विषयक-सिद्धान्त का पालन किया है। उन्होंने शिबि देश के राजा श्रीकुमार में कान्तिमती उन्मदन्ती विषयक अनुराग में विप्रलम्भ शृङ्गार की एक अनोखी व्यंजना की है। राजा कुमार अहिपारक की पत्नी के प्रसङ्ग में उसके सौन्दर्य मुग्ध हो कर विरह से व्यथित होकर सोचता है-

कदा प्रियां प्राणसमां मनोज्ञा-
मालिङ्ग्य दोर्भ्यां नवनीतमृद्वीम्।
कथाः प्रकुर्वन् रमणीयरूपा-
स्तृप्तो भविष्याम्यधरामृतेन।।[1]

प्रस्तुत पद्य में राजा रति स्थायी भाव का आश्रय है। उन्मदन्ती आलम्बन विभाव है। स्वेद, दीर्घ निश्वास, अश्रुधारा, अनिद्रा इत्यादि अनुभाव हैं। उन्मदन्ती का सौन्दर्य उसके अङ्ग, चन्द्रमा की चांदनी, निशासमय इत्यादि उद्दीपनविभाव हैं। मति, हर्ष, ग्लानि, आवेग, दैन्य, मद, जड़ता इत्यादि संचारीभाव हैं। इन विभावादियों से परिपुष्ट राजा के हृदय में विद्यमान रति रसरूप में परिणत हो रही है। उन्मदन्ती के विरह से व्याकुल राजा की स्थिति का कवि ने ऊपर के धरातल से उतर कर जो वर्णन किया वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। राजा भूल जाता है कि वह जिस स्त्री के विषय में व्याकुल हो रहा है वह मन्त्री की पत्नी है। विरहकालीन सौन्दर्य का ऐसा मर्मज्ञ वर्णन कवि की कला की सूक्ष्मदर्शिता को दिखाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब डॉ० सत्यव्रतशास्त्री इस प्रकार का वर्णन करते हैं तो वह पात्रों के साथ साधारणीकरण कर

1. श्री.बो.स.च., 8.71

लेते हैं। कवि राजा के हृदयगत भाव को इस प्रकार वर्णन कर रहा है मानों वह उसके हृदय में विराजमान हो। राजा की दशा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है–

दद्याद् यदीशो वरमीप्सितं मे तदैतदेवामुमिहार्थयिष्ये।
एकद्वरात्रानहमुन्मदन्तीं निर्वेष्टुमिष्टामहिपारकः स्याम्।।[1]

प्रस्तुत पद्य में रति स्थायीभाव का आश्रय राजा है। आलम्बनविभाव उन्मदन्ती है। उद्दीपन विभाव उन्मदन्ती का सौन्दर्य, मुखमण्डल–स्मृति, चंचल भौहें, हाथों में लगा हुआ महावर, इत्यादि हैं। निद्राभंग, मोह, अशान्ति, अश्रु–प्रवाह, स्वेद, कम्पन, दीर्घ या उष्णश्वास इत्यादि अनुभाव हैं। निर्वेद, आवेग, श्रम, मद, जड़ता, मोह, अपस्मार, अलसता इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इन विभावादियों के संयोग से राजा की हृदयगत रति शृङ्गार रूप में परिणत हो रही है।

प्रेम का एक सुन्दर, स्वाभाविक तथा निश्छलरूप दशम–सर्ग में किन्नर तथा किन्नरी के पारस्परिक–मिलन एवं बिछुड़ने से उत्पन्न मनोभावों के रूप में चित्रित है। अपने प्रिय के लिए फूलों की माला गुम्फित करने के लिए नदी तट पर पुष्पावचयन करने के बाद प्रियतम के अङ्गों पर लेप करने के लिए चन्दन घिसती हुई आलिङ्गन की इच्छा रखती हुई, किन्नरी को पता ही नहीं चला कि नदी में पानी का वेग बढ़ रहा है। वह उसके फूलों को बहा ले गया तथा दोनों को वियुक्त भी कर गयां। बिछुड़े हुए उन दोनों के लिए वह रात्रि कितनी भयानक तथा दुःखद थी। उनकी मानसिक स्थिति क्या थी कवि उसका वर्णन सजीव रुप से करता हुआ कहता है–

नितान्तं तान्तौ तां रजनिमखिलां सान्धतमसां
सकृच्चावां हासं व्यतनुव सकृच्चापि रुदितम्।
वियुक्तानामेषा भवति विवशानामिह दशा
मनस्ताम्यद् भ्राम्यद् क्वचिदपि रतिं नैव लभते।।[2]

वियोगीजन व्याकुल होते हैं, भटकते हैं, रोते हैं, हंसते हैं पर इनको कहीं भी किसी प्रकार की शान्ति प्राप्त नहीं होती। वियोग की तो एक रात भी इतनी भयानक होती है कि उसको भुला कर भी नहीं भुलाया जाता।

विप्रलम्भ शृङ्गार का एक अन्य रूप सामने आता है, जब एक विनीत भिक्षु सुन्दर स्त्री को देखता है। काम से पीड़ित उसको कुछ नहीं सूझता। शास्त्रों का ज्ञान,

1. श्री.बो.स.च., 8.75
2. वही, 10.37

भिक्षुओं की परम्परा को भूल वह उसी के सौन्दर्य का स्मरण करता है। उसका मन उदास हो जाता है। बुद्धि कलुषित-और इन्द्रियों का तेज समाप्त हो जाता है। सब कुछ भूल वहाँ वह उस रमणी के साथ रमण करने की इच्छा करता है। प्रतिक्षण उसी के चिन्तन में रत रहता है।[1]

4. बीभत्स रस–बीभत्स रस का स्थायीभाव जुगुप्सा है। इसका नीला वर्ण है तथा महाकाल देवता है। इसका आलम्बन दुर्गन्धमय रक्त, अन्य मृत पशु आदि हैं। थूकना, मुँह फेरना, आँखें बन्द करना इत्यादि अनुभाव हैं। मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं।[2] इसका एक मात्र उदाहरण चतुर्थ सर्ग में है। दो यक्ष राजा के समक्ष किसी पुरुष के शव को बाँटने के लिए लाते हैं और राजा उसको बीच भाग से काटता है–

> **शवः स ऊर्ध्वमुत्थाप्य संमुखीनो व्यधीयत**
> **अवादीयत खड्गेन पुनर्मस्तकमध्यतः।**
> **समं खण्डद्वयं कृत्वा यक्षाभ्यां संव्यभज्यत**
> **शस्त्रं तद्रक्तसंश्लिष्टं सलिलेनोदमृज्यत।।**[3]

राजा ने शव उठाया, बीच से काटा, उससे बहने वाले रक्त से उसका खड्ग रञ्जित हो गया है। रक्त से रञ्जित शव के दोनों खण्ड यक्षों को सौंप दिया।

इस पद्य में जुगुप्सा स्थायीभाव का आश्रय पाठक या श्रोता है। शव आलम्बन विभाव है। राजा द्वारा उसको काटे जाने की प्रक्रिया, उससे रक्त का बहना, शव के टुकड़े देखना उद्दीपन विभाव हैं। घृणा, नाक भौंह सिकोड़ना आदि अनुभाव है। व्याधि, निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी से पुष्ट जुगुप्सा स्थायीभाव रस रूप में परिणत हो रहा है। -

5. अद्भुत रस–इसका स्थायीभाव विस्मय है। वर्ण पीत तथा देवता गन्धर्व कहा गया है। अद्भुत वस्तु के दर्शन तथा श्रवण से चित्त में जो विकास होता है, वही विस्मय कहलाता है। किसी का अद्भुत कार्य देखना, अद्भुत गुण सुनना, या अद्भुतगुणगान करना उद्दीपन है। रोमाञ्च, गद्गद् स्वर, संभ्रम इत्यादि अनुभाव है। वितर्क, आवेग, हर्ष, आदि व्यभिचारी भाव इसके पोषक हैं।[4] वैसे तो जब-जब भी

---

1. श्री.बो.स.च., 6.3; 5.7; 10; 14.14-18 इत्यादि
2. सा.द., 3.240-241
3. श्री.बो.स.च., 4.73-74
4. सा.द., 3.242-44

बोधिसत्त्व किसी के यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं तथा उनके जो विलक्षण कर्म होते हैं वे सभी विस्मय कारक होने से अद्भुत रसमय होते हैं पर श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में उसके कतिपय अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

द्वादश सर्ग में कृषक द्वारा पुत्र की मृत्यु के उपरान्त कृषक द्वारा बिना किसी दुःख के उसके दाहादि संस्कार किये जाने पर कृषक की इस घटना से इन्द्र भी विस्मित होता है।

सोऽमुष्य शीलमतिनिर्मलमालुलोके
प्रीतोऽभवच्च तदुदीक्ष्य मनुष्यलोके।
कौतूहलान्निजसमाधिबलान् मृतस्य
दाहक्रियास्थलमुपैदवनीस्थितस्य ।।[1]

इन्द्र उस स्थान पर पहुँचता है जहाँ कृषक पुत्र का दाहसंस्कार करता है। कृषक के इस कार्य को देख इन्द्र विस्मित होता है।

इस पद्य में विस्मय स्थायीभाव का आश्रय इन्द्र है। आलम्बन विभाव कृषक द्वारा पुत्र दाह करना है, कृषक को खिन्नता रहित देखना, पुत्र वधू को भी उसी प्रकार दुःख रहित देखना आदि उद्दीपन विभाव हैं, रोमाञ्च, गद्गद स्वर, संभ्रम, नेत्रविकार और अनुभाव तथा वितर्क, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ इन विभावादियों से पुष्ट अद्भुत रस की परिणति हो रही है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण देखें– कोशलराज कोशलपति की अहिंसा वृत्ति तथा शत्रु के प्रति भी मित्रता का भाव देखकर बहुत विस्मित होता है–

अहिंसाया इवादर्शं दर्शं दर्शमनुत्तमम्।
हिंसाप्रतिकृतिः साक्षात् कोशलेशो विसिष्मिये।।[2]

यहाँ विस्मय स्थायीभाव का आश्रय कोशलराज है। आलम्बनविभाव कोशलपति है। उसके द्वारा शत्रु पर भी दयाभाव दिखाना, शान्त रहना, प्रतिरोध न करना उद्दीपनविभाव हैं। स्तम्भ, रोमाञ्च, संभ्रम इत्यादि अनुभाव तथा आवेग, हर्ष, वितर्क, मोह इत्यादि संचारीभाव हैं। इनसे पुष्ट विस्मय स्थायीभाव रस रूप में परिणत हो रहा है।

6. भयानक रस–भयानक शब्द सुनने या भयदायक प्राणी को देखने से

1. श्री.बो.स.च.,12.41
2. वही, 3.102

उत्पन्न भय परिपुष्ट होकर भयानक रस में परिणत होता है।[1] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसका उदाहरण है–

> वपुः शीलवताऽस्पर्शि स्वपतोऽस्यासिकोटिना।
> शय्योत्थायमसौ भीतोऽभवत्सम्भ्रान्तलोचनः।।[2]

रात्रि के समय खड्ग हाथ में लिए जब राजा शीलवान् कोशलाधीश के शयन कक्ष में जाकर खड्ग की नोक से उसको जगाता है तब वह खड्ग हाथ में लिए राजा को देखकर भयभीत हो जाता है।

इस पद्य में भय–स्थायीभाव का आश्रय कोशलपति है। राजा शीलवान् आलम्बन विभाव है। एकान्त स्थान, राजा के हाथ में खड्ग, उद्दीपन विभाव हैं। व्याकुलता, कम्पन, श्रम, इधर–उधर दृष्टिपात, शरीर को सुंकुचित करना, शीलवान् से आने का कारण पूछना अनुभाव हैं। स्वेद, जडता, उग्रता, आवेग, दैन्य इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी से पुष्ट भय स्थायीभाव भयानक रस में परिणत हो रहा है। इस प्रकार डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में प्रायः सभी रसों का वर्णन करते हुए भी वीररस (धर्मवीर) को ही अङ्गीरस के रूप में पुष्ट किया है। अन्य सभी रस गौणरूप से उसी के पोषक हैं।

1. सा.द., 3.335–38
2. श्री.बो.स.च., 4.83

4

ध्वनि, औचित्य तथा वक्रोक्ति योजना

I. ध्वनि सिद्धान्त

(क) काव्य में ध्वनि का स्थान तथा महत्त्व

ध्वनिशब्द लोक तथा वेद में बहुत प्राचीनकाल से ही प्रचलित है, किन्तु इसके अर्थ में एकता नहीं, भिन्नार्थक होने से भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न अर्थ में यह प्रयुक्त होता रहा है। अथर्ववेद में ध्वनिशब्द का प्रयोग लोक में प्रचलित ध्वनि (अव्यक्तशब्द) के लिए हुआ है।[1] महर्षि पतञ्जलि ने प्रतीतपदार्थकशब्द को ध्वनि कहा है।[2] उन्होंने स्फोट को भी ध्वनि-शब्द से अभिहित किया है।[3] भर्तृहरि ने किसी वस्तु के संयोग तथा वियोग से जो स्फोट उत्पन्न होता है उससे उत्पन्न होने वाले शब्द को तथा स्फोट को अभिव्यञ्जित करने वाले प्राकृत तथा वैकृत-शब्द को ध्वनि कहा है।[4] काव्य की आत्मा को ध्वनि मानने वाले आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में इसी बात को और स्पष्ट रूप से में लिखा है कि-जिस ध्वनि को मैं काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादन कर रहा हूँ वह कोई नवीन नहीं अपितु विद्वानों द्वारा उसका निरूपण पहले से ही किया जा चुका है अर्थात् विद्वान् उससे पहले से ही पूर्णतः परिचित हैं।[5] मम्मट ने ध्वन्यालोक के इसी कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि विद्वान् वैयाकरणों ने प्रधानभूतस्फोट रूप व्यङ्ग्य को अभिव्यञ्जित करने वाले शब्द को ध्वनि कहा है।[6] भतृर्हरि का यह कथन ध्वनि सिद्धान्त को और अधिक पुष्ट करता है कि अनिर्वचनीय रूप से प्रकट होने वाले स्फोट के ग्रहण करने के योग्य-प्रत्ययों से

---

1. अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम्। -अथर्व., 5.20.7
2. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः। -व्या. म.भा., पस्पशाह्निकम् पृ.3
3. एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। - व्या. म.भा., तपरस्तकालस्य, 1.1.70
4. वा.प., 1.49 वृत्तिः
5. ध्व.,1.1
6. का.प्र.,1.4 वृत्तिः

जब स्फोट रूप शब्द प्रकाशित हो जाता है तब उसके स्वरूप की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है।[1] मूल रूप से स्फोट ही ध्वनि का आधार है। स्फोट का अर्थ ही "स्फुटयति अर्थोऽस्मात् इति स्फोटः' जिसेसे अर्थ स्फुट हो।[2] इस प्रकार वैयाकरणों की दृष्टि में स्फोट को प्रकाशित करने वाला शब्द नित्य और अखण्ड है और वही उनके मत में ध्वनि है।[3] काव्यशास्त्र की परम्परा को भी देखा जाये तो ध्वनितत्त्व केवल मात्र आनन्दवर्धन की ही नवीन देन नहीं अपितु उनसे पूर्ववर्ती आचार्य भी ध्वनि-तत्त्व से पूर्णतया अपरिचित नहीं थे। वे भी अप्रत्यक्ष रूप से उसको स्वीकार करते थे[4] किन्तु जिस रुप में ध्वन्यालोककार ने ध्वनि तत्त्व को लिया तथा उसके सूक्ष्म भेद किए और काव्य में उसको अनिवार्य माना यह उसकी साहित्यशास्त्र को अनुपम देन है।

(1) भामह—लक्षणग्रन्थों की परम्परा में भरत के बाद भामह ही प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से तो ध्वनि तत्त्व के विषय में कुछ नहीं कहा परन्तु पर्यायोक्त अलङ्कार के लक्षण में 'अन्योऽर्थो विभाव्यते' तथा समासोक्ति अलङ्कार में "यत्रोक्ते गम्यग्येऽन्योऽर्थः" कहकर अन्य अर्थ को विभावन तथा गमन-रूप से स्वीकार करते हुए प्रतीयमान अर्थात् ध्वनि अर्थ की ओर संकेत अवश्य किया है।[5]

(2) दण्डी—भामह के बाद दण्डी की भी यही समस्या थी उन्होंने ने भी गुण प्रकरण में माधुर्यगुण के लक्षण में गुण को रसवद् मानते हुए साक्षात् नहीं तो परम्परा से व्यङ्ग्यार्थरूप रस की प्रतीति को स्वीकार करते व्यंग्यार्थ ध्वनि का स्पर्श तो किया ही है।[6] दण्डी ने भाविक अलंकार के लक्षण में भी व्यक्तिपद को अभिव्यक्ति अर्थ में स्वीकार किया।[7] इससे स्पष्ट है कि वह व्यङ्ग्यार्थ से परिचित तो थे, पर अलङ्कारों के प्रति विशेष झुकाव होने के कारण उन्होंने ध्वनि जैसे सूक्ष्म तथा आन्तरिक तत्त्व की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

(3) वामन—वामन ने काव्यात्म के चिन्तन में यद्यपि काव्य की आत्मा रीति

---

1. वा.प., 1.50 वृत्तिः
2. काव्यशास्त्रविमर्श, शा. 2, डॉ० कृष्णकुमार, पृ. 506
3. वही, पृ. 506
4. ध्व., 1.1 वृत्तिः
5. काव्यालङ्कार, 2.79
6. काव्यादर्श, 1.51
7. तद्भाविकमिति प्राहु प्रबन्धविशयं गुणम्...विदुः। -वही, 2.364-366

को स्वीकार किया[1] पर प्रकारान्तर से व्यङ्ग्यार्थ को मान्यता प्रदान करते हुए वे दिखाई देते है। उन्होंने प्रथम अभिधेयार्थ के व्यक्त तथा सूक्ष्म दो भेद किए।[2] पुनः सूक्ष्म के भी भाव्य तथा वासनीय दो भेद किए। इनमें जिस अर्थ की प्रतीति झटिति न होकर विशेष चिन्तन या ध्यानपूर्वक हो उसे वासनीय माना।[3] विशेष ध्यान देने से स्पष्ट होने वाला अर्थ भी ध्वनि के नजदीक होने से व्यङ्ग्य रूप ही है।

(4) उद्भट–उद्भट ने अभिधा व्यापार का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। उन्होंने रूपक की परिभाषा में अभिधा व्यापार, व्याजस्तुति में शब्द-शक्ति रूपव्यापार तथा पर्यायोक्त अलङ्कार के लक्षण में अवगमनव्यापार का जिस प्रकार उल्लेख किया उससे स्पष्ट है कि उन्हें व्यंजना-वृत्ति का किसी न किसी प्रकार ज्ञान था।[4]

(5) रुद्रट–रुद्रट ने भी वक्रोक्ति अलङ्कार के भेद करते हुए काकुवक्रोक्ति में कण्ठ- ध्वनि से प्रतीति होने वाले दूसरे अर्थ को प्रतीति स्वरूप मानते हुए परवर्ती आचार्यों के लिए व्यंग्यार्थ का संकेत देते हुए एक मार्ग सा दिखा दिया था।[5]

(6) रुय्यक–रुय्यक तो ध्वनिवादी आचार्य हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से ध्वनि को स्वीकार किया है।[6] इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने किसी न किसी प्रकार शास्त्र रूपी पर्वत की गुफाओं में छिपी हुई ध्वनि को केवल खोजा ही नहीं अपितु-सर्वगम्य (विद्वद्गम्य) बना कर उसे काव्य में महनीय स्थान देते हुए काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया।[7]

(7) आनन्दवर्धनाचार्य–काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा में आनन्दवर्धनाचार्य ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने ध्वनि को अनिवार्य तत्त्व बताते हुए कहा कि न ऐसा कोई काव्य है और न कवि जो ध्वनि से रहित हो क्योंकि ध्वनि एक ऐसा तत्त्व है जो उपसर्ग, प्रत्यय, कारक, निपात, काल इत्यादि से लेकर महाकाव्य तक निहित है[8]

1. रीतिरात्मा काव्यस्य। -का.सू., 1.2.6-8
2. अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च। वही, 3.2.9
3. शीघ्रनिरूपणागम्यो भाव्यः। एकाग्रताप्रकर्शगम्यो वासनीय इति। -वही, 3.2.10 वृत्तिः
4. का.सा.सं., 1.21, 4.1-2, 5.16
5. विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्ट्य स्वरविपतो भवति।
   अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः।। -काव्यालङ्कार, रुद्रट, 2.16
6. अलङ्कारसर्वस्व की टीकाओं का अध्ययन, डॉ० देवेन्द्रमिश्र, पृ. 69
7. काव्यस्यात्मा स एवार्थः। -ध्व.,1.5
8. वही, 3.16

किन्तु यह ध्वनि-तत्त्व प्रत्येक कवि की वाणी में न होकर किसी-किसी की सरस्वती में ही विद्यमान होता है।[1] यह ध्वनि-तत्त्व ज्ञान का विषय न होकर केवल मात्र सहृदयता का विषय है।[2] यह शब्द द्वारा प्रकाशित न होकर केवल मात्र व्यञ्जना व्यापार से अभिव्यञ्जित होता है, क्योंकि शब्द के अन्य अर्थ अभिधा, लक्षणा द्वारा जाने जा सकते हैं किन्तु ध्वनि अभिव्यक्ति के लिए व्यञ्जना का होना आवश्यक है।[3] वह ध्वन्यर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है।[4]

(8) विश्वनाथ—विश्वनाथ यद्यपि रसवादी कवि है, किन्तु वे रस को ध्वनि से रहित नहीं मानते उनके मत में भी ध्वनि वाच्य से सर्वथा एक वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य की भिन्नता के लिए वक्ता तथा बोद्धा इत्यादि 11 कारण गिनाए हैं।[5]

(9) मम्मट—मम्मट ने ध्वनि की पुष्टि करते हुए लिखा है कि व्यंग्यार्थ में सङ्केत न होने से अभिधा द्वारा, हेतु न होने से लक्षणा द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती।[6] एक मात्र अभिधा द्वारा ही वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की प्रतीति संभव नहीं क्योंकि "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" इस नियम से एक वृत्ति द्वारा एक समय में एक ही अर्थ की प्रतीति कराए जाने के बाद पुनः उसकी प्रवृत्ति नहीं हुआ करती।[7] यहाँ तक कहा गया है कि विशेषण को बताने के बाद विशेष्य को भी बताने में अभिधा-वृत्ति की प्रवृत्ति नहीं होती।[8] लक्षणा द्वारा भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति संभव नहीं क्योंकि लक्षणा की स्थिति या तो रूढि पर या प्रयोजन पर निर्धारित होती है।[9] रूढि युक्त अर्थ तो अभिधेय जैसे होते हैं।[10] प्रयोजन के लिए ही व्यञ्जना की आवश्यकता हुआ करती है। प्रयोजन में भी लक्षणा किए जाने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होगा जो लक्षणा इत्यादि को भी समाप्त कर देगा।[11]

---

1. काव्यस्यात्मा स एवार्थः। – ध्व., 1.6
2. वही, 1.7
3. सा.द., 2.12
4. ध्व., 1.4
5. वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः।
   प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्ट्यादिकस्य च।। -सा.द., 2.16
6. नाभिधा समयाभावात् हेत्वाभावान्न लक्षणा। -का.प्र., 2.15
7. सा.द,. 2.12 वृत्तिः
8. विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे। -का.प्र., 2.10 वृत्तिः
9. ध्व., 1.18
10. वही, 1.16
11. एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी। – का.प्र., 2.17

(10) महिमभट्ट—ध्वनि का महत्त्व न केवल ध्वनिवादियों के द्वारा ही स्वीकार किया गया है अपितु ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट जैसे ने भी केवल मात्र व्यंजना का ही विरोध किया है न कि व्यङ्ग्यार्थ का, वे व्यङ्ग्यार्थ को तो स्वीकार करते है पर वे उसे ध्वनि का विषय न मानकर अनुमान का विषय मानते है अतः उनके मत में ध्वनि अनुमेय हैं।[1]

अतः इस प्रकार वेद और शास्त्र में ध्वनि को किसी न किसी प्रकार से स्वीकार किया जाता रहा है। आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्य की आत्मा के रूप में अलंकारादि को श्रेष्ठता प्रदान करने वाले अपने से पूर्ववर्ती किसी भी विद्वान् आचार्य का तिरस्कार न करते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को किसी न किसी प्रकार अपने ध्वनि-सिद्धान्त में समावेश करते हुए कहा कि-यदि कोई आचार्य पहले ही इस प्रकार ध्वनि का लक्षण कर चुका है तो इसमें हमें आपत्ति नहीं, उससे तो हमारे सिद्धान्त की पुष्टि ही होगी।[2] ध्वनि का स्वरूप बताते हुए सर्वप्रथम ध्वनि शब्द के अर्थ पर विचार किया गया है कि ध्वनि का अर्थ क्या है। इस दिशा में उसके निम्न अर्थ किए गए हैं-

ध्वनि शब्द का अर्थ

आनन्दवर्धनाचार्य के द्वारा पठित मूलकारिकाओं में पढ़े हुए ध्वनि-शब्द का केवल काव्य-विशेष अर्थ ही न होकर अन्य अर्थ भी हैं। जिसका स्पष्टीकरण करते हुए ध्वनि शब्द के इस प्रकार पांच अर्थ किए गए हैं।[3]

(1) ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः। इस व्युत्पत्ति से व्यञ्जकशब्द ध्वनि कोटि में आयेगा।

(2) ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकः अर्थः ध्वनि, अर्थात् जिस अर्थ से दूसरा अर्थ ध्वनित होता हो, वहाँ दूसरे अर्थ का व्यञ्जक पहला अर्थ होने से अर्थ भी ध्वनि है।

(3) ध्वन्यते इति ध्वनिः, जो ध्वनित किया जाये, वह भी ध्वनिकोटि में गिना जायेगा, इससे रस, अलङ्कार व्यङ्ग्य, वस्तु व्यङ्ग्य इत्यादि ध्वनि के तीनों रूप जाने जाते हैं।

(4) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः, जिसके द्वारा कोई ध्वनित किया जाए, इस कोटि में शब्द और अर्थ का व्यापार रूप व्यञ्जना इत्यादि शक्तियाँ ध्वनि कहलाती हैं।

1. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः.....। -व्य.वि., 1.1
2. लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः। -ध्व., 1.19
3. ध्व., आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी टीका, भूमिका, पृ.3

(5) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः, जिसमें वस्तु, अलङ्कार, रस आदि ध्वनित होते हैं, वह भी ध्वनि है। इसमें ध्वनि काव्य की गणना होगी।

इस प्रकार आचार्य ने ध्वनि-शब्द का प्रयोग केवल काव्यविशेष के अर्थ में न अपनाते हुए शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना-व्यापार और काव्य इन पांच अर्थों को अपनाया है।

ध्वनि स्वरूप

ध्वनि का स्वरूप बताते हुए आनन्दवर्धनाचार्य लिखते हैं कि-जहाँ वाच्यार्थ अपने आप को, वाचक शब्द स्वयं को एवं अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं।[1] ध्वनिकार का मानना है कि काव्य में सहृदयों से श्लाघ्य अर्थ पहले दो प्रकार के होते हैं। वाच्य और प्रतीयमान।[2] उन दोनों में से जहाँ कही वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान की अतिशयिता हो वहाँ ध्वनि काव्य होता है, यदि व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य का चारुत्व हो जाये तब गुणीभूतव्यङ्ग्यार्थ होता है।[3] मम्मट इत्यादि आचार्यों ने आनन्दवर्धनाचार्य का अनुसरण करते हुए वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अतिशयिता में ही ध्वनि मानी है और उसी को उन्होंने उत्तम काव्य या ध्वनि-काव्य कहा है।[4] विश्वनाथ ने भी ध्वन्यालोककार के मत का ही अनुसरण किया है।[5] पण्डितराजजगन्नाथ ने भी वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अतिशय होने पर ध्वनि-काव्य माना है और उसे उत्तमोत्तम ध्वनि-काव्य कहा है किन्तु जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान होता हुआ भी एक प्रकार से चमत्कार उत्पन्न करे उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक उत्तम काव्य स्वीकार किया है।[6]

(ख) ध्वनि के भेद

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मुख्यरूप से तीन भेद किए हैं-

---

1. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। -ध्व.,1.13
2. वही, 1.3
3. वही, 3.35
4. इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। -का.प्र., 1.4
5. काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम्।
   वाच्यातिशायिनी व्यंग्ये ध्वनिस्तकाव्यमुत्तमम्।। -सा.द., 4.1
6. र.ग., प्रथम आनन, पृ. 37-78

(1) वस्तु ध्वनि
(2) अलङ्कार ध्वनि
(3) रसध्वनि।

ध्वनि के अवान्तर भेद

वस्तुतः ध्वनि एक है पर व्यावहारिक दृष्टि से ध्वनि के अनेक भेद किए गए हैं। सर्वप्रथम ध्वनि के दो भेद किए गए हैं–

(i) अविवक्षितवाच्य (लक्षणा-मूलक)
(ii) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक)।[1]

अविवक्षितवाच्य के अन्तर्गत (i) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा (ii) अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य।[2] विवक्षितान्यवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद किए गए।[3] इस प्रकार मुख्य रुप से ध्वनि के इक्यावन भेद किए गए है जिनके आगे चलकर ध्वन्यालोक में ध्वनि के अनेक भेद किए गए हैं।[4]

(ग) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में ध्वनि

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य में ध्वनि के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। उनमें से कतिपय उदाहरण उद्धृत किए जा रहे हैं।

(1) अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि–जहाँ वाच्यार्थ अपने से भिन्न अर्थ में संक्रमित हो जाया करता है, वहाँ यह ध्वनि होती है।[5] जैसे–

वदतु वदतु सद्यः किंनिमित्ता विपत्तिः।
भवति समुदपादि ध्वंसितान्तःप्रसत्तिः।।[6]

यहाँ दो बार वदतु शब्द है किन्तु द्वितीय वदतु शब्द अर्थान्तर संक्रमित है। यहाँ

---

1. स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः। -ध्व., प्रथम उद्योत, पृ. 55
2. अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
   अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्।। -वही, 2.1
3. वही, 2.2
4. वही, 3.45
5. सा.द., 4.3 वृत्तिः
6. श्री.बो.स.च., 13.63

दूसरे वदतु शब्द से केवल कहे इतना मात्र बोध नहीं होता अपितु जो कुछ तुम्हारे हृदय में दुःख का कारण है उसको शीघ्र कहो इसका बोध हो रहा है।

(2) अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ अपने अर्थ का सर्वथा त्याग कर अपने से भिन्न किसी दूसरे अर्थ को बताया करता है वहाँ यह ध्वनि होती है।[1]

सुपुष्पिताः कण्टकिनः सदैते
विमोहयन्ति व्यथयन्ति लोकम्।
आपामरं सर्वगता विसिन्व-
न्त्यर्थाः स्वनर्था जनयन्ति शोकम्।।[2]

यहाँ सुपुष्पिताः और कण्टकिनः ने अपने अर्थ का त्याग कर लुभावने तथा दुःख-रूप अर्थ में परिणत कर दिया है अर्थात् विषय लुभावने तो होते है पर अन्ततः दुःखदायी भी होते हैं।

(3) संलक्ष्यक्रमध्वनि—संलक्ष्यक्रम ध्वनि को वस्तु तथा अलङ्कार रूप से दो प्रकार का माना गया है।[3]

(i) वस्तु से वस्तु ध्वनि—जहाँ किसी वस्तु से वस्तु मात्र की ध्वनि हो अर्थात् किसी वस्तु से किसी वस्त्वन्तर का बोध हो वहाँ यह ध्वनि होती है।[4] जैसे–

इदमपि स निशम्याऽवास्थिताऽवाङ्मुखस्तु
न च किमपि जगाद प्राप्तकालार्थवस्तु।
हृदयनिहितशोकान् मन्दधीः पीतिमानं
परमभजत तत्र स्वार्थिकश्चापमानम्।।[5]

यहाँ पीलिय द्वारा नीचे मुख कर के चुप रहना यह एक बात है। इससे संघ सेठ से धन-ग्रहण करने की स्वीकृति रूप वस्तु-व्यङ्ग्य होने से वस्तु से वस्तु ध्वनि है।

(ii) अलङ्कार से वस्तु ध्वनि—जहाँ किसी अलङ्कार से कोई बात ध्वनित हो वहाँ अलङ्कार से वस्तु-ध्वनि होती है।[6] जैसे–

1. सा.द., 4.3 वृत्तिः।
2. श्री.बो.स.च., 6.30
3. वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा। -सा.द., चतुर्थ परिच्छेद, पृ. 135
4. वही, पृ. 135
5. श्री.बो.स.च., 13.88
6. सा.द., चतुर्थ परिच्छेद

राज्ञः सपद्यूर्ध्वमुखस्य तस्या
मुखारविन्दे निपतात दृष्टिः।
अभूच्च दृष्टेः समकालमेव
कामस्य चापादपि बाणवृष्टिः।।[1]

इस पद्य में सहोक्ति अलङ्कार है जिससे राजा कुमार में उन्मदन्ती के प्रति अत्यधिक कामुकता की प्रतीति रूप वस्तु व्यञ्जित हो रही है।

(iii) अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि–जहाँ वाच्यालङ्कार से अलङ्कारान्तर की प्रतीति होती है, वहाँ अलङ्कार ध्वनि मानी गई है।[2] जैसे–

सूतस्तु तं कामविमुग्धबुद्धिं
नृपं विदित्वा विशदं न्यगादीत्।
अये महाराज ! कथं समक्षं
पश्यन्नपि त्वं नहि पश्यसीदम्।।[3]

यहाँ विरोधाभास अलङ्कारवाच्य है जिससे कामाधिकता के कारण राजा को उन्मदन्ती में दूसरी नायिका की भ्रांति व्यङ्ग्य है।

(4) पदगत-ध्वनि–जहाँ किसी विशेष पद के कारण कोई अर्थ ध्वनित हो वहाँ यह पदगत ध्वनि होती है।[4] जैसे–

आदेयमास्वादितपूर्वमेव
कन्दादिकं किञ्चन वस्तुजातम्।
एतद् भवन्तः परिपालयन्तु
ब्रवीम्यहं वो वचनं हिताय।।[5]

यहाँ वैश्य द्वारा प्रयुक्त ब्रवीमि के साथ 'अहम्' पद का प्रयोग वैश्य की बात को हितकारक तथा अनिवार्य रूप में मानने योग्य बता रहा है। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति केवल मात्र 'अहम्' पद के माध्यम से हो रही है। अतः पदगत ध्वनि है।

---

1. श्री.बो.स.च., 8.44
2. गाढकान्तदशनक्षतव्यथासंकटादरिवधूजनस्य यः .... निजाधरम्। –सा.द., 4.7
3. श्री.बो.स.च., 8.52
4. ध्व., तृतीय उद्योत, पृ.155
5. श्री.बो.स.च.,1.69

(5) वाक्यगत-ध्वनि–

देव! वाराणसीराज्यं नवनीतसमं मृदु।
अस्त्यद्य मद्यमाद्यं ते क्षुद्रं क्षौद्रमिवानतम्।।[1]

प्रस्तुत पद्य में वाराणसी के राज्य को अत्यन्त उपयोगी बताने के साथ-साथ उसे हस्तगत हुआ कहा गया है। इससे राजा शीलवान् की शीलता, जीवों के प्रति दया तथा सर्वथा प्रत्याक्रमणाभाव ध्वनित हो रहा है क्योंकि पूरे वाक्य से ही अर्थध्वनित हो रहा है। अतः वाक्यगत ध्वनि है।

ध्वन्यालोककार ने ध्वनि के विषय में कहा कि ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं, जहाँ ध्वनि न दिखाई देती हो। अतः सुप्, तिङ्, वचन-कारक इत्यादि से भी ध्वनि अभिव्यक्त हुआ करती है।[2]

(6) तिङन्त-पदगत-ध्वनि–

प्रेष्ठे सुते विनयशालिनि यूनि नष्टे।
रोरुद्यते सकल एव यतो विशिष्टे।।[3]

यहाँ रोरुद्यते तिङन्त पद में ध्वनि है। पुत्र के मरने पर सम्पूर्ण जगत् अर्थात् प्राणी बुरी तरह रोते हैं पर तुम नहीं रो रहे हो, इससे कृषक परिवार की वीत रागिता अभिव्यञ्जित हो रही है।

(7) उपसर्गगत-ध्वनि–

शास्तेति नाम्ना प्रथितो महात्मा
बुद्धः प्रबुद्धो जनताहिताय।
प्राग्जन्मवृतान्तकथास्तदीया
गीर्वाणवाण्या समुदीरयामि।।[4]

प्रस्तुत पद्य में प्र + बुद्धः में प्र उपसर्ग से उसमें परिपूर्ण बुद्धत्व की अभिव्यक्ति हो रही है। साथ ही "समुदीरयामि" में सम् और उत् दोनों उपसर्ग इस महाकाव्य की कथावस्तु की ऐतिहासिकता को सिद्ध करते हैं कि बुद्ध की यह कथावस्तु प्रसिद्ध है मैं तो उसे केवल संस्कृत में कह रहा हूँ।

---

1. श्री.बो.स.च., 3.39
2. ध्व., 3.16
3. श्री.बो.स.च., 12.47
4. वही, 1.1

(8) निपातगत-ध्वनि–

अनर्थमेकः कुरुते तदीयं फलं तु तत्पृष्ठचरेऽपि भुङ्क्ते।।[1]

यहाँ 'तु' निपात के द्वारा व्यापारी की मूर्खता को द्योतित किया गया है, जिसके कारण उसके सभी साथी मारे गए। इसी प्रकार–

पत्रं फलं पुष्पमथापि किञ्चिद्।
विनाज्ञया मे न निषेवणीयम्।।[2]

प्रस्तुत पद्य में 'किञ्चित्' के द्वारा केवल पत्र पुष्प का ही नहीं अपितु जो कुछ भी भोज्य तथा पेय है उन सभी का निषेध किया जा रहा है।

(9) अव्ययगत-ध्वनि–

न हि विलसति शोभा तेऽद्य वक्त्रारविन्दे।
शिथिलवसुमिवाहं त्वां, विपन्नं नु विन्दे।।[3]

यहाँ 'अद्य' के द्वारा संघ की अपने मित्र पीलिय की मुखाकृति से उसकी विपत्ति की प्रतीति हो रही है क्योंकि पहले उसके मुख का तेज भिन्न था, आज तो एकदम बदला हुआ दीख रहा है।

(10) विशेषणगत-ध्वनि–

तदोन्मदन्त्युक्तवती विनीता
स्वामिन्! पुमानेक इहागतोऽभूत्।
यस्तुन्दिलः स्थूलतनुर्गरिष्ठो
रथस्थितोऽदृश्यत दन्तुरश्च।।[4]

यहाँ उन्मदन्ती द्वारा राजा के लिए प्रयुक्त तुन्दिल, स्थूल, दन्तुर इत्यादि विशेषणों से राजा के प्रति उन्मदन्ती के हृदय में घृणा की भावना प्रकाशित हो रही है।

II औचित्य सिद्धान्त

(क) काव्य में औचित्य का स्थान तथा महत्त्व

इससे पहले कि औचित्य के विषय में कुछ लिखा जाए इसकी व्युत्पत्ति के

1. श्री.बो.स.च., 1.59
2. वही, 1.68
3. वही, 13.62
4. वही, 8.79

विषय में विचार कर लेना जरूरी है। औचित्य शब्द का मूल उचित शब्द माना गया है तथा उचित शब्द की निष्पत्ति दिवादिगण पठित धातु उच् समवाये से क्त प्रत्यय लगाकर की गई है।[1] तदनन्तर उचित शब्द से भाव में ष्यञ् प्रत्यय लगाकर उचित + ष्यञ् > य-वृद्धि औचित्य शब्द निष्पन्न किया गया।[2] उचित शब्द का आचार्यों द्वारा जो भी अर्थ किया गया हो पर क्षेमेन्द्र उचित शब्द से ही भाव में औचित्य शब्द को निष्पन्न मानते हुए लिखते हैं कि–

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।[3]

कुछ विद्वान् उचित शब्द से केवल भाव में नहीं, अपितु भाव और कर्म दोनों को मानकर ष्यञ् प्रत्यय करके औचित्य शब्द की निष्पत्ति करते हैं।[4]

ध्वन्यालोककार का मानना है कि अलङ्कारों के प्रतिपादन में कवि का सामर्थ्य होने पर भी रस और भाव रूप अलङ्कार ही औचित्य का निर्वाह करता है अन्य नहीं।[5] औचित्य के अर्थ का क्षेत्र उतना ही व्यापक है, जितना व्यवहार का। कब, कहाँ, किस स्थिति में कौन सी बात ठीक होती है और कौन सी ठीक नहीं, यह सब कुछ लोक व्यवहार पर निर्भर करता है। लोक में जो वस्तु जिस सीमा तक उचित होगी उसकी स्थिति उतनी ही मजबूत तथा चिरस्थायी होगी। वस्तुतः स्थिति तो वस्तु की होती है अर्थात् विशेष्य की होती है। उचित तो संदर्भ विशेषण होने के साथ-साथ वह किसी दूसरे का धर्म बना रहता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी भाव को मन में रखते हुए अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण में इस ओर संकेत किया कि देवताओं को अमृत पान कराने के लिए विष्णु का मोहिनी रूप उचित था।[6] मम्मट ने भी व्यवहार को महत्त्व प्रदान करते हुए काव्य के प्रयोजनों में इसको तृतीय स्थान प्रदान किया है।[7] वह साहित्य, साहित्य नहीं जो लोक व्यवहार के अनुरूप औचित्यमय न हो। राजशेखर ने लोक व्यवहार के

1. उच समवाये दिवादि, परस्मैपदि, सि.कौ.तत्त्वबोधिनी, पृ. 470
2. उचितस्य भावः व्यञ् (वाचस्पत्यम्), द्वि.भा., पृ. 1596
3. औ.वि.च., कारिका, 7
4. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। -पा.अ., 5.1.124
5. अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
   प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्।। -ध्व., 3.14
6. औ.वि.च., कारिका, 1
7. काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये....। - का.प्र., 1.2

आधार पर ही रीति तथा वृत्तियों की कल्पना की है। काव्यपुरुष तथा साहित्यविद्यावधू जिस-जिस दिशा में गए वहाँ के लोकव्यवहार के अनुरूप उन्होंने वहाँ की वेशभूषा को अपनाया।[1] भरतमुनि ने भी लोकानुरूप रीतियों का अनुशन कर काव्य में उन्हें स्थान प्रदान किया।[2]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को घटित करने के लिए शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार, वृत्ति, ध्वनि, रस, रसाभास, भाव, भावाभास आदि सभी में औचित्य को अनिवार्य माना है।[3] जहाँ कहीं औचित्य का अभाव होगा, वहीं पर रस भङ्ग होगा। जिससे वह काव्य, काव्य ही नहीं रहेगा। उसका उदाहरण देते हुए कहा कि यद्यपि अलङ्कार शरीर के शोभावर्धक होते हैं पर वे तभी तक शरीर की शोभा बढ़ाते हैं जब तक वे उचित स्थान पर पहने जाते हैं, अन्यत्र पहना हुआ अलङ्कार केवल हंसी का कारण बन सकता है। लोक व्यवहार के विषय में भी ऐसी स्थिति है।[4] लोकानुरूपसाहित्य में औचित्य का इतना महत्त्व देखा गया कि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा ही मान लिया।[5] क्षेमेन्द्र का मानना है कि रीति, गुणादि तत्त्व काव्य के उत्कर्षाधायक तथा स्वरूपधायक तत्त्वों को यदि औचित्यपूर्ण ढंग से न अपनाया जाए तो काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकता। अतः सबके मूल में औचित्य एक ऐसा तत्त्व है, जिसका काव्यत्व के साथ अन्वय-व्यतिरेकं सम्बन्ध मानना आवश्यक है।[6]

काव्यशास्त्र में आचार्य भरतमुनि से लेकर आधुनिक काल तक के सभी आचार्यों ने औचित्य को किसी न किसी प्रकार से महत्त्व प्रदान किया है।

(1) भरतमुनि—भरतमुनि का मानना था कि नाटक के अभिनय में लोक में प्रचलित व्यवहारानुरूप ही सब कुछ अपनाना चाहिए[7] क्योंकि मानव की प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है जिससे उसके व्यवहार में भी भिन्नता का आना

---

1. का.मी., तृतीय अध्याय, पृ. 84-85
2. वयोऽनुरूपः प्रथमस्तुवेशः वेशानुरूपश्च गतिप्रचारः।
   गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।। -ना.शा., 14.68
3. औ.वि.च., कारिका 5, पृ. 4
4. वही, कारिका 6, पृ. 6
5. औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य। -वही, पांचवी कारिका की वृत्तिः, पृ. 4
6. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।
   औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।। -वही, पृ.6
7. एकीभूताः पुनश्चैताः प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः।
   पार्षदं च देशकालौ चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य च।। -ना.शा., 13.54

स्वाभाविक है। लोक में जो भी व्यवहार हो नाटक में भी उन्हीं को अपनाना चाहिए, तद्विपरीत नहीं क्योंकि नाटक में उन्हीं की प्रामाणिकता मानी जाती है जो लोक में प्रचलित हो।[1] यद्यपि भरतमुनि ने औचित्य शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं किया पर उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि पात्रों की वेशभूषा देश और आयु के अनुकूल होनी चाहिए अन्यथा नाटकीय पात्र हंसी के पात्र बन जायेंगे।[2]

औचित्य सिद्धान्त के अवलोकन से ज्ञात होता है कि यद्यपि क्षेमेन्द्र को औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है पर क्षेमेन्द्र से पहले भी औचित्य के सभी तत्त्वों पर विचार हो चुका था। क्षेमेन्द्र का इसमें इतना ही महत्त्व है कि उन्होंने इसे सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया। वस्तुतः भरतमुनि ने जिस सिद्धान्त का बीजारोपण किया था, काव्य में या अन्यत्र उचित ढंग से रखे हुए पद, अलङ्कार, रीति, इत्यादि सहृदय-हृदयावर्जक होते हैं।

(2) अग्निपुराण–औचित्य का लक्षण करते हुए अग्निपुराणकार कहते हैं–

यथावस्तु तथारीतिर्यथावृतिस्तथा रसः।
ऊर्जस्विमृदुसन्दर्भादौचित्यमुपजायते ॥[3]

अर्थात् वर्णनीय वस्तु जिस प्रकार की हो, उस वस्तु के अनुकूल ही रीति, वृत्ति और रस का वर्णन होना चाहिए। अतः यहाँ रीत्यौचित्य, वृत्त्यौचित्य एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रसौचित्य का निर्देश किया गया है।

(3) भामह–इसी परम्परा में भामह भी अपना मत प्रकट करते हुए लिखते हैं कि काव्य में उचित रूप से रखे हुए दुष्ट पद या दुष्ट उक्ति भी इसी प्रकार शोभाधायक हो जाया करती हैं जिस प्रकार माला के बीच में पिरोये हुए नील-कमल[4] तथा कामिनी के नेत्रों में काला काजल।[5] वे यह भी कहते हैं कि यद्यपि पुनरुक्ति दोष होता है पर भय, शोक, असूया, हर्ष, विस्मय आदि भावों को प्रकट करने में पुनरुक्ति भी

---

1. ना.शा., 26.113
2. वही, 16.17
3. अग्निपुराण, 345.5
4. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
   नीलं पलाशमाबन्धमन्तराले स्रजामिव।। -काव्यालङ्कार, 1.54
5. वही, 1.55

औचित्य में गिनी जायेगी।[1] अतः औचित्य देश काल इत्यादि के अनुरूप हुआ करता है। देश भेद से भी औचित्य भिन्न-भिन्न हो जाया करता है।

(4) दण्डी—आचार्य दण्डी ने भी गुण और दोष विवेचन के अवसर पर औचित्य का महत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा कि औचित्य और अनौचित्य ही गुण और दोष के नियामक होते हैं, क्योंकि समुदाचार से रहित वाक्य में यद्यपि अयथार्थ दोष माना जाता है पर यदि किसी पागल, मदमस्त व्यक्ति, बालक और बीमार व्यक्ति के प्रलापादि में ऐसी स्थिति हो जाय तब वह दोष नहीं गिना जाता।[2] इसी प्रकार विरोधाभास दोष भी परिस्थिति विशेष में औचित्य और अनौचित्य के कारण गुण तथा दोष स्वरूप गिना जाता है।[3]

(5) वामन—आचार्य वामन गुण तथा रीति की प्रधानता को स्वीकार करते हुए भी औचित्य को काव्य में महत्त्व प्रदान करते दिखाई देते हैं।[4]

(6) रुद्रट—रुद्रट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने औचित्य का नामोल्लेख किया है। वे औचित्य और अनौचित्य को ही गुण तथा दोष का नियामक मानते हैं।[5] अनुप्रास तथा यमक के विवेचन में भी उन्होंने कई एक स्थानों पर औचित्य का उल्लेख किया है।

(7) आनन्दवर्धनाचार्य—आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में सर्वप्रथम औचित्य को महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने अलङ्कार, गुण, रीति, संघटना, रस आदि जैसे काव्य के घटक तत्त्वों के विनिवेश में औचित्य की अनिवार्यता स्वीकार की है।[6] उनके मत में काव्य में रसभङ्ग का अनौचित्य जैसा अन्य कारण नहीं है। क्षेमेन्द्र के औचित्य की दृढ़-भूमि तथा मूल-उद्गम स्थान ध्वन्यालोक को माना जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी।

(8) अभिनवगुप्त—ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने भी औचित्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि काव्य में रस अलंकार्य होता है अतः उसे

---

1. काव्यालङ्कार, 4.14
2. काव्यादर्श, 3.128; 130
3. वही, 3.179
4. का.सू., 2.1.1
5. काव्यालङ्कार, रुद्रट, 6.23; 29
6. ध्व., 3.6-14

सुशोभित करने वाले अलङ्कार ही काव्य में ग्राह्य हैं। उन्हीं का ही औचित्य स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार मृत शरीर पर कटक-कुण्डल तथा वीतराग सन्यासी के शरीर पर स्वर्णाभूषण हास्य के कारण बनते हैं। इसी प्रकार अनुचित स्थान पर अपनाए हुए अलङ्कार भी कवि की हंसी ही कराते हैं।[1]

(9) कुन्तक—वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले[2] कुन्तक ने भी औचित्य का भरपूर समर्थन करते हुए लिखा कि किसी वस्तु के स्वभाव को अभिधा द्वारा विचित्रता के साथ स्पष्ट रूप से वर्णन करना औचित्य है।[3] उन्होंने औचित्य की बिना किसी भेद-भाव से प्रशंसा की है। वे वक्रता को कहीं-कहीं औचित्य के रूप में स्वीकार करते दिखाई देते हैं। जैसे पद-वक्रता के प्रसंग में यह स्पष्ट दिखाई देता है।[4] धनञ्जय रसवादी होने पर भी औचित्य के परम पोषक हैं, वे यहाँ तक लिखते हैं कि यदि काव्य में कहीं पर नायक के या रस के विरुद्ध कोई प्रकरण आ रहा हो तब उसका त्याग कर देना चाहिए या उसके उत्कर्ष के लिए उसमें परिवर्तम कर देना चाहिए।[5]

(10) महिमभट्ट—महिमभट्ट को ध्वनि विरोधी कहा जाता है। वस्तुतः वे ध्वनि विरोधी नहीं अपितु व्यञ्जना विरोधी हैं। रस-ध्वनि के पूर्ण पक्षपाती हैं। रसों में व्याघात उपस्थित होना सबसे अधिक अनौचित्य हैं।[6]

(11) हेमचन्द्र—जैनाचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट का अनुकरण करते हुए वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य को आधार मानकर वर्ण आदि के अन्यथा भाव को उचित ठहराया है।[7]

---

1. तथाहि अचेतनं शरीरं कुण्डलाद्युपेतमपिन भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्।
   यतिशरीरं कटकादियुक्त हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्।।
   —ध्व., द्वितीय उद्योत, पृ. 172
2. औ.वि.च., कारिका, 7, पृ. 17
3. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
   प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्।। -व.जी., 1.53
4. वही, पृ. 63-64
5. द.रू., 3.24
6. एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। अन्तरङ्गबहिरङ्ग-भावश्चानयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वादिष्टः। -व्य.वि., पृ.152
7. वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धौचित्याद् वर्णादीनाम् अन्यथात्वम् अपि। -काव्यानुशासन, 4.8

(12) जयदेव–चन्द्रालोककार जयदेव ने अनुचितार्थ नामक दोष को स्वीकार किया है, वे किसी बात के उचित न होने को अनुचितार्थ मानते हैं–

व्यनक्त्यनुचितार्थं यत् पदमाहुस्तदेव तत्।[1]

उन्होंने किसी भी ऐसे वर्ण के प्रयोग को जो प्रकृत रस या भाव के उचित न हो, प्रतिकूलांक्षर नाम का रसदोष कहा है। वे अनौचित्य को एक स्वतन्त्र दोष स्वीकार करते हैं।

अनौचित्यं कीर्तिलतां तरङ्गयति यः सदा।[2]

जयदेव ने जिस प्रकार अनौचित्य को काव्य का दोष कहा, उसी प्रकार औचित्य की वे काव्य के प्रमुख गुणों में गणना करते हैं।[3]

(13) मम्मट–मम्मट ने रस दोष विचार प्रकरण में औचित्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि 'वक्ता, वस्तु, व्यङ्ग्य, वाच्य, प्रकरण इत्यादि के औचित्य से दोष भी गुण हो जाया करते हैं।[4] तद्विपरीत इनके अनौचित्य से गुण भी दोष हो जाया करते हैं।[5]

(14) विश्वनाथ–विश्वनाथ ने मम्मट का अनुसरण करते हुए औचित्य का महत्त्व स्वीकार किया है।[6]

(15) भोज–भोज ने भी सरस्वतीकण्ठाभरण में औचित्य का विषेश रूप से प्रतिपादन किया। क्षेमेन्द्र को भोज का भी ऋणी होना चाहिए, जिसने औचित्य को गद्य, पद्य तथा चम्पू में केवल दोषाभाव न मानकर गुण के सद्भाव रूप में भी स्वीकार किया और काव्य में औचित्य की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए आचार्यों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।[7]

(16) पण्डितराज जगन्नाथ–रसगंगाधर में पण्डितराज ने अनौचित्य को ही रसभंग का मूल कारण घोषित किया है–

---

1. चन्द्रालोक, 2.5
2. वही, 2.34
3. विचित्रलक्षणो न्यासो निर्वाहः प्रौढिरौचिती। -वही, 4.12
4. का.प्र., 7.63-64
5. वही, 7.60-62
6. सा.द., 7.16-32
7. स.कं., 2.18

अनौचित्यं तु रसभङ्गहेतुत्वात् परिहरणीयम्।[1]

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में औचित्य विषयक अवधारणाएँ

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में औचित्य के लिए Conformity, Appropriatenesrs, Fitness, Propriety, Decorum, Harmony, Congruity, Suitability, Coincidence, Aptness, Correctness इत्यादि पदों का प्रयोग किया गया है।[2] पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निम्नलिखित आचार्यों के औचित्य विषयक दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं।

(1) नगेन्द्र के अनुसार अरस्तू का मत—जिस प्रकार भरतमुनि ने नाट्य के प्रसंग में औचित्य का विवेचन किया है ठीक उसी प्रकार से अरस्तू ने कला की परिभाषा में औचित्य को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है। उन्होंने अनुकरणौचित्य, भाषौचित्य, विषयौचित्य, रीत्यौचित्य, रागौचित्य, छन्दौचित्य एवं अलङ्कारौचित्य के अन्तर्गत रूपकौचित्य की बात करते हैं।[3]

(2) नगेन्द्र के अनुसार होरेस का मत—पाश्चात्य काव्यशास्त्र में होरेस एकमात्र विचारक है, जिन्होंने प्रमुख रूप से औचित्य पर विचार किया है। होरेस कहते हैं कि चित्रकारों एवं कवियों के स्वच्छाचरण आवश्यक हैं, परन्तु इतना नहीं कि कोमल का कठोर से, पक्षियों और भुजंगों या मेमनों तथा चीटों के साथ संयोग हो।[4] वृत्त अथवा छन्दविषयक दृष्टिकोण होरेस एवं क्षेमेन्द्र का समान है। इनके अनुसार महाकाव्य, करुणकाव्य, व्यङ्ग्यकाव्य, त्रासदी, कॉमिडि (सुखान्त नाटक) आदि काव्यरूपों के लिए विभिन्न छन्दों का प्रयोग होना चाहिए।[5] इसके अतिरिक्त शैली औचित्य, विषयौचित्य, अभिनयौचित्य, इत्यादि कवि के यश को स्थायित्व प्रदान करती है।[6] क्विण्डिलियन, एस.थामस, पुटेन्हम, सिडनी और जॉनसन आदि ने भी औचित्य के विषय में मत प्रकट किये हैं।

आधुनिक आचार्य डॉ० शंकरदेव अवतरे

डॉ० अवतरे का मानना है कि क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती सभी आचार्यों

---

1. र.गं., प्रथम आनन, रस दोष प्रकरण
2. औचित्य सम्प्रदाय का हिन्दी काव्यशास्त्र पर प्रभाव, डॉ० चन्द्र हंस पाठक, पृ. 207
3. अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनु. डॉ० नगेन्द्र, पृ.सं. 9-10
4. काव्यकला (होरेसकृत), डॉ० नगेन्द्र
5. वही, पृ. 513
6. वही, पृ. 4-18

ने औचित्य को एक काव्य-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया। क्षेमेन्द्र ने उसी को काव्यात्म-रूप में अपना कर उसका महत्त्व बढ़ाते हुए रसौचित्य बिना काव्य को आत्मारहित शरीर के समान निर्जीव माना और औचित्य को काव्य में अनिवार्य तत्त्व मानते हुए उसका महत्त्व स्वीकार किया।[1]

इस प्रकार औचित्य का एक विस्तृत मार्ग होने पर भी क्षेमेन्द्र को इसका पूरा श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने औचित्य का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करते हुए उसे न केवल आत्मा के रूप में ग्रहण किया अपितु औचित्य को एक सम्प्रदाय के रूप में स्थापित कर उसे काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित भी किया। इसीलिए क्षेमेन्द्र औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक तथा आचार्य माने जाते हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के 27 भेद किए हैं।

(ख) औचित्य के भेद

1. पद	2. वाक्य	3. प्रबन्धार्थ
4. गुण	5. अलंकार	6. रस
7. क्रिया	8. कारक	9. लिंग
10. वचन	11. विशेषण	12. उपसर्ग
13. निपात	14. काल	15. देश
16. कुल	17. व्रत	18. तत्त्व
19. सत्त्व	20. अभिप्राय	21. स्वभाव
22. सारसंग्रह	23. प्रतिभा	24. अवस्था
25. विचार	26. नाम	27. आशीर्वाद[2]

ऊपर जो औचित्य के 27 भेद गिनाये गये हैं, उन्हें पांच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे-

(1) मीमांसा दर्शन के विषय-

1. पद 2. वाक्य 3. प्रबन्ध

(2) काव्यशास्त्र के विषय-

1. गुण 2. अलंकार 3. रस

---

1. अभिनवकाव्यशास्त्रम्, डॉ० शंकरदेव अवतरे, अ.6, श्लो., 536, पृ. 414
2. औ.वि.च., कारिका, 8-10

(3) व्याकरणशास्त्र के विषय–

1. क्रिया 2. कारक 3. लिंग
4. वचन 5. विशेषण 6. उपसर्ग
7. निपात 8. काल

(4) लोक विषय–

1. देश 2. कुल 3. व्रत

(5) कवि सम्बन्धी विषय–

1. सत्त्व 2. तत्त्व 3. अभिप्राय
4. स्वभाव 5. सारसंग्रह 6. प्रतिभा
7. अवस्था 8. विचार 9. नाम
10. आशीर्वाद

उपर्युक्त औचित्य के इन भेदों को चाहे किसी भी वर्ग में स्थान दें परन्तु ये सब समष्टिरूप से काव्य शरीर के निर्वाहक हैं।

(ग) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में औचित्य

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य में औचित्य के सभी भेदों के उदाहरण विद्यमान होने पर भी कतिपय उदाहरण ही यहाँ दिए जा रहे हैं।

1. पदौचित्य–उचित रूप से प्रयुक्त कवि द्वारा एक भी पद कविता-कामिनी के सौन्दर्य को तिलक के सदृश बढ़ाने वाला हुआ करता है।[1] उदाहरण–

अयि शृणु निकटस्थं तत् पुरो वेश्म गत्वा
लघु महदपि किञ्चिद् देयमेवेति मत्वा।
प्रवितर बुसमस्मै सम्यगालोक्य तुम्बी-
परिमितमिह दूरादागतोऽयं कुटुम्बी।।[2]

इस पद्य में प्रयुक्त 'बुस' पद, पीलिय की हीन भावना को प्रकट करने में और भी अधिक चमत्कृति पैदा कर रहा है क्योंकि 'बुस' पशुओं का खाद्य होता है।

2. वाक्यौचित्य–क्षेमेन्द्र का मानना है कि औचित्य को ध्यान में रखकर की

1. तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्। –औ.वि.च., कारिका 11
2. श्री.बो.स.च.,13.40

गई वाक्य रचना सहृदयों को अत्यन्तप्रिय हुआ करती है।[1] प्रस्तुत काव्य में इसका उदाहरण निम्न रूप से दिया जा सकता है।

गुणश्लाघ्ये नित्यं हृदय-निहिते प्रीतिसहिते
मनः सीदत्येव क्षणमपि वियुक्ते प्रियजने।
जगच्छून्यं भाति प्रदहति च सत्प्रेमरहितं
जनः प्रेम्णा युक्तः सततमवियुक्तः सुखमियात्।।[2]

प्रस्तुत पद्य में प्रेमी जन प्रेम के बिना जीवित नहीं रह सकते। इसमें न केवल पद अपितु सम्पूर्णवाक्य ही अर्थ चमत्कृति पैदा कर रहा है, अतः यहाँ वाक्यौचित्य है।

3. अलङ्कारौचित्य–क्षेमेन्द्र का कहना है कि मृगनयनी उन्नत पयोधरों के मध्य धारण किए हुए हार से जनित शोभा के समान अलङ्कार के औचित्य से कवि की कविता सुशोभित हुआ करती है।[3]

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसके अनेक उदाहरण होने पर भी निम्नलिखित उदाहरण देखें–

किंत्वब्धिवेलेव विलोकनीया
धर्माः सतां सन्त्यविलंघनीयाः।
श्रेयोर्थिभिर्ये परिपालनीया
मया सदा मित्र! निभालनीयाः।।[4]

यहाँ उपमालङ्कार राजा के धर्म की पुष्टि करता हुआ अलौकिक चारुता को प्रकट कर रहा है। अतः अलङ्कारौचित्य का यह सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।[5]

4. गुणौचित्य–जहाँ कहीं रचना में प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप माधुर्यादि गुण ग्रहण किये जायें वहाँ गुणौचित्य माना गया है।[6] इसका उदाहरण निम्न प्रकार से देखा जा सकता है।

---

1. औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम्। –औ.वि.च., कारिका, 12
2. श्री.बो.स.च.,11.6
3. औ.वि.च., कारिका 15
4. श्री.बो.स.च., 9.30
5. वही, 1.45, 3.59, 4.26, 6.28–30; 8.66;69 इत्यादि
6. औ.वि.च., कारिका, 14

गृहस्त्रीसुतश्रीशरीरादि सर्वं
पुनश्चापि लभ्यं भवेद् द्रागखर्वम्।
न लभ्यः कदाचिद् ध्रुवं भ्रातृरूप
इदं सूचयत्येव रामायणं नः।।[1]

प्रस्तुत पद्य में प्रसाद-गुण है। जिसके द्वारा भातृ-भावना और भी अधिक पुष्ट होती हुई सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाली है। इसके अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं।[2]

5. रसौचित्य—जहाँ सहृदयों के हृदय में व्याप्त होता हुआ औचित्य वसन्त-ऋतु में अशोक वृक्ष के समान शृङ्गारादि रस को प्रफुल्लित कर दे, वहाँ रसौचित्य माना गया है।[3] उदाहरण—

सङ्घट्यते जलघटो न यथार्य! भग्नः
कश्चेतनो भवति तेन च दुःखमग्नः।
एवं मृतं जनमुदीक्ष्य कदापि कश्चित्
खेदं मुधा न वहतीह वशी विपश्चित्।।[4]

इस पद्य में टूटे हुए घड़े के उदाहरण स्वरूप मृत-व्यक्ति का पुनः प्राप्त न होना तथा अग्निदाह के बाद उसके लिए दुःखी होना व्यर्थ बताया गया है। इस प्रकार यहाँ उचित विभावादियों द्वारा शान्त रस बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। इसी प्रकार रसान्तर का औचित्य भी देखा जा सकता है।[5]

6. सत्त्वौचित्य—सत्त्व से तात्पर्य मानसिक बल से है। जहाँ किसी के मानसिक बल के अनुरूप कवि की रचना सहृदयों के हृदय में चमत्कृति पैदा करे वहाँ सत्त्वौचित्त्य हुआ करता है।[6] उदाहरण—

प्रलोभिता भूरि सुखैषणाभिः
कष्टैरनिष्टैः परिवेष्टिता वा।

---

1. श्री.बो.स.च., 5.35
2. वही, 5.31; 7.22; 8.45; 56; 9.5; 10.37; 8.60 इत्यादि
3. औ.वि.च., कारिका, 16
4. श्री.बो.स.च.,12.77
5. वही, 8.64; 68, 9.43, 10.37; 39, 11.39, 12.37 इत्यादि
6. औ.वि.च., कारिका, 31

कल्याणहेतुं सुविनिश्चितार्थं
धीराः स्वमार्गं न परित्यजन्ति।।[1]

यहाँ किसी भी प्रकार के सुख-दुःखादियों के आने पर भी धीर व्यक्तियों के मानसिक-भाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार इस महाकाव्य में अन्यत्र भी इसके उदाहरण प्राप्त हैं।[2]

7. तत्त्वौचित्य—तत्त्व का अर्थ है यथार्थ अर्थात् यथार्थ वस्तु प्रकाशन। कवि द्वारा वर्ण्य वस्तु के यथार्थ वर्णन से जहाँ वास्तविकता का ज्ञान हो वहाँ तत्त्व का औचित्य रूप से कथन होने के कारण तत्त्वौचित्य हुआ करता है। जिस से कवित्व में हृदयाह्लादिता स्वतः झलकती है।[3] उदाहरण-

दैनन्दिनं तनुभृतो मरणं लभन्ते
शोकावहा परिणतिर्भवतीयमन्ते।
आयव्ययक्षययुता नचिरप्रभावा
भावा विभान्त्यनुपदं पतनस्वभावाः।।[4]

इस पद्य में देहधारियों का मरण तथा साँसारिक-पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और लय की अवश्यं भाविता बताते हुए जगत् का तात्त्विक वर्णन है। अतः यह तत्त्वौचित्य का सुन्दर उदाहरण है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्य भी इसके उदाहरण प्राप्तव्य हैं।[5]

8. प्रतिभौचित्य—नवीन कल्पना करना प्रतिभा कहलाती है। प्रतिभापूर्ण किए गए वर्णन से कवि का काव्य औचित्य से युक्त होकर आह्लादक हुआ करता है।[6] उदाहरणः-

तदोन्मदन्त्युक्तवती विनीता
स्वामिन्! पुमानेक इहागतोऽभूत्।
यस्तुन्दिलः स्थूलतनुर्गरिष्ठो
रथस्थितोऽदृश्यत दन्तुरश्च।।[7]

---

1. श्री.बो.स.च., 9.10
2. वही, 1.102, 2.64; 66; 104, 6.39, 8.47, 12.21 इत्यादि
3. काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः।। -औ.वि.च., कारिका, 30
4. श्री.बो.सं.च., 12.12
5. वही, 1.79, 3.80-81, 4.17-19, 6.40-41, 9.15; 35; 37; 41-42, 12.13-14 इत्यादि
6. औ.वि.च., कारिका, 35
7. श्री.बो.स.च., 8.79

यहाँ उन्मदन्ती को अहिपारक के पूछे जाने पर कि क्या तुम राजा के समक्ष आई थी? उन्मदन्ती द्वारा दिया गया यह प्रतिभापूर्ण उत्तर औचित्य को दिखाता हुआ काव्यत्व की उत्कृष्टता बढ़ा रहा है। इस महाकाव्य में अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं।[1]

9. विशेषणौचित्य—जहाँ योग्य-विशेषणों से युक्त वाक्य किसी विशिष्ट अर्थ को प्रकाशित करता है, वहाँ विशेषणौचित्य होता है।[2] उदाहरण—

रूपप्रकर्षेण समुज्वलन्तीं सुवासिनीं चारुविलासिनीं ताम्।
अलोकसामान्यगुणाभिरामां क्षणं निरीक्ष्यैव समे व्यमुह्यन्।।[3]

इस पद्य में सभी विशेषणों के शृङ्गाराभिव्यञ्जक होने से राजा कुमार के वियोग-शृङ्गार की पुष्टि में सहायक होने से यह विशेषणौचित्य का सुन्दर उदाहरण है।

10. नामौचित्य—जहाँ मनुष्य के कर्म के अनुरूप नाममात्र से उसके गुण तथा दोषों का ज्ञान हो जाया करता है, वहाँ नाम औचित्य हुआ करता है।[4] उदाहरणः—

अथास्य जननादूर्ध्वं शुभमेकादशेऽहनि
पित्रा नाम कृतं प्रीत्या शीलवानिति सुन्दरम्।
सत्स्वभावात् सदाचारात् सद्विचाराच्च सर्वथा
अन्वर्थसंज्ञास्तस्यासन् यथा नाम तथा गुणाः।।[5]

यहाँ जैसा राजा का नाम रखा गया उसी प्रकार उसका स्वभाव, विचार, आचार भी देखने को मिलता है। इस प्रकार नाम के औचित्य से कवि की रचना हृदयावर्जक हुआ करती है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसके अन्य उदाहरण भी देखें।[6]

11. सार-संग्रहौचित्य—जहाँ कवि द्वारा किसी ग्रन्थ के या महापुरुष के कथन को सार रूप से उपस्थित करने वाले अह्लादकारी वाक्यों द्वारा विशेषार्थ की प्रतीति कराई जाये, वहाँ सारसंग्रह औचित्य हुआ करता है।[7] उदाहरण—

---

1. श्री.बो.स.च., 4.30; 37, 5.19; 22 इत्यादि
2. औ.वि.च., कारिका, 23
3. श्री.बो.स.च., 7.21
4. नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः, औ.वि.च., कारिका, 38
5. श्री.बो.स.च., 3.9-10
6. वही, 2.6, 3.9-10, 7.11, 8.89 इत्यादि
7. औ.वि.च., कारिका, 34

एक आत्मैव सर्वत्र मन्तव्यः सततातत:।
द्रष्टव्यः श्रवणीयश्च विज्ञेय इति मे मतम्।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में गीता में प्रतिपादित आत्म-विषयक उपदेश को कवि द्वारा सार रूप से वर्णित करने के कारण यहाँ एक प्रकार से अर्थ में चमत्कार दिखाई देने से सार-संग्रहौचित्य है। इसी प्रकार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्य उदाहरण भी देखें।[2]

12. स्वभावौचित्य—स्वभाव के अनुरूप वर्णन काव्य का वैसा ही अलंकार है जैसा अकृत्रिम और अनन्यसामान्य लावण्य नायिका का।[3] उदाहरण—

बम्भ्रम्यते लोहितचक्षुरत्र व्यपेतभीरेष जनस्तथापि।
छायास्य भूमौ न विलोक्यतेऽतः प्रत्येमि दैत्यश्छलयन्नुपेतः।।[4]

इसमें राक्षसों के स्वभाव का मनोहारी वर्णन होने से स्वभावौचित्य स्पष्ट रूप से भासित हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी देखें।[5]

13. क्रियौचित्य—जहाँ क्रिया द्वारा स्वाभाविक रूप से वर्णनीय वस्तु में सौन्दर्याभिव्यक्ति दिखाई दे, वहाँ क्रिया-औचित्य हुआ करता है।[6] उदाहरण—

यज्जन्मना सर्वदिशः प्रसेदुर् ववुः सुखा गन्धवहाश्च भूयः।[7]

प्रस्तुत पद्य में भगवान् बोधिसत्त्व के जन्म पर जड़ जगत् तक की प्रसन्नता दिखाने के लिए प्रयुक्त 'प्रसेदुः' तथा 'ववुः' जैसे क्रिया पदों का प्रयोग अत्यधिक उपयुक्त होने से क्रियौचित्य का सुन्दर उदाहरण है।

14. उपसर्गौचित्य—काव्य में प्र, परा आदि उपसर्गों का उचित प्रयोग सत्कार्य में व्यय होने वाली सम्पत्ति के सदृश अत्यधिक महत्त्व रखता है।[8] उदाहरण—

अतो युक्तरूपाऽस्ति ते भ्रातृकाम्या,
निकामं त्वदीया मनीषाऽपि रम्या।

---

1. श्री.बो.स.च., 4.18
2. वही, 1.57, 3.13; 74; 97, 4.20, 11.20; 23, 12.12; 50 इत्यादि
3. औ.वि.च., कारिका, 33
4. श्री.बो.स.च., 1.73
5. वही, 4.24; 26; 71
6. औ.वि.च., कारिका, 19
7. श्री.बो.स.च., 1.5
8. औ.वि.च., कारिका, 24

ध्रुवं वस्तुतत्त्वं समुद्बोधितोऽहं
प्रसन्नाननस्त्वत्प्रियं कर्तुमीहे।।[1]

प्रस्तुत पद्य में 'समुद्बोधित:' मे सम् + उद्' इन दो उपसर्गों के द्वारा वाक्यार्थ में जो सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा है, उससे उपसर्गों का औचित्य स्पष्ट होने से उपसर्गौचित्य है।

15. निपातौचित्य—निपात के कारण रचना में वैचित्र्य आने से निपातौचित्य हुआ करता है। उदाहरण—

विकारहेतौ न विकुर्वते ये धन्यास्त एवाऽत्र समुल्लसन्ति।[2]

इसमें 'ते एव' में 'एव' निपात द्वारा एक भिन्न प्रकार की विच्छित्ति पैदा करता दिखाई दे रहा है। यहाँ एव का उचित प्रयोग निपातौचित्य का सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार—

फलं तु तत्पृष्ठचरोऽपि भुङ्क्ते।[3]

इसमें 'तु' निपात भी औचित्य में सहायक होने से निपातौचित्य का सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार प्रस्तुत काव्य में अन्यत्र भी देखें।[4]

III वक्रोक्ति सिद्धान्त

(क) काव्य में वक्रोक्ति का स्थान तथा महत्त्व

जहाँ तक वक्रोक्ति शब्द की मान्यता है कुन्तक से भी बहुत पहले इससे केवल काव्यशास्त्रीय आचार्य ही नहीं अपितु कवि भी परिचित थे और इसका प्रयोग व्यापक रूप में साहित्य में किया जाता था। उदाहरण के रूप में बाणभट्ट ने कादम्बरी में उज्जयिनी के नागरिकों को वक्रोक्ति में निपुण माना।[5] कादम्बरी के टीकाकार ने इसका विद्वानों की विलक्षण उक्ति अर्थ करते हुए उज्जयनी के नागरिकों को वक्रोक्ति में निपुण माना है।[6] काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम उसका प्रयोग भामह के काव्यालङ्कार में मिलता है।

---

1. श्री.बो.स.च., 5.25
2. वही, 6.43
3. वही, 1.59
4. वही, 1.2; 45, 2.4; 54, 4.106, 7.22, 8.65, 9.23, 10.35, 13.30, 14.42 इत्यादि
5. वक्रोक्तिनिपुणेन ....। –कादम्बरी चन्द्रकला टीका, कथामुखम्, उज्जयिनीवर्णनम्, पृ.158
6. वक्रोक्ति: विलक्षणा उक्ति: तत्र निपुणेन..........। – वही, पृ. 158

काव्य की आत्मा के विषय में कुन्तक वक्रोक्ति सिद्धान्त को मानने वाले प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने परम्परा से प्राप्त रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि तथा औचित्य का वक्रोक्ति में अन्तर्भाव इस वैदुष्यपूर्ण ढंग तथा तार्किक दृष्टि से किया कि यह सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक, वस्तुनिष्ठ तथा आधुनिक काव्य की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं हो गया अपितु काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित भी हो गया।[1]

(1) भामह–भामह ने वक्रोक्ति का लक्षण नहीं किया पर उनका मानना था कि "काव्य का सौन्दर्यादायक तत्त्व चाहे कोई भी अलङ्कार हो, उसका अस्तित्व वक्रोक्ति के बिना संभव नहीं।"[2] वे वक्रोक्ति के बिना किसी भी अलङ्कार में अलङ्कारतत्त्व स्वीकार नहीं करते थे।[3] वक्रोक्ति को उन्होंने अतिशयोक्ति भी कहा है। इस विषय में उनका कथन था कि सामान्य-लोक के वचन का अतिक्रमण करने वाला कथन अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति है।[4]

(2) दण्डी–दण्डी ने भी भामह का अनुसरण करते हुए वक्रोक्ति को सभी अलङ्कारों का मूल माना। उन्होंने काव्य को स्वाभावोक्ति तथा वक्रोक्ति इन दो रूपों में विभक्त किया।[5] उनमें से जहाँ जाति, गुण, क्रिया इत्यादि का नाना प्रकार से कवि द्वारा प्रतिपादन किया जाए वहाँ स्वाभावोक्ति तथा उससे अतिरिक्त अन्य स्थानों पर प्रतिपादित उपमा इत्यादि सभी अलङ्कारों को वक्रोक्ति कहा है।[6] वस्तुतः दण्डी भी वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति में भेद मानते नहीं दिखाई देते। उनका कथन है कि जहाँ लौकिक सीमाओं से हटकर कवियों की उक्ति हो वहाँ अतिशयोक्ति होती है और वह अतिशयोक्ति अलङ्कारों में सर्वश्रेष्ठ है।[7] वे अतिशयोक्ति को वर्ण्य विषय का उत्कर्षक मानते हुए कहते हैं कि–अन्य आचार्य भी अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का अवलम्बन मानते हैं।[8]

---

1. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
   बंधे व्यवस्थितौ काव्यतद्विदाह्लादकारिणी।। –व.जी., 1.10
2. सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
   यत्लोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना।। –काव्यालङ्कार, 2.85
3. वही, 2.87
4. काव्यशास्त्र विमर्श, भा. 2, डॉ० कृष्णकुमार, पृ. 464
5. द्विधा भिन्नं स्वाभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। –भारतीय साहित्यशास्त्र कोष, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, पृ. 1127
6. वही, 2.8
7. वही, 2.212
8. वही, 2.218

(3) वामन—वामन के मत में वक्रोक्ति सादृश्य के आधार पर उद्भूत होने वाली लक्षणामात्र है।[1]

(4) रुद्रट—रुद्रट वक्रोक्ति को केवल मात्र बोलने की एक कला विशेष पर आश्रित शब्दालङ्कार मानते हैं।[2] जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती विश्वनाथ इत्यादि आचार्यों ने भी किया।[3]

(5) आनन्दवर्धनाचार्य—वक्रोक्ति की इसी परम्परा में आनन्दवर्धनाचार्य का नाम आता है जिन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए भी वक्रोक्ति पर पूर्ण प्रकाश डाला है। भले ही कुन्तक ध्वनि विरोधी रहे हों पर ध्वन्यालोककार ने वक्रोक्ति को अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा व्यापकता प्रदान की है। यद्यपि उन्होंने नाम से इसका विस्तृत वर्णन नहीं किया पर कई स्थानों पर इसकी चर्चा की है। उन्होंने वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को समान मानते हुए, इन दोनों को काव्य में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने वाला तत्त्व माना है। उनके मत में सभी अलङ्कार अतिशयोक्ति गर्भित होते हैं और कवियों द्वारा अपनाई गई यह अतिशयोक्ति काव्य में अनिर्वचनीय शोभा प्रदान करती है।[4]

(6) भोज—भोज ने वक्रोक्ति के विषय में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों से कुछ हट कर विचार किया। उनका मानना है कि लोक में जो सीधे-साधे कथन होते हैं वे वचन कहलाते हैं किन्तु जिन कथनों में कुछ अर्थवाद होता है वे वक्रोक्ति (ध्वनि) कहलाते हैं।[5]

(7) मम्मट—मम्मट ने वक्रोक्ति को केवल अलङ्कार मात्र माना है किन्तु विशेष नामक अलङ्कार के उदाहरण के समय उन्होंने वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति रूप मानते हुए अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का प्राण माना है तथा प्रमाण में "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः" भामह की इस कारिका को उद्धृत किया।[6]

---

1. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः, -का.सू., 4.38
2. काव्यालङ्कार, रुद्रट 2.14;16
3. सा.द.,10.9
4. ध्व., 2.30 वृत्तिः
5. यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
   वक्रं यदर्थवादौ तस्य काव्यमिति स्मृति।। -शृं. प्र., 9.6
6. सर्वत्र एवंविधे विशयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्।
   -का.प्र, 10.36 की वृत्तिः

(8) विश्वनाथ–विश्वनाथ ने भी काव्यलक्षण के प्रसङ्ग में वक्रोक्ति को केवल मात्र अलङ्कार मानते हुए काव्यात्म-तत्त्व के रूप में उनका खण्डन किया।[1]

इस प्रकार उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा कुन्तक के वक्रोक्ति-काव्यात्मवाद को स्वीकार न करने पर भी काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का महत्त्व कम नहीं हुआ क्योंकि उनका वक्रोक्ति विवेचन सामान्य न होकर विशेष था। इसीलिए ध्वनि-विरोधी महिमभट्ट जैसे आचार्य ने भी वक्रोक्ति के महत्त्व को समझते हुए लिखा कि "शास्त्रादि के प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग करके चमत्कार-सिद्धि के लिए उसी अर्थ को जब दूसरे प्रकार से कहा जाता है तब वही वक्रोक्ति है और उसमें विलक्षणता होती है।[2] इस प्रकार कुन्तक के मत से वक्रोक्ति का लक्षण शास्त्र अथवा लोकप्रसिद्ध से अतिशायिनी विचित्र उक्ति वक्रोक्ति है[3] अर्थात् काव्य कुशलता के द्वारा किया गया कथन ही वक्रोक्ति है और इस प्रकार का वह कथन शोभातिशयकारी होने के कारण केवल अलङ्कार मात्र है।

(ख) वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति के 6 भेद किए हैं जो निम्न प्रकार से हैं–

1. वर्णविन्यासवक्रता
2. पदपूर्वार्द्धवक्रता
3. प्रत्ययाश्रयवक्रता
4. वाक्यवक्रता
5. प्रकरणवक्रता
6. प्रबन्धवक्रता

इसके बाद इनके उपभेद करने से अनेक भेद किए गए हैं। श्री बोधिसत्त्वचरितम् में कतिपय भेदों के उदाहरण निम्नलिखित रूप से देखे जा सकते हैं।

(ग) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में वक्रोक्ति

1. वर्णविन्यासवक्रता–किसी रचना में वर्णों की विशेष प्रकार की रचना वर्ण-विन्यास कहलाती है। इसमें कहीं एक वर्ण की, कहीं दो और कहीं दो से अधिक वर्णों की आवृत्ति थोड़े-थोड़े अन्तर पर देखी जाती है। इसका लक्षण इस प्रकार है–

---

1. सा.द., पृ. 13
2. व्य.वि., 1.69
3. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते। – व.जी., 1.10

एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिया सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता।[1]

एक तथा दो वर्णों के अनेक बार विन्यास का उदाहरण निम्नलिखित प्रकार से है।

साधुना चरति साधुतां सदा
दुर्जनेन सह दुष्टतां तथा।
मार्दवञ्च मृदुना समं भज-
त्युद्धतो भवति चोद्धतेन सः।।[2]

इसमें सकार, दकार तथा मकार की एक बार तथा साधु में दो वर्णों की आवृत्ति होने से वर्णविन्यास का उदाहरण है। पाँच वर्णों की आवृत्ति का उदाहरण निम्नलिखित प्रकार से है–

हर्म्येऽतिरम्ये सुविधोपगम्ये
यथा स्वकीये सुखमारमन्ति।
राज्ञः सदाचारपरस्य राज्ये
तथा मनुष्याः सुखमारमन्ति।।[3]

प्रस्तुत पद्य में सुखमारमन्ति 6 वर्णों की आवृत्ति होने से प्राचीन आचार्यों ने इसे यमक तथा कुन्तक ने यमक वर्ण विन्यास वक्रता नाम प्रदान किया है।[4]

2. पदपूर्वार्द्धवक्रता–जहाँ सुबन्त तथा तिङन्त की वक्रता अर्थात् विशेष रूप से विन्यास हो वहाँ पदपूर्वार्द्धवक्रता होती है।[5] सुबन्त का उदाहरण–

आदेयमास्वादितपूर्वमेव
कन्दादिकं किञ्चन वस्तुजातम्।
एतद् भवन्तः परिपालयन्तु
ब्रवीम्यहं वे वचनं हिताय।।[6]

---

1. व.जी., 2.1
2. श्री.बो.स.च., 2.48
3. वही, 9.36
4. व.जी., 2.17
5. वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्द्धवक्रता। वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः।। वही,1.19
6. श्री.बो.स.च.,1.69

यहाँ ब्रवीमि के साथ अहं (अस्मद् सुबन्त) का केवल मैं अर्थ नहीं अपितु वैश्य (बोधसत्त्व) के द्वारा इसका अर्थ तुम्हारा हितैषी से सुबन्त वक्रता है। इसी का एक और उदाहरण देखें–

बम्भ्रम्यते लोहितचक्षुरत्र
व्यपेतभीरेष जनस्तथापि।
छायास्य भूमौ न विलोक्यते-
ऽतः प्रत्येमि दैत्यश्छलयन्नुपेतः।।[1]

यहाँ बम्भ्रम्यते क्रिया पद पुनः-पुनः भ्रमति के योग से निष्पन्न है। राक्षस की मनोवृत्ति को बताने के लिए ही यहाँ यङन्त क्रिया पद प्रयुक्त किया गया है। इसी पद्य में 'प्रत्येमि' क्रिया पद भी दृढ़ विश्वास के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसलिए सुबन्त पद की वक्रता स्पष्ट है।

3. पर्यायवक्रता–जहाँ पर किसी पदार्थ को अनेक अन्य शब्दों द्वारा प्रतिपादित किए जाने योग्य होने पर भी कवि अत्यधिक सौन्दर्य या अर्थ या वस्तु की अत्यधिक विशेषता बताने के लिए शब्द के किसी विशेष पर्याय का प्रयोग करें। वहाँ पर्यायवक्रता होती है।[2] उदाहरण–

लाभः परस्ताद्गमनेऽस्ति भूयान्
न खेदमत्रानुभवामि किञ्चित्।
वाटा समाः स्युर्विकटा अटव्यां
पुरा प्रयातुः शकटीभिरस्य।।[3]

यहाँ वाटाः शब्द के स्थान पर मार्गाः इत्यादि का प्रयोग भी किया जा सकता था पर कवि का तात्पर्य था कि जंगलों में ऊबड़-खाबड़ रास्ता होता है इसलिए वाटाः शब्द का प्रयोग कम चौड़े, ऊबड़ खाबड़ मार्ग के लिंए बड़ा उपयुक्त है।

4. उपचारवक्रता–जहाँ कवि द्वारा किन्हीं दो पदार्थों में अभेद प्रतिपादन करने के लिए मूर्त में अमूर्त इत्यादि का आरोप किया जाय वहाँ उपचारवक्रता होती है। यह रूपकालङ्कार का बीज है।[4] उदाहरण–

---

1. श्री.बो.स.च., 1.73
2. अलंकारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः।
   पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परा पर्यायवक्रता।। –व.जी., 2.12
3. श्री.बो.स.च., 1.24
4. व.जी., 2.14

प्रादायि तुभ्यं शुभलक्षणेयं
मयोन्मदन्तीत्यवधारणीयम्।
मल्लीमतल्लीमिव कामवल्ली-
माश्लिष्य फुल्लाधरपल्लवां त्वम्।।[1]

इस पद्य में काम में वल्ली तथा अधर में पल्लव का उपचार ग्रहण करने से एक प्रकार से विच्छित्ति पैदा होने से उपचार-वक्रता स्पष्ट है।

5. विशेषणवक्रता—जहाँ किसी विशेषण के द्वारा किसी विशेष्य या क्रिया के अर्थ में विच्छिति दिखाई दे वहाँ विशेषणवक्रता होती है।[2] उदाहरण-

काशीराजस्तु धर्मात्मा शीलवान् बलवानपि।
विशुद्धचेतसा सर्वान् परिपप्रच्छ तस्करान्।।[3]

इस पद्य में काशीराज के लिए प्रयुक्त बलवान्, धर्मात्मा, शीलवान् जैसे विशेषण उसके बोधिसत्त्वभाव की विशुद्धता में अतिशय साधक हैं। अत: विशेषण-वक्रता स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्यत्र भी देखें।[4]

6. प्रत्ययवक्रता—पद के मध्य में आया हुआ कृत् इत्यादि प्रत्यय अपने उत्कर्ष से जहाँ प्रस्तुत वस्तु की शोभा को बढ़ाता हुआ विच्छिति प्रकाशित करे वहाँ प्रत्यय वक्रता होती है।[5] उदाहरण-

उपेत्य सोऽपि प्रणनाम भूपं
सप्रश्रयं वाचमुवाच चेमाम्।
राजन् ! भवद्भावुककामुकोऽहं
कार्याज्झटित्येव समागतोऽस्मि।।[6]

यहाँ भवद्भावुक-कामुक: में /भू से शतृ प्रत्यय से (निष्पन्न) भवद् शब्द के साथ भावुक शब्द (आपके कल्याण की इच्छा से) इस प्रकार आपके प्रति मोहातिशय के कारण मैं यह न करने योग्य कार्य भी कर रहा हूँ। यहाँ प्रत्यय द्वारा अर्थ का सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा है। अत: प्रत्यय वक्रता है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी देखें।[7]

1. श्री.बो.स.च., 9.27
2. व.जी., 2.15
3. श्री.बो.स.च., 3.54
4. वही, 3.66; 75; 104, 4.96, 5.18; 33; 36, 8.68 इत्यादि
5. व.जी., 2.17
6. श्री.बो.स.च., 8.102
7. वही, 1.29, 12.12; 29; 52 इत्यादि

7. कालवक्रता—काल से तात्पर्य है व्याकरण गत लट् आदि प्रत्ययों के द्वारा जहाँ पर वर्तमान कालादि क्रियायों का वैचित्र्य दिखाई दे वहाँ कालवैचित्र्यवक्रता होती है।[1] उदाहरण—

प्रभ्रंशयामो जलपूर्णकुम्भा-
नेतानशेषान् यदि वैश्यसूनोः।
तृष्णक् तदायं सलिलं विनैव
सामर्थ्यहीनो भविताऽचिरेण।।[2]

यहाँ भविता में लुट् का प्रयोग निश्चित समय को द्योतित कर रहा है कि बस ज्यों ही हम इसका पानी गिरवा देंगे त्यों ही इसकी मृत्यु हो जाएगी। इस प्रकार लुट् के प्रयोग से जन्य शब्दार्थ की रमणीयता स्पष्ट होने से कालवक्रता है।

8. लिङ्गवैचित्र्यवक्रता—जहाँ कवि द्वारा स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के विशिष्ट प्रयोगों के कारण काव्य में रमणीयता प्रदान की जाये, वहाँ लिङ्ग-वैचित्र्य-वक्रता होती है।[3] उदाहरण—

अशान्तचित्तं ननु भिक्षुमेनं
यूयं समानीय समागताः स्थ।
कामप्रवृत्त्योज्झितनित्यकृत्यः
पात्रं दयाया न रुषोऽयमस्ति।।[4]

यहाँ भिक्षु के लिए प्रयुक्त सर्वनाम पुलिङ्ग (अयम्) है पर उसके लिए 'पात्रम्' नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया गया है। यहाँ पात्र से भिक्षु की दीन-हीन दशा प्रदर्शित की गई है।

9. संख्यावक्रता—जहाँ कवि लोग काव्य में रमणीयता लाने के लिए वचन में विपरिणमन कर देते हैं, वहाँ संख्यावक्रता होती है।[5] जैसे—

न च कृतमुपकारं बन्धवो विस्मरन्ति।[6]

---

1. औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्।
   याति यत्र भवत्येशा कालवैचित्र्यवक्रता।। -व.जी., 2.26
2. श्री.बो.स.च., 1.38
3. व.जी., 2.21
4. श्री.बो.स.च., 6.35
5. कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः।
   यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः।। -व.जी., 2.29
6. श्री.बो.स.च., 13.29

यहाँ यद्यपि संघ सेठ केवल पीलिय के विषय में कह रहा है पर कवि ने यहाँ बन्धु शब्द में बहुवचन का प्रयोग करके उपकारियों की उत्कृष्टता तथा उनके प्रति आदरभाव प्रदर्शित किया है।

10. उपसर्ग तथा निपातवक्रता—जहाँ उपसर्ग या निपात सम्पूर्ण वाक्य में एकवाक्य रूप से शृङ्गारादि रसों को प्रकाशित करते हैं वहाँ उपसर्ग या निपातवक्रता होती है।[1] उदाहरण—

> **तस्यां तरुण्यां प्रसितोऽतिमात्रं**
> **दुर्वासनावासितमानसः सः।**
> **उन्मादयुक्तो विगलद्विवेकः**
> **सद्माऽपि नावेदहिपारकस्य।।**[2]

यहाँ पर सद्म के साथ 'अपि' निपात राजा की अत्यधिक विकलता को द्योतित कर रहा है क्योंकि राजा इतना विकल हो गया कि वह अहिपारक के घर को भी नहीं पहचान सका। इसी में वासना के साथ दुर् उपसर्ग उसकी अत्यधिक कुत्सित वासना को द्योतित करने के कारण यहाँ पर दुर् उपसर्ग और अपि निपात के कारण राजा की अतिशय व्याकुलता अभिव्यक्त हो रही है।

11. कारकवक्रता—जहां कारक विशेष से अर्थ में विचित्रता आ जाये वहाँ कारक वक्रता मानी गयी है। कारक वक्रता का लक्षण करते हुए लिखा गया कि जिस प्रकार उत्तम वंश का ऐश्वर्य अच्छे आचरण से सुशोभित होता है, इसी प्रकार काव्य योग्य कारकों से सुशोभित होता है।[3] निम्नलिखित पद्य में सम्प्रदान कारक की विषेशता के कारण अर्थ में विशिष्ट सौन्दर्य आ गया है। उदाहरण—

> **इत्याकलय्येत्य पुरः पटं स्वं**
> **सा स्नाननिर्णीतनुर्विपाद्य।**
> **अर्धं स्वयं पर्यदधादथार्धं**
> **प्रणम्य तस्मै यतये मुदाऽदात्।।**[4]

---

1. व.जी., 2.33
2. श्री.बो.स.च., 8.46
3. व.जी., 2.27
4. श्री.बो.स.च., 8.17

प्रस्तुत पद्य में उन्मदन्ती प्रथम तो सुन्दर वस्त्र की प्राप्ति के लिए आजीविका करती है तथा उसी वस्त्र को प्राप्त कर पुनः एक भिक्षु को दान भी कर देती है। इससे बड़ी बात क्या हो सकती है। इसमें जो उत्कर्ष दिखाई दे रहा हैं वह एकमात्र 'तस्मै यतये' सम्प्रदान बोधक पद में होने से सम्प्रदानौचित्य का सुन्दर उदाहरण है।

5
गुण, रीति विमर्श

I गुण सिद्धान्त

(क) काव्य में गुणों का स्थान तथा महत्त्व

गुणों का स्थान, लक्षण तथा संख्या के विषय में वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक साहित्य तक बडी सूक्ष्म तथा विस्तार रूप से विवेचन किया गया है। षड्-दर्शन में इसका वर्णन बडे ही सूक्ष्म ढंग से किया गया है। दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय में विभिन्न रुप से इसका निरूपण हुआ है तथा इनका लक्षण और संख्या विभिन्न रूप से स्वीकार की गई है[1]। दर्शन की अपेक्षा साहित्यशास्त्र में आचार्यों ने गुणों का काव्यशास्त्रीय विधि से ही निरूपण किया है। काव्यशास्त्र में भरतमुनि से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ तक इन गुणों के विषय में विस्तार से चर्चा होती रही है। गुणों के स्वरूप तथा संख्या के विषय में भले ही आचार्यों में मतभेद रहा है किन्तु सभी ने गुणों के महत्त्व को किसी न किसी प्रकार स्वीकार करते हुए काव्य से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य स्वीकार किया है।

(1) भरतमुनि–भरतमुनि ने गुणों के विषय में पृथक् रुप से विवेचन ही नहीं अपितु गुणों को दोषों का ही विपर्यय माना हैं।[2] उन्होंने उनका स्वरूप न बताते हुए भी उनकी संख्या दस बताई है।[3]

(2) भामह–भामहाचार्य ने तीन गुण माने है–

> **माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।**
> **समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुंजते।।**

---

1. सत्वम्, रजस्, तमस्। –सां.का., 13, रूप-रस..चतुर्विंशतिर्गुणाः। -तर्कसंग्रह, पृ. 9
2. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।– ना.शा., 16.95
3. श्लेषः प्रसादः समता, समाधिः माधुर्यम् ओजः, पदसौकुमार्यम्।
   अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते।। –वही, 16.96

केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।[1]

(3) अग्निपुराणकार–अग्निपुराणकार ने 19 गुण स्वीकार किए। पहले उन्होंने सामान्य तथा वैषेशिक के नाम से गुणों को दो भागों में विभक्त किया। तदनन्तर उन्होंने सात शब्द के गुण, छः अर्थ के तथा छः शब्द तथा अर्थ दोनों के गुण प्रतिपादित किए।[2]

(3) दण्डी–दण्डी ने काव्य की शोभा के कर्ता के रूप में गुणों को माना है।[3] उन्होंने उनकी संख्या भरतमुनि के समान दस ही मानी। उन्होंने इन गुणों को वैदर्भमार्ग का प्राण माना है।[4]

(4) वामन–वामन ने गुणों के विषय में भरतमुनि के मार्ग का अनुसरण किया है पर भरतमुनि की अपेक्षा कुछ विस्तार से विवेचन करते हुए इन्हें शब्दगत तथा अर्थगत रूप से दो प्रकार से मानकर इनकी संख्या 20 मानी है। दोनों में नाम की समानता स्वीकार करते हुए भी उनके स्वरूप में भेद माना है। शब्दगत गुणों को बन्ध अथवा पदरचना का गुण माना है।[5]

(5) आनन्दवर्धनाचार्य–9वीं शताब्दी में गुणों की मान्यता के विषय में तो एक नया परिवर्तन दिखाई दिया। काव्य की आत्मा अलङ्कार, गुण, रीति मानने वाले आचार्यों के मत का खण्डन करने वाले आनन्दवर्धन ने गुणों के विषय में भी चर्चा की और एक ऐसे मार्ग का प्रवर्तन किया, जिसका समर्थन उनके उत्तरवर्ती मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज साहित्यशास्त्र के उद्भट विद्वानों ने भी किया। ध्वन्यालोककार ने दस शब्द गुण और दस अर्थगुण न मानकर केवलमात्र माधुर्य, ओजस् तथा प्रसाद ये तीन ही गुण स्वीकार किए तथा उनका स्वरूप निर्धारण कर गुण और अलङ्कार के भेद का भी निरूपण किया।[6]

(6) राजशेखर–राजशेखर ने गुणों के विषय में कुछ नहीं कहा, केवलमात्र

---

1. भामह, काव्यालंकार, 2.1–2
2. सम्भवत्येष सामान्यो वैषेशिक इति द्विधा।
   सर्वसाधारणीभूतः सामान्य इति मन्यते..........षट्प्रपंचविपंचिताः।। अ.पु., 346.3–20
3. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। –काव्यादर्श, 3.1.1
4. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। –वही, 1.42
5. का.सू., 3.1,4 तथा 3.2.1
6. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
   अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।। –ध्व., 2.6

काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय में ग्रन्थरचना के विषय में एक अध्याय को गुणौपादनिक कहा है।[1]

(7) **कुन्तक**–कुन्तक ने 10 गुणों को स्वीकार किया तथा उनकी विवेचना पृथक् रूप से करते हुए तीन मार्ग स्वीकार किए। वे हैं सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इन तीन मार्गों में से प्रत्येक मार्ग में चार गुणों का उल्लेख किया गया है।[2]

(8) **भोज**–भोजराज ने गुणों की संख्या चौबीस मानी है।[3] उन्होंने गुणों का बाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक रूप से तीन प्रकार से विभाजन किया है। बाह्य में शब्दगुण, आभ्यन्तर में अर्थगुण तथा वैशेषिक के अन्तर्गत दोषों की गुण स्थिति मानी है।[4] वैशेषिकगुण की उनकी नवीन कल्पना है।[5]

(9) **जयदेव**–जयदेव ने काव्य में अलंकार को ही श्रेष्ठ माना और यहाँ तक यह कह दिया कि अलंकार के बिना काव्य, काव्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि वे अलंकार को ही काव्य का आत्मा तक मानते हैं[6] पर इतना होने पर भी उन्होंनें 10 गुणों को स्वीकार किया है और कान्ति नामक गुण का शृङ्गार में तथा अर्थव्यक्ति का प्रसाद गुण में अन्तर्भाव करते हुए उनको पुरुष में शूरता, वीरता के समान ही मानते हैं।[7]

(10) **विद्यानाथ**--काव्यशास्त्र की परम्परा में विद्यानाथ ने भोज द्वारा स्वीकृत शब्द गुणों को मानते हुए केवल मात्र 10 गुण ही स्वीकार किए तथा गुणों को संघटना का धर्म स्वीकार करते हुए उनको काव्य की आत्मा का उत्कर्षाधायक माना हैं।[8]

(11) **मम्मट**–काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में 12 शताब्दी में आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम काव्यशास्त्र के आधारभूत ग्रन्थ काव्यप्रकाश में गुणों के स्वरूप का निर्धारण किया और रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर गुणों को काव्यात्मभूतरस का उत्कर्षक मानते हुए काव्य में गुणों की स्थिति को अनिवार्य रूप

---

1. गुणौपादानिकमुपमन्युः। -का.मी., प्रथम अध्याय, पृ. 40
2. व.जी., 1.29-33
3. स.क.,1.62
4. वही,1.61
5. वही, 1.60
6. चन्द्रालोक, 5.1
7. अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा। -वही, 4.10
8. प्र.रू.य.भू., पृ. 335

से स्वीकार किया[1]। मम्मट ने वामन की उस मान्यता का भी खण्डन किया जिसमें वामन ने गुणों को काव्य के धर्म के रूप में स्वीकार किया था।[2] मम्मट ने गुणों से अलङ्कारों की पृथक्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए लिखा कि जहाँ रस होता है, वहाँ अलंकार शब्द और अर्थ के द्वारा अङ्गीरस के उत्कर्षक ठीक इसी प्रकार हुआ करते हैं, जिस प्रकार कटक-कुण्डल इत्यादि अलङ्कार किसी कामिनी के शरीर की शोभा बढ़ाते हुए उसकी आत्मा के उत्कर्षक हुआ करते हैं। जहाँ रस नहीं होता वहाँ अलङ्कार केवल वैचित्र्यमात्र के उत्पादक होते हैं। कहीं-कहीं तो अलंकार केवल अलंकार मात्र होते है वे विद्यमान रस के भी उपकारक नहीं होते।[3]

मम्मट ने गुणों को एकमात्र रस का धर्म मानते हुए उसके तीन भेद ही स्वीकार किए हैं।[4] यद्यपि गुणों की यह संख्या ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ही स्वीकार कर चुके थे[5] पर मम्मट ने उनकी अपेक्षा यह नवीन कार्य किया कि वामन द्वारा स्वीकृत 10 शब्द और 10 अर्थ गुणों का रस के अङ्गभूत माधुर्य, ओजस् तथा प्रसाद इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव किया। इससे पूर्व इस प्रकार शब्दार्थ गुणों का रस से सम्बन्धित तीन गुणों में अन्तर्भाव किसी ने नहीं दिखाया था। इनके मत में प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत गुण केवल गुण नहीं अपितु कहीं गुण, कहीं दोषाभाव तथा कहीं दोष स्वरूप हैं। वे गुणरूप है, तो उन्हें गुण रूप से ग्रहण कर के इन तीन गुणों में ही अन्तर्भूत कर दिया जायेगा। अन्यथा यथा स्थिति के अनुसार स्वीकार किया जायेगा।[6] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्द और अर्थ गुणों को मम्मट आदि आचार्यों ने रस के धर्मभूत गुणों में सीधा अन्तर्भाव नहीं किया अपितु परम्परा से शब्दार्थ के धर्म के रूप में स्वीकृत माधुर्यादि गुणों में ही अन्तर्भाव किया।[7] इस प्रकार अन्तर्भाव करने पर मम्मट का कहना था कि शब्दगुण और अर्थ गुण पृथक् नहीं हैं[8] उनकी संख्या दश न होकर तीन ही है। वे तीन गुण है-माधुर्य,

---

1. का.प्र., 8.66
2. वही, पृ. 289
3. यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः। क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।
   -वही, 8.67 वृत्तिः
4. वही, 8.69
5. ध्व., तृतीय उद्योत, पृ.170-172
6. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः।
   अन्ये भजन्ति दोपत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।। -का.प्र., 8.72
7. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। - वही., 8.71
8. वही, 8.72 वृत्तिः पृ. 328-330

ओजस् और प्रसाद। ये काव्यात्मभूत रस के अनिवार्य धर्म हैं, शब्द और अर्थ के नहीं, जिनके बिना रस की स्थिति होना संभव नहीं।[1]

(12) विश्वनाथ—विश्वनाथ आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी मम्मट के मत का ही अनुसरण करते हुए माधुर्य, ओजस् तथा प्रसाद तीन गुणों को ही स्वीकार किया[2] तथा उनका पृथक् पृथक् रुप से विवेचन करते हुए लक्षण प्रस्तुत किया।

(ख) गुणों के भेद

आचार्यों द्वारा मान्य गुणों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से है।

गुण संख्या—भरतमुनि सम्मत 10 गुण

1. श्लेष
2. प्रसाद
3. समता
4. समाधि
5. माधुर्य
6. ओज
7. सौकुमार्य
8. अर्थव्यक्ति
9. उदारता
10. कान्ति

भामह सम्मत 3 गुण

1. माधुर्य
2. ओज
3. प्रसाद

दण्डी सम्मत गुण

दण्डी ने गुणों की संख्या तथा नाम पृथक् रुप से नहीं माने अपितु भरतमुनि द्वारा स्वीकृत गुणों की संख्या तथा लक्षण को स्वीकार किया।

अग्निपुराण सम्मत 19 गुण

अग्निपुराण में 19 गुण माने गए है जिनकों तीन भागों में विभक्त करते हुए निम्न रुप दिया गया है।

'क' शब्दगुण

1. श्लेष
2. लालित्य
3. गाम्भीर्य
4. सौकुमार्य
5. उदारता
6. सती
7. यौगिकी

---

1. माधुर्य्यौंजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश। का. प्र., 8.68
2. माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा। –सा.द., 8.1

'ख' अर्थगुण

1. माधुर्य	2. संविधन	3. कोमलत्व
4. उदारता	5. प्रौढि	6. सामासिकत्व

'ग' उभयगुण

1. प्रसाद	2. सौभाग्य	3. यथासंख्य
4. उदारता	5. पाक	6. राग

भोजराज सम्मत 24 गुण

भोजराज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में गुणों का विस्तृत रूप से विवेचन करते हुए उनकी संख्या 24 मानी है जो निम्न प्रकार से हैं।

1. श्लेष	2. प्रसाद	3. समता
4. माधुर्य	5. सुकुमारता	6. अर्थव्यक्ति
7. कांति	8. उदारता	9. उदात्तता
10. ओज	11. औचित्य	12. प्रेयान्
13. सौशब्द्य	14. समाधि	15. सूक्ष्मता
16. गाम्भीर्य	17. विस्तार	18. संक्षेप
19. सम्मितता	20. भाविकता	21. गति
22. रीति	23. उक्ति	24. प्रौढि

कुन्तक सम्मत 6 गुण

1. माधुर्य	2. प्रसाद	3. लावण्य
4. आभिजात्य	5. औचित्य	6. सौभाग्य

वामन सम्मत गुण

वामन ने 20 गुण माने है जिनमें 10 शब्दगुण और 10 अर्थगुण है।

आनन्दवर्धन सम्मत 3 गुण

1. माधुर्य	2. ओज	3. प्रसाद

मम्मट सम्मत 3 गुण

1. माधुर्य	2. ओज	3. प्रसाद

विश्वनाथ सम्मत 3 गुण

1. माधुर्य 2. ओज 3. प्रसाद

पण्डितराजजगननाथ सम्मत 3 गुण

1. माधुर्य 2. ओज 3. प्रसाद

नवीन तथा प्राचीन आचार्यों की गुण-विषयक मान्यता के आधार पर श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में गुणों का अन्वेषण करने पर पर्याप्त रूप से तीनों गुणों के उदाहरण मिलते हैं। आद्योपान्त काव्य को पढ़ने से अनायास ही प्रतीति हो जाती है कि पद-योजना का प्राण-स्वरूप प्रसाद-गुण काव्य में कवि की वाक्य-योजना के कारण स्वतः ही प्रतीति रूप में आ जाता है। माधुर्यगुण की गरिमा भी काव्य में पूर्ण-रूप से दृष्टिगत होती है। कहीं-कहीं ओजोगुण का गुम्फन भी काव्य को गम्भीरता की ओर ले जाता दिखाई देता है पर अधिकांशरूप से काव्य में आद्योपान्त प्रसाद गुण का ही प्रयोग देखने को मिलता है। इसका मूल कारण है भाषा की सुगमता तथा उसका स्वाभाविक-प्रवाह। प्रस्तुत महाकाव्य में कवि ने आचार्यों द्वारा अपनाये गए माधुर्य, ओजस् और प्रसाद-गुण के लक्षणों को सम्मुख रखकर ही तत्-तत् गुणानुरूप रचना की है।

(ग) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में गुण

1. माधुर्य गुण—विश्वनाथ ने माधुर्य का लक्षण करते हुए लिखा है कि-माधुर्य वह गुण है, जो चित्त को आह्लादित करने वाला हो तथा शृङ्गार रस को अभिव्यञ्जित करने की शक्ति रखता हो। माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक शब्दों में ट, ठ, ड और ढ वर्ण को छोड़कर क से म पर्यन्त वर्ण अपने अन्तिम-वर्ण के साथ मिलकर कर्णसुखद ध्वनि उत्पन्न करने वाले होते हैं। माधुर्य-गुण रचना असमासा या अल्पसमासा होती है।[1] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में से इसके कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। जैसे-

> **अनङ्ग-रङ्ग-स्थलमन्तरङ्गं**
> **तरङ्गयन्ती कुटिलैः कटाक्षैः।**
> **असौ विशालायतपक्ष्मलाक्षी**
> **मनोऽहरन्मे वनकिन्नरीव।।[2]**

---

1. सा.द., 8.3
2. श्री.बो.स.च., 8.66

इस पद्य में अनङ्ग, रङ्ग, तरङ्ग इत्यादि पदों में गकार का ङ्कार के साथ संयोग, कुटिलैः में ककार इत्यादि का प्रयोग, अन्तिम चरण में व, न, कि इत्यादि वर्णों का प्रयोग तथा समास-रहित एवं 'अनङ्ग-रङ्ग' इत्यादि में अल्पसमास से युक्त रचना माधुर्य-गुण को द्योतित कर रही है। इसी प्रकार-

न वाञ्छाम्यहं कान्तमेकान्तकान्तं
न वा पुत्रमिच्छामि मत्स्नेहपात्रम्।
प्रियं भ्रातरं सोदरं प्राप्य राजन्
सुखं प्राप्नुयां भ्रातृमत्येव भूयः।।[1]

प्रस्तुत पद्य के प्रथम चरण में कान्त, मेकान्त, तान्त तथा द्वितीय चरण में पकार, मकार का प्रयोग, तृतीय में ह्रस्व तकार तथा चतुर्थ चरण में वकार तथा अनुनासिक बहुल वर्ण तथा समास रहित रचना माधुर्य गुण की द्योतित कर रही है। इसी का एक अन्य अत्युत्तम उदाहरण दिया जा सकता है-

नितान्तं तान्तौ तां रजनिमखिलां सान्धतमसां
सकृच्चावां हासं व्यतनुव सकृच्चापि रुदितम्।
नियुक्तानामेषा भवति विवशानामिह दशा
मनस्ताम्यद् भ्राम्यद् क्वचिदपि रतिं नैव लभते।।[2]

इस पद्य में माधुर्य व्यंजक वर्णों की विद्यमानता समासयुक्त रचना का अभाव, सुन्दर पदविन्यास तथा अर्थ की रमणीयता अत्यधिक हृदयावर्जक है। अतः माधुर्यगुण की गरिमा विद्यमान है। इसके अतिरिक्त श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में माधुर्य के अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं।[3]

2. ओजोगुण-चित्त की विस्तृति अर्थात् विस्तार अथवा उष्णता को ओज कहते हैं। चित्त की वह विस्तृति सहृदयों के हृदय की दीप्ति कहलाती है। यह दीप्ति कोई प्रकाश विशेष न होकर आस्वाद विशेष है, जो रौद्रादि रसों की अनुभूति का परिणाम है। दीप्ति ही एक प्रकार से ओजस् है जिसे लोक में जोश कहा जा सकता है। चित्त की यह अवस्था-विशेष ही ओजोगुण के रूप में ग्रहण की जाती है।[4]

---

1. श्री.बो.स.च., 5.18
2. वही, 10.37
3. वही, 1.31; 51, 2.5; 60, 3.95, 5.4; 18, 6.8, 7.13-14, 8.70; 12.86; 87, 14.11 इत्यादि
4. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते। -सा.द., 8.4

ओजोगुण का वर्ग के प्रथम वर्णों (क, च, ट, त, प) का वर्ग के द्वितीय वर्णों (ख, छ, ठ, थ, फ) के साथ तथा तृतीय वर्णों का (ज, ब, ग, ड, द) का वर्ग के चतुर्थ वर्ण (झ, भ, घ, ढ, ध) के साथ योग (जैसे पुच्छ, वृद्ध) इत्यादि तथा रकार का किसी भी वर्ण के नीचे या ऊपर संयोग प्रकाशक होता है। जैसे (वक्त्र, शक्र, विमर्श) अथवा स्वतन्त्र रूप से ट, ठ, ड, ढ वर्ण एवं षकार तथा शकार वर्ण हुआ करते हैं।[1] इसमें दीर्घ समासा रचना एवं उद्धत पदयोजना होती है। ओजोगुण विशेष कर वीर, बीभत्स तथा रौद्ररस में अधिकता से देखा जाता है।[2] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के कुछ एक उदाहरण यहाँ उद्धृत किए जा सकते हैं। उदाहरण–

शाठ्यकूटकपटान् व्यघट्टयन्,
निश्छलं च सरलं व्यवाहरन्।
सज्जनाः समुदितार्थसिद्धयः
प्राप्नुवन् मुदमुदात्तबुद्धयः।।[3]

यहाँ टवर्ग की बहुलता, तृतीय वर्ग की चतुर्थ के साथ युति (सिद्धयः, बुद्धयः), शकार, छकार की युति (निश्छल) इत्यादि तथा दीर्घसमास इत्यादि के होने से ओजो-गुण की स्थिति विद्यमान है। इसका अन्य उदाहरण देखें:-

स्वयञ्च खट्विकां लघ्वीमधिशय्याशयिष्ट सः।
नम्रता कम्रतां लेभे हिस्त्रस्याहिंसकं प्रति।।[4]

इस पद्य में खट्विकां में 'ट्वि' 'घ्वी' 'शय्या' शयिष्ट, नम्रता, कम्रता हिंस्त्र इत्यादि वर्ण तथा 'शय्याशयिष्ट' 'हिस्त्रस्याहिसकं इत्यादि पद ओजोगुण के प्रकाशक हैं। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी इसके उत्कृष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं।[5]

3. प्रसादगुण–प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता। यह काव्य का ऐसा गुण है जो कवि के वैदुष्य के साथ-साथ उसकी सहृदयता तथा शब्द विषयक विपुलता को भी प्रकट करता है। यह ऐसी रचना में हुआ करता है जहाँ शब्द सुनते या पढ़ते ही अपने अर्थ को प्रकट करते हैं तथा वह अर्थ पाठक या श्रोता के हृदय में सहसा व्याप्त होने लगता है। इसका लक्षण करते हुए लिखा गया कि–

---

1. सा. द., 8.6
2. वही, 8.4
3. श्री.बो.स.च., 2.14
4. वही, 4.98
5. वही, 1.25; 27; 32; 39; 43; 46; 73, 3.63; 85, 4.34; 50; 98, 6.27; 29, 8.2;29; 9. 12, 12.15; 38; 77; 90; 14.27 इत्यादि।

प्रसाद गुण सहृदयों के हृदय की इस प्रकार की निर्मलता है जो चित्त में इस प्रकार एक क्षण में व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार अग्नि सूखी लकड़ियों में सहसा व्याप्त हो जाया करती है। प्रसाद-गुण सभी रसों में हुआ करता है। प्रसादगुण के लिए कहा गया कि उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्द ऐसे होने चाहिए जिन्हें सुनने मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो जाए।[1] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् तो प्रसाद गुण का मानों भण्डार ही है तथापि कतिपय उदाहरण इस प्रकार है–

शान्तिपूर्वकमयं प्रयस्यति,
क्रोधमेष सुतरां निरस्यति।
साधुवद् व्यवहरन्नसाधुना-
प्युद्धतं प्रति सदैव शाम्यति।।[2]

प्रस्तुत पद्य में महाराज श्रीकुमार का सारथि उनके गुणों का बड़े ही सरल तथा कोमल शब्दों में वर्णन कर रहा है। यहाँ पदों के श्रवणमात्र से अर्थ-प्रतीति होने के कारण प्रसाद गुण स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से प्रसादगुण के उदाहरण श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में देखे जा सकते हैं।[3]

II रीति सिद्धान्त

(क) काव्य में रीति का स्थान तथा महत्त्व

रीति शब्द का व्यापक अर्थ है। यह शब्द उतना ही विस्तृत है जितना धरातल, क्योंकि काव्य में ही नहीं अपितु समाज में भी रीति का बहुत बड़ा स्थान है। यदि सीधे शब्दों में लिखा जाए तो रीति का अर्थ है ढंग। प्रत्येक प्राणी का खान-पान, रहन-सहन का अपनी ही विधि होती है। समाज में भी प्रत्येक क्षेत्र तथा वहाँ के व्यक्तियों का अपना रहन सहन का एक ढंग होता है। व्यक्ति का सम्बन्ध समाज से है, क्योंकि व्यक्ति समाज की इकाई है और समाज व्यक्ति की समष्टि है। इसी से समाज के भी अपने तौर तरीके भिन्न-भिन्न हो गए। बोलने, पहनने, रहने इत्यादि सभी में पृथक्ता आती गई। लौकिक भाषा में जिसे रिवाज, तरीका, ढंग या प्रथा कहा गया; काव्यशास्त्र में उसी को रीति कहा गया है। इसी को कहीं कहीं मार्ग नाम से भी जाना गया।[4]

---

1. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः स प्रसादः। –सा.द., 8.7
2. वही, 2.58
3. श्री.बो.स.च., 1.61, 72, 97, 102; 2.20, 49, 51-52, 57; 4.112,; 5.16, 21, 33; 6.10, 43; 7. 30; 8.53; 9.19, 37; 10.35; 11.3; 12.84; 13.99; 14.42 इत्यादि।
4. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। –काव्यादर्श, 1.40

वैदिक काल में भी रीति को मार्ग नाम से भी जाना जाता था। ऋग्वेद में रीति शब्द मार्ग या गमन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] हिन्दी में रीति का स्थान शैली ने ले लिया है, जो कि अंग्रेजी के स्टाइल (style) शब्द का ही अनुवाद है। शैली शब्द का प्रयोग संस्कृतसाहित्य में भी पाया जाता है, जो व्याख्या-पद्धति के लिए प्रयुक्त हुआ है[2] जेसै साहित्यिक शैली, दर्शन में नैयायिकों की शैली इत्यादि। आधुनिक विद्वान् शैली तथा रीति को समानार्थक मान रहे हैं पर कतिपय विद्वान् इससे सहमत नहीं है। वे शैली और रीति में भेद मानते हैं।[3]

रीति शब्द क्र्यादिगणीय री 'गतिरेषणयो:'[4] धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। रीणन्ति गच्छन्ति अनया इस व्युत्पत्ति से रीति का अर्थ मार्ग भी होता है। अगर यह अर्थ किया जाए तो दृश्य और श्रव्य दोनों ही प्रकार के काव्यों में कवियों के मार्ग-भेद से ही भिन्न-भिन्न मार्ग होंगे।[5]

(1) भरतमुनि—रीति शब्द का इतिहास कुछ विस्तृत है जैसे कि सर्वप्रथम भरतमुनि ने रीति या पदसंघटना के लिए प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है।[6] उन्होंने इसे देश-विशेष, भाषा-वेश और आचार के आधार पर माना था।[7] भरतमुनि द्वारा स्वीकृत प्रवृत्ति को आगे चलकर रीति रूप में स्वीकृत किया गया।

(2) भामह—निष्पक्ष रूप से देखा जाए तो रीति को प्रतिष्ठित करने में आचार्य भामह प्रथम हैं परन्तु भामह ने अपने ग्रन्थ में रीति शब्द का प्रयोग न कर मार्ग-पद का ही प्रयोग किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में वैदर्भी और गौडी दो मार्गों का ही उल्लेख किया है।[8]

---

1. तामस्य रीतिं पारशोरिव प्रत्यनीकमख्यं भुजे अस्य वर्पस:।। -ऋ.वे., 5.48.4
2. प्रायेण आचार्याणामियं शैली, यत् स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति।
   -मनु., 1.4 (कुल्लूक भट्ट टीका)
3. काव्यशास्त्र विमर्श, द्वि.भा., पृ. 453
4. पा.धा.पा., धातुसंख्या, 1501
5. कविराजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० विष्णुदत्त शर्मा, पृ. 282.
6. ना.शा., 13.31-32
7. प्रवृत्तिरिति कस्मात, उच्यते-पृथिव्यां नानादेश-वेश-भाषाचार--वार्ता: ख्यापयतीति प्रवृति:।
   -वही, 13.32 वृत्ति:,।
8. अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
   गौड़ीयमपि साधीय:, वैदर्भमपि नान्यथा।। -काव्यालंकार,1.35

(3) दण्डी–आगे चल कर दण्डी ने रीति को मार्ग की संज्ञा दी है। उनके मत में काव्य रचना के अनेकं मार्ग हैं पर मुख्य रूप से दो ही मार्ग हैं।[1] उन्होंने रीति का सम्बन्ध गुणों के साथ जोड़ा है।[2] इस प्रकार दण्डी के मत से वैदर्भी काव्य की उत्तम रीति और गौड़ी अधम रीति है।

(4) वामन–काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रीति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने किया है। उन्होंने पदों की संघटना को रीति कहा तथा संघटना को गुणों से युक्त माना है।[3] वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं।[4] वामन ने वैदर्भी, गौड़ी के अतिरिक्त पाञ्चाली रीति को भी स्वीकार कर रीतियों की संख्या तीन तक पहुँचा दी। उनका मानना है कि पाञ्चाली रीति में वैदर्भी और गौड़ी दोनों का मिश्रण रहता है। उसमें दोनों गुण कुछ ऐसी शिथिलता के साथ रहते हैं कि न तो वे सर्वथा छूट ही जाते हैं और न सर्वथा गृहीत ही होते हैं। वह आवश्यकतानुसार मधुर और सुकुमार भी होते हैं और आवश्यकतानुसार प्रगाढ़ और ओजस्वी भी।[5]

(5) रुद्रट–रुद्रट से पूर्व रीति का सम्बन्ध केवल मात्र काव्य के बाह्य शरीर से था पर रुद्रट ने रीतियों का सम्बन्ध रसौचित्य से जोड़ते हुए रसों के साथ भी उसका सम्बन्ध जोड़ा है। इनके पश्चात् सभी आचार्यों ने रस विशेष के साथ रीति विशेष के स्थायी सम्बन्ध को स्वीकार कर रीतियों का विवेचन किया। रुद्रट ने पाञ्चाली और गौड़ी का भी मिश्रित रूप खोज निकाला और उसे लाटीया नाम दिया जिसे विश्वनाथ आदि आचार्यों ने 'लाटी' नाम से निर्दिष्ट किया है। उन्होंनें समास के आधार पर रीतियों का विवेचन किया। उनके अनुसार जिस रचना में समास का अभाव हो वहाँ वैदर्भी रीति, जिसमें दीर्घ समास हो वहाँ गौड़ी रीति, लघुसमास वाली पदरचना पाञ्चाली रीति और मध्यम समास वाली रचना लाटीया कही जाती है।[6] रुद्रट ने रीति का सम्बन्ध काव्यगत रस के साथ जोड़ते हुए शृङ्गार, प्रेय, करुण, हास्य, अद्भुत

---

1. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। –काव्यादर्श, 1.40
2. वही, 1.41–42
3. विशिष्टपदरचनारीतिः, विशेषो गुणात्मा। – का.सू., 1.2.7–8
4. रीतिरात्मा काव्यस्य। –काव्यालंकारसूत्र, 1.2.6
5. अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
   मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः।। –का.सू., श्लो.1.2.13
6. वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव। –काव्यालंकार रुद्रट, 2.6

रसों का वैदर्भी तथा पाञ्चाली में अन्तर्भाव किया।[1] रौद्र इत्यादि रसों का गौड़ी और लाटी में अन्तर्भाव किया।[2]

(6) आनन्दवर्धनाचार्य–आचार्यों ने रीति के प्रसंग में वृत्तियों पर विचार किया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने रीति तथा वृत्तियों के पारस्परिक भेद को दूर किया।[3] वे व्यवहार को ही वृत्ति मानते हैं तथा वृत्तियों और कथावस्तु दोनों की आत्मा रस को ही स्वीकार करते हैं।[4]

(7) धनञ्जय–धनञ्जय वृत्तियों को नायक का व्यवहार मात्र मानते हैं। उन्होंने वृत्ति की व्याख्या करते हुए लिखा कि- नाटक का प्रधान पात्र अर्थात् नायक जिन-जिन चेष्टाओं को नाटक के कार्यों में करता हुआ दिखाई देता है, वही चेष्टाएं वृत्ति कहलाती हैं।[5]

(8) अभिनवगुप्त–अभिनवगुप्त ने भरत के सूत्र की व्याख्या करते हुए वृत्तियों को पुरुषार्थ का साधक व्यापार माना है। उनके मत से काव्य का कोई भी व्यापार वृत्ति के बिना व्यर्थ है। अतः सर्वत्र एकमात्र वृत्ति का ही राज्य विद्यमान रहता है।[6]

(9) राजशेखर–राजशेखर ने रीतियों के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत तथा उपयोगी विचार प्रस्तुत किया है। उन्होंने काव्य-पुरुष तथा साहित्यविद्या-वधू की कल्पना की और उन दोनों ने भारत की चारों दिशाओं का भ्रमण किया। जिस दिशा में उसने जिस भाषा का प्रयोग किया, उसके अनुकरण के आधार पर ही रीति प्रचलित हुई। पूर्व में गौड़ी, पाञ्चाल में पाञ्चाली, अवन्ती में आवन्ती तथा दक्षिण में वैदर्भी।[7]

(10) कुन्तक–कुन्तक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने अपने से पूर्व देश भेद के आधार पर किये गये रीतियों के भेद का खण्डन

---

1. इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया।
   मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु शृङ्गारे।। -काव्यालंकार, रूद्रट, 14.37
2. वही, 15.20
3. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
   औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः।। -ध्व., 3.33
4. रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूताः। इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव। -वही, 3.33 वृत्तिः।
5. द.रू., 2.47 वृत्तिः,
6. व्यापारः पुरुषार्थसाधको वृत्तिः। स च सर्वत्र वर्ण्यते इत्यतो वृत्तिः। काव्यस्य मातृका इहि न किञ्चिद् व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति। -ना.शा., 20.21-22 (अ.न.भा.)
7. का.मी., तृतीय अध्याय, पृ. 74-75

किया[1] तथा कवियों की प्रवृत्ति विभाव को आधार मानकर मार्ग-भेद की स्थापना की तथा उन्हें सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग के रूप में स्वीकार किया।[2]

(11) अमृतानन्द योगी–अमृतानन्दयोगी ने वामन के मत का अनुसरण करते हुए स्पष्ट रूप से रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। रीतियों के स्वरूप निर्धारण में गुण, समास तथा वर्णों को मान्यता प्रदान की है।[3]

(12) भोज–भोज का मानना है कि कवियों द्वारा स्वीकृत वर्णन का ढंग ही मार्ग है वही रीति है, क्योंकि रीति कि व्युत्पत्ति रीङ् गतौ से क्तिन् प्रत्यय से है।[4]

(13) मम्मट–मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में जहाँ ध्वनि, रस इत्यादि की चर्चा की वहाँ गुणों का तो वर्णन किया पर रीतियों की वृत्यनुप्रास के वर्णन के समय चर्चा मात्र की।[5] उन्होंने वृत्यनुप्रास अलङ्कार का लक्षण बताते हुए माधुर्य गुण के अभिव्यञ्जक वर्ण वाली रचना को उपनागरिका, ओजोगुण प्रकाशक रचना को परुषा और शेष वर्णों वाली रचना को कोमलावृत्ति कहा है।[6] मम्मट ने स्पष्ट रूप से उपनागरी इत्यादि वृत्तियों तथा वैदर्भी इत्यादि रीतियों को एक ही माना है।

उनका मानना है कि रीतियां वृत्तियों से अलग नहीं हैं और उनकी संख्या केवल तीन है।[7] कुछ आचार्य वृत्ति के दो भेद करते हैं – शब्दवृत्ति और अर्थवृत्ति। शब्द व्यापार वाली को शब्दवृत्ति तथा अर्थव्यापार वाली को अर्थवृत्ति कहते हैं। इन वृत्तियों के चार-चार उपभेद किये गये हैं पर दोनों ही वृत्तियों के भेदों का नाम समान ही है।[8] ये वृत्तियां चार प्रकार की मानी गई हैं–(1) भारती (2) सात्वती (3) कौशिकी तथा (4) आरभटी।

---

1. व.जी., 1.24
2. न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत्तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति सर्वस्य तथाविधकाव्यकरणं स्यात्। -वही, 1.24 वृत्तिः
3. रीतिरात्मात्रकाव्यस्य कथ्यते सा चतुर्विधा। -अलङ्कारसंग्रह, अमृतानन्दयोगी, 5.10
4. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः। रीङ् गतावितो धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।। -स.क., 2.27
5. का.प्र., 9.79 वृत्तिः
6. वही, 9.80
7. एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी-गौड़ी-पाञ्चाल्याख्या रीतियो मताः। वही, नवम उल्लास, पृ. 337
8. आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र, डॉ० आनन्दकुमार श्रीवास्तव, पृ. 227

(14) विश्वनाथ—विश्वनाथ ने पदों की सम्यक् घटना अर्थात् रचना को रीति कहा है और रीति को स्त्री-पुरुष के अङ्गों की सुन्दर बनावट के समान मानते हुए उन्हें रस का उपकारक भी माना है।[1] अर्थात् उन्होंने पदसंघटना रूप रीति को शरीरावयव के रूप में स्वीकार किया है। वे इसको आत्मतत्त्व के रूप में स्वीकार करते नहीं दिखाई देते है।

(15) पण्डितजगन्नाथ—पण्डितजगन्नाथ ने रीति का लक्षण करते हुए उन्हें केवलमात्र माधुर्य आदि गुणों का अभिव्यञ्जक माना है न कि रसाभिव्यञ्जक[2] अर्थात् रीतियों का महत्त्व विश्वनाथ की अपेक्षा और कम कर रीति का सम्बन्ध केवल गुणों तक रखा, रस तक उसे नहीं पहुँचाया।

(ख) रीति संख्या

विद्वानों में जहाँ रीति की व्याख्या, स्थान एवं स्वरूप के विषय में मतभेद है वही संख्या के विषय में भी मतभेद है। भामह ने रीति के स्थान पर मार्ग पद का प्रयोग कर वैदर्भी और गौडी दो मार्गों का ही प्रतिपादन किया।[3] दण्डी ने भी भामह का अनुसरण करते हुए दो ही मार्ग स्वीकार किए।[4] रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन ने पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी तीन रीतियां स्वीकार की है।[5] रुद्रट ने उनमें लाटी नामक रीति को अधिक मानते हुए वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली, लाटी रूप में संख्या चार तक बढ़ा दी।[6] भोज ने वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली, लाटी में अवन्तिका और मागधी को भी ग्रहण करते हुए रीतियों की संख्या 6 तक पहुँचा दी।[7]

आनन्दवर्धनाचार्य ने वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली तीन ही रीतियां अपनाईं है।[8] आचार्य मम्मट ने नागरिका, उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों को

---

1. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्। -सा.द., 9.1
2. वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादि गुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जकत्वम्।।
   -र.ग., प्रथम आनन, अर्थगुणानां लक्षणम्, वर्णरचनादीनां अभिव्यञ्जकत्व, पृ. 402
3. काव्यालङ्कार, 1.35
4. काव्यादर्श, 1.43-44
5. का.सू., 1,2.9
6. काव्यालङ्कार, रुद्रट, 2.4-6
7. वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
   लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते।। -स.क., 2.28
8. त्रिधा सङ्घटनोदिता। -ध्व., 3.5

अपनाया।[1] विश्वनाथ ने वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी इन चार रीतियों को अपने साहित्यदर्पण में स्थान दिया।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्य रूप से वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी रीतियों को समक्ष रखकर उन्हीं के लक्षण तथा उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा रहा है। इन सभी के उदाहरण श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में पर्याप्त रूप से देखे जा सकते हैं।

(ग) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में रीति

1. वैदर्भी रीति–जिसमें माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक-वर्ण हों तथा समास रहित रचना हो, वहाँ वैदर्भी रीती होती है।[3] माधुर्यगुण में अभिव्यञ्जित वर्णों के विषय में लिखा गया है कि – सुनने में अच्छे न लगने वाले, ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर, क से लेकर म पर्यन्त वर्ण अपने-अपने वर्ण के अन्तिम वर्णों के साथ मिले हुए, अतिमधुर ध्वनि करने वाले वर्ण माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक वर्ण होते हैं।[4]

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में वैदर्भी के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जिनमें से कतिपय इस प्रकार देखे जा सकते हैं। यथा–

नितान्तं तान्तौ, तां रजनिमखिलां सान्धतमसां
सकृच्चावां हासं व्यतनुव सकृच्चापि रूदितम्।
वियुक्तानामेषा भवति विवशानामिह दशा
मनस्ताम्यद् भ्राम्यद् क्वचिदपि रतिं नैव लभते।।[5]

यहाँ इस पद्य में न्तं, तान्तौ, अखिलां, तमसां हासं इत्यादि माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक वर्ण तथा असमासा रचना तथा किञ्चिद् रूप से पदों का पारस्परिक संयोग होने से वैदर्भी रीति स्वीकार की जा सकती है। इसी का दूसरा उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है–

तथा महत्त्वं न धनस्य विद्यते
वृथार्जनात् तेन मनश्च खिद्यते।
यथेह शीलं सदलंकरोत्यलं
महोज्ज्वलं मानवजन्म निर्मलम्।।[6]

---

1. केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतियो मता:। –का.प्र., नवम उल्लास, पृ. 337
2. वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा। ~ सा.द., 9.1-2
3. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका........। –वही, 9.2
4. वही, 8.3
5. श्री.बो.स.च., 10.37
6. वही, 2.67

वर्णित पद्य में असमासा रचना तथा क से म पर्यन्त माधुर्यगुण के व्यञ्जक वर्ण होने से वैदर्भी रीति विद्यमान है। इसी प्रकार–

अनङ्ग–रङ्ग–स्थलमन्तरङ्गं तरङ्गयन्ती कुटिलैः कटाक्षैः।
असौ विशालायतपक्ष्मलाक्षी मनोऽहरन्मे वनकिन्नरीव।।[1]

इस पद्य में "रङ्ग" "न्त" ल य इत्यादि माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक वर्ण एवं असमासा तथा अल्पसमासा रचना होने से वैदर्भी रीति विद्यमान है। इसके अतिरिक्त वैदर्भी के अन्य उदाहरण श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में देखे जा सकते हैं।[2]

2. गौडी रीति–

ओजःप्रकाशकैर्वणैर्बन्ध आडम्बरः पुनः समासबहुला गौडी।[3]

जिसमें ओजोगुण के अभिव्यञ्जक वर्ण हों और समास–बहुला तथा उद्भट–रचना हो, वहाँ गौडी रीति होती है। ओजोगुण के अभिव्यञ्जक वर्ण इस प्रकार बताए गए हैं:–

जहाँ वर्ग के प्रथम वर्णों का द्वितीय वर्ग के वर्णों के साथ तथा तृतीय वर्गीय वर्णों का चतुर्थ वर्गीय वर्णों के साथ संयोग हो (पृच्छ, वद्ध) तथा किसी वर्ण के साथ ऊपर नीचे रकार का संयोग (वक्त्र, निर्ह्राद) असंयुक्त ट, ठ, ड, ढ आदि का प्रयोग, शकार तथा षकार का बहुल प्रयोग हो, वे ओजो गुण प्रकाशक वर्ण होते हैं।[4] भोज के मतानुसार जहाँ समस्त–पद वाली उद्भट रचना हो तथा जो रचना ओज और कान्ति से युक्त हो वहाँ गौडी रीति होती है।[5] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में से कुछ एक उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं–

शाठ्यकूटकपटान् व्यघट्टयन्
निश्छलं च सरलं व्यवाहरन्।
सज्जनाः समुदितार्थसिद्धयः
प्राप्नुवन् मुदमुदात्तबुद्धयः।।[6]

---

1. श्री.बो.स.च., 8.66
2. वही, 9.31; 8.66; 7.13.14- इत्यादि
3. सा.द., 9.3
4. वही, 9.4
5. स.क., 2.3
6. श्री.बो.स.च., 2.14

प्रस्तुत पद्य में टकार की 'बहुलता' 'ट्ट' का प्रयोग निश्छलं में 'श्छ' का प्रयोग, सिद्धयः में 'द्धय', बुद्धय में द्धय वर्ण का प्रयोग होने से ओजो-गुण विद्यमान है। इसका दूसरा उदाहरण भी दिया जा सकता है-

कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभसाऽऽकर्ण्य वर्णितम्।
राज्ञः कार्यार्थिनौ यक्षौ बद्धकक्षौ बभूवतुः।।[1]

यहाँ प्रथम पद में समास होने से, दूसरे पद में 'कर्ण्य' में 'र्ण्य' वर्णितम् में 'र्णि' दोनों में रकार संयोग, चतुर्थ पाद में 'क्ष' तथा 'द्ध' का प्रयोग होने से गौडी रीति स्पष्ट है। भोज के अनुसार गौडीय का उदाहरण निम्न पद्य में देखा जा सकता है-

संमुखापतदुद्दाममत्तवारणवारणाः ।
स्वराष्ट्रस्वामिरक्षार्थं विहितप्राणधारणाः।।[2]

प्रस्तुत पद्य में मदोन्मत्त हाथियों के वर्णन से उद्धत रचना है। प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत ओजोगुण तथा कान्ति गुण के अभिव्यञ्जक वर्ण भी विद्यमान हैं। अतः भोज द्वारा स्वीकृत गौडी रीति की पुष्टि स्वतः हो रही है।

इसके अतिरिक्त श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में गौडी रीति के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[3]

3. पाञ्चाली रीति-पाञ्चाली का लक्षण करते हुए लिखा गया कि-जिसमें प्रसाद गुण के अभिव्यञ्जक वर्ण हों, जिन वर्णों को सुनते ही अर्थ की प्रतीति होती हो तथा जिनमें लम्बे-लम्बे समास न हों, वहाँ पाञ्चालिका रीति होती है।[4] भोज के मत से पाञ्चालिका का लक्षण इस प्रकार है-"जहाँ पांच-छः पदों से अधिक पदों का समास न हो, ओजस् तथा कान्तिगुण हों, माधुर्य-गुण के अभिव्यञ्जक या कोमल वर्णों से युक्त पदरचना हो, वहाँ पाञ्चाली रीति होती है।[5] उदाहरण-

न हि मम परकीये स्वापतेयेऽभिलाषः
फलति बहुललोभात् सर्वथेह प्रणाशः।

---

1. श्री.बो.स.च., 4.50
2. वही, 3.69
3. वही, 3.26; 35; 42; 52; 55; 63-64; 67; 71; 76; 85, 4.16; 37 इत्यादि
4. सा.द., 9.4
5. स.क., 2.30

मनसि मम सदाऽऽस्ते 'मा गृधे' वाक् प्रकाशः
किमु निबिडतमस्थः स्यामहं प्राप्तपाशः?।।[1]

प्रस्तुत पद्य में मम, परकीये, स्वापतेये, मनसि, जैसे कोमल पदों की विद्यमानता, संयुक्त पदों तथा समास का अभाव, उपयुक्त विशेषण तथा वर्ण्य-वस्तु की छ्टा होने से पाञ्चाली रीति स्पष्ट है। इसका दूसरा उदाहरण भी देखें-

प्रभातायां तस्यामुदयमुपयाते दिनमणौ
नदीवेगे शान्ते सति घटनमावामतनुव।
मिथः कृत्वाऽऽश्लेषं निधुवनविशेषं च बहुशः
सकृद्धासं चाथ व्यतनुव सकृच्चापि रुदितम्।।[2]

प्रस्तुत पद्य में चार-पांच पदों का संयोग, और प्रसाद गुण के अभिव्यञ्जक वर्ण होने से तथा पढ़ने मात्र से ही शब्दों द्वारा अर्थ की प्रतीति होने से पाञ्चाली रीति देखी जा सकती है। भोज के लक्षणानुसार निम्न उदाहरण हो सकता है-

यदिदमजनि दैवात् तत्र मे नाऽस्ति दोषः
स्वहृदयनिहितोऽयं त्यज्यतामाशु शेषः।
विदधति न विषादं स्वीयकृत्यं स्मरन्तः
प्रबलमपरहेतोः क्लेशमाप्त्वापि सन्तः।।[3]

इस पद्य में द्वितीय-पाद में तीन पदों का समास तथा चतुर्थ में दो-तीन पदों का संयोग, प्रथम तथा तृतीय में असमास रचना होने से प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य ओज तथा कान्ति-गुण की विद्यमानता पाञ्चाली रीति को पुष्ट कर रही है। इसके अतिरिक्त श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[4]

4. लाटी-विश्वनाथ लाटी रीति का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि जिसमें वैदर्भी तथा पाञ्चाली दोनों रीतियों की विशेषताएं विद्यमान हों उसे लाटी कहते हैं।[5] किसी ने लाटी का लक्षण करते हुए कहा है कि-इसके उपयुक्त वर्णों के विषय में

---

1. श्री.बो.स.च., 13.96
2. वही, 10.39
3. वही,13.58
4. वही, 1.13; 54, 2.60; 65, 3.105, 4.100, 5.28; 31, 6.43, 8.82, 9.15, 10.41, 11.6, 12.84 इत्यादि
5. लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता। -सा.द., नवम परिच्छेद, पृ. 271

कहा गया कि जहाँ कोमल पदों का समास हो, संयुक्त-वर्णों का प्रयोग कम मात्रा में हो तथा वर्णनीय उपयोगी विशेषणों से मनोहर हो जाये वहाँ लाटी रीति होती है।[1] उदाहरण-

छिन्नप्ररूढानि नवानि पत्रा-
ण्याप्स्याम्यभीष्टानि च शाकहेतोः।
आस्वाद्य माधुर्यमयं त्वलभ्यं
तोयं तदुत्रवातमहं लभेय।।[2]

प्रस्तुत पद्य में पाञ्चाली तथा वैदर्भी घटक वर्ण होने से असमासा लघु- समासा रचना होने से, नवानि जैसे सार्थक विशेषणों के होने से लाटी रीति स्पष्ट है।

5. अवन्तिका-भोज ने अवन्तिका नामक रीति का भी वर्णन किया है। उन्होंने अवन्तिका का लक्षण करते हुए लिखा है कि जहाँ माधुर्य तथा प्रसादगुण के अभिव्यञ्जक वर्ण हों तथा दो, तीन या अधिक से अधिक चार पद बहुव्रीहि समासादि के हों वहाँ अवन्तिका रीति होती है।[3] जैसे-

तुभ्यं मञ्जुलमुत्तमं प्रियतरं यन्नाम रोचिष्यते
चित्ताह्लादि तदेव तेऽतिमुदितः कर्तास्म्यहं निश्चितम्।
शङ्कापङ्ककलङ्कितोऽत्र विषये त्वं चेतसा मा स्म भू-
र्देशाद्देशमटंस्त्वमीप्सिततमामन्वेषयाख्यां शुभाम्।।[4]

प्रस्तुत पद्य के प्रथम तथा तृतीय चरण में माधुर्यगुण के तथा अन्यत्र प्रसाद- गुण के अभिव्यंजक वर्ण होने से अविन्तका रीति है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्य भी उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[5]

---

1. मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा।
   उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी।। -सा. द., पृ. 272
2. श्री.बो.स.च.,1.27
3. स.क, 2.32
4. श्री.बो.स.च.,14.11
5. वही, 6.43,12.43-44,13.29 इत्यादि।

6
अलङ्कार तथा छन्दोविधान

I अलङ्कार सिद्धान्त

(क) काव्य में अलङ्कारों का स्थान तथा महत्त्व

काव्य में अलङ्कारों का महत्त्व प्रतिपादन करने से पूर्व आचार्यों द्वारा किए गए अलङ्कार के लक्षण पर विचार करना आवश्यक है। देखा गया है कि मानव मात्र की प्रवृत्ति किसी वस्तु या दृश्य अथवा घटना को सुन्दरता प्रदान कर उसको सुन्दर मूर्तरूप देकर अपनाने की रही है।[1] किसी भी कवि में यह प्रवृत्ति जन्म जन्मान्तरों से या नानाविधशास्त्रों के अध्ययनजन्य व्युत्पत्ति के कारण स्वत:सिद्ध विकसित होती है।[2] फलत: कवि प्रस्तुत को मूर्तरूप देने के लिए तथा उसमें सुन्दरता लाने के लिए नानाप्रकार की अप्रस्तुत योजना करता दिखाई देता है।[3] अलङ्कार एकमात्र भावाभिव्यक्ति के साधन हैं। भावों का सम्बन्ध चित्तवृत्ति से हुआ करता है क्योंकि कोई भी वस्तु चित्तवृत्ति से सम्बन्धित रहे बिना नहीं रह सकती।[4] अलङ्कार शब्द अलम्+कृ (भूषण) घञ् प्रत्यय करने से बना है।[5] घञ् प्रत्यय भाव और करण दो अर्थों में किया जाता है। भाव में प्रत्यय करने पर अलङ्कार का अर्थ होगा सौन्दर्य। सौन्दर्य से गुण, अलङ्कार दोषाभाव इत्यादि का ग्रहण होगा।[6] अलङ्क्रियतेऽनेन इति इस प्रकार करणार्थक व्युत्पत्ति करने पर अलङ्कार का अर्थ होगा शब्द और अर्थ को सुशोभित करने वाले ऐसे तत्त्व जिनसे केवल मात्र काव्य के शब्दार्थरूपी काव्य के शरीर को सजाने वाले

---

1. कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० विष्णुदत्तशर्मा, पृ. 210.
2. का.प्र., 1.3
3. नारायणीयम् काव्य का साहित्यिक अध्ययन, डॉ० जौहरीलाल, पृ. 57
4. न च तदस्ति वस्तु किञ्चित् यन्न चित्त-वृत्ति विशेषम् उपजनयति। -ध्व.,पृ. 26-27
5. पा.अ., 6.4.27
6. संस्कृत काव्यशास्त्र में अलङ्कारों का विकास, डॉ० दशरथद्विवेदी, पृ. 75

अनुप्रास, उपमा इत्यादि अलङ्कार होंगे या कामिनी के शरीर की सजावट करने वाले कटक-कुण्डल इत्यादि। कवि इन्हीं अलङ्कारों से अपनी कविता-कामिनी के शब्दार्थरूपी शरीर का साक्षात् रूप से तथा रस रूप आत्मा का परम्परा से उत्कर्ष करता है।[1] अलंकार के विषय में आचार्यों में इस बात पर तो समानता रही है कि अलंकार सजाने के साधन है पर वह सजावट किसकी हो इस पर मतभेद है। एक समय ऐसा था जब अलङ्कारों का काव्य में इतना महत्त्व बढ़ गया था कि उनके बिना काव्य में काव्यत्व ही स्वीकार नहीं किया जाता था।[2] काव्य में अलङ्कार क्या है, इनका स्वरूप क्या है, इस विषय में भरतमुनि से लेकर निरन्तर विचार किया जाता रहा है। उनमें से कतिपय आचार्यों के विचार इस प्रकार हैं।

(1) भरतमुनि–भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में अलङ्कारों का विवेचन किया पर अलङ्कार शब्द का विशेष लक्षण न करके सामान्य अर्थ में उसका प्रयोग किया है, शास्त्र सम्मत अर्थ में नहीं।[3] काव्य के क्षेत्र में भरतमुनि प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में अलङ्कार-तत्त्व की समीक्षा की और चार अलङ्कार स्वीकार किए।[4]

(2) भामह–भामह ने भी अलङ्कार शब्द का न तो निर्वचन किया और न लक्षण। कुछ स्थानों पर उन्होंने अलङ्कृति शब्द का प्रयोग करते हुए शब्द और अर्थ के अभिधान को अलङ्कार कहा है।[5] भामह ने अलङ्कारों का विवेचन करते हुए रसवादी भरतमुनि के रसादि तत्त्वों को भी अलङ्कारों में गिनते हुए रस को रसवद्-अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया।[6] भामह का मानना है कि कामिनी कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, आभूषणों के बिना जिस प्रकार उसके सौन्दर्य में निखार नहीं आता, इसी प्रकार किसी भी कवि की कविता चाहे कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो, अलङ्कारों के बिना उसकी शोभा नहीं होती।[7]

---

1. का.प्र., 8.67
2. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।। –चन्द्रालोक,1.8
3. काव्यशास्त्रविमर्शः, डॉ० कृष्णकुमार, भा.1, पृ. 389
4. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
   अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः।। –ना.शा., 16.40
5. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः –काव्यालङ्कार, 1.36
6. वही, 2.75
7. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्। –वही,1.13

(3) दण्डी—दण्डी ने अलङ्कारों का महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्हें काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। दण्डी के मत में काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म अलङ्कार कहलाते हैं।[1] उन्होंने रसवादी आचार्यों के रस, भाव आदि का भी अलङ्कारों में अन्तर्भाव कर दिया।[2]

(4) उद्भट—उद्भट ने समाहित नामक अलङ्कार को स्वीकार करते हुए सम्पूर्ण भाव तथा रसवदादि अलङ्कारों का उसमें अन्तर्भाव कर दिया।[3]

(5) वामन—वामन ने यद्यपि रीति को काव्य की आत्मा माना पर सौन्दर्य रूप अलङ्कार के द्वारा ही काव्य की उपादेयता को स्वीकार किया।[4]

(6) रुद्रट—रुद्रट ने काव्य में अलङ्कारों के महत्त्व को स्वीकार किया तथा भाव नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना कर उसी में रसादि रूप से प्रतीयमान अर्थ का अन्तर्भाव कर अलङ्कारों का महत्त्व स्वीकार किया।[5] रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में अलङ्कारों का विभाजन औपम्यातिशय को आधार मान कर किया।[6]

(7) आनन्दवर्धनाचार्य—आचार्य ने ध्वन्यालोक में अलङ्कारों के विषय में कुछ नहीं कहा पर उनका मानना था कि इनके विषय में मेरे से पूर्ववर्ती आचार्य बहुत कुछ कह चुके हैं।[7] केवल ध्वनि को समक्ष रखकर अलङ्कारों के विनिवेश प्रकार के विषय में उन्होंने विस्तार से लिखा, जिससे स्पष्ट है कि वे भी काव्य में अलंकारों के पक्षपाती थे।[8] आनन्दवर्धनाचार्य यह मानते हैं कि अलङ्कार काव्य का बाह्य धर्म ही नहीं अपितु आन्तरिक धर्म भी है जो अलङ्कार स्वयं कवि के काव्य में स्वयं आते हैं, उन अलङ्कारों को कटक-कुण्डल के समान काव्य का वहिरङ्ग मानना उचित है।[9]

---

1. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
   ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।। -काव्यादर्श., 2.1
2. वही, 2.367
3. का.सा.सं., पृ. 91-92
4. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्! सौन्दर्यमलङ्कारः।। -का.सू., 1.1.2
5. यस्यविकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन! गमयति ......भावोऽसौ।
   -काव्यालङ्कार, रुद्रट, 7.38-40
6. वही, 7.9
7. तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः।
   बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः, ततो नेह प्रतन्यते।। -ध्व., 1.3
8. वही, 2.16-19
9. अलङ्कारान्तराणि हि निरुप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। -वही., 2.16 वृत्तिः पृ. 106

(8) कुन्तक—आचार्य कुन्तक ने यद्यपि वक्रोक्ति को काव्यजीवित कहा है, तथापि उनकी वक्रोक्ति अलङ्कार रूप ही है। अत एव उन्होंने भी सालङ्कार को ही काव्यत्व प्रदान किया है। अतः अलङ्कारों की प्रधानता स्वीकार करते हुए वक्रोक्ति को एक प्रकार से अलङ्कार के रूप में ही स्वीकार किया है।[1]

(9) भोज—भोज ने भी अपने ग्रन्थों में रस और भाव इत्यादि का वर्णन किया है पर अन्ततः उन्हें भी अलङ्काररूप मानते हुए अलङ्कारों की प्रधानता स्वीकार की।[2]

(10) मम्मट—काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में जब काव्य के आत्मतत्त्व को बाह्य दृष्टि से देखा जा रहा था तब तो अलङ्कारों का महत्त्व होना स्वाभाविक था किन्तु बाद में जब काव्य के अन्तरंग रूप से आत्मा के विषय में विचार किया गया तो रसध्वनि इत्यादि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया तब भी अलङ्कारों का महत्त्व कम नहीं हुआ। आचार्य मम्मट के मत में काव्य में विद्यमान शब्द और अर्थ के द्वारा अनुप्रास, उपमादि अलङ्कार इसी प्रकार शब्दार्थ रूपी शरीर को सजाते हुए रस के उपकारक होते हैं, जिस प्रकार कटक-कुण्डल हारादि अलङ्कार शरीर को सजाते हुए उसमें विद्यमान आत्मा का उत्कर्ष करते हैं।[3] रसवादी होने पर भी अलङ्कारों का महत्त्व स्वीकार करते हुए काव्य के लक्षण में रस और ध्वनि के रूप में अलङ्कारों को मम्मट ने स्वीकार किया।[4]

(11) रुय्यक—राजानक रुय्यक ने अलङ्कारों को काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म माना है।[5]

(12) वाग्भट द्वितीय—वाग्भट द्वितीय ने काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ को सुशोभित करने वाले धर्म को अलङ्कार माना है।[6]

(13) हेमचन्द्र—हेमचन्द्र ने मम्मट का ही अनुसरण किया है।[7]

(14) जयदेव—चन्द्रालोककार जयदेव ने यद्यपि मम्मटकृत काव्यलक्षण के

---

1. व.जी., 1.10, पृ. 48
2. स.क., 5.1
3. का.प्र., 8.88
4. वही, 1.4
5. आमुञ्चन्ति शरीरेषु गुणवत्सु निसर्गतः। अलङ्कारान् जनाः शोभामाकाङ्क्षन्तोऽतिशायिनीम्।
   —साहित्यमीमांसा, 5.1-2, पृ. 32
6. काव्यानुशासनम्, वाग्भट द्वि., पृ. 52
7. अङ्गाश्रिताः अलङ्काराः, -वही, अ.5., पृ. 240

"अनलङ्कृती पुनः क्वापि" का प्रतिवाद किया है[1] तथापि उन्होंने काव्य में अलङ्कार सन्निवेश को हारादिवत्[2] स्वीकार करते हुए मम्मट का ही अनुसरण किया है।

(15) विद्यानाथ—विद्यानाथ के मत में शरीर की शोभा बढ़ाने वाले हारादि के समान उभयविधालङ्कार काव्य की शोभा बढ़ाते हुए रस के भी उपकारक होते हैं।[3]

(16) विश्वनाथ—रस को ही एकमात्र काव्य की आत्मा मानने वाले विश्वनाथ ने अलङ्कारों का लक्षण करते हुए कहा कि जो शोभा के अतिशय करने वाले, रसादि के उपकारक शब्द और अर्थ के धर्म हैं, वे अलङ्कार कटक-कुण्डल के समान होते हैं। इस प्रकार, केशव मिश्र,[4] पण्डितजगन्नाथ,[5] आदि आचार्यों ने साक्षात् नहीं तो परम्परा से अलङ्कारों का महत्त्व स्वीकार किया है। काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में जब काव्य के आत्मतत्त्व को बाह्य दृष्टि से देखा जा रहा था तब तो अलङ्कारों का महत्त्व होना स्वाभाविक था किन्तु बाद में भी जब काव्य के अन्तरंग रूप से आत्मा के विषय में विचार किया गया और रसध्वनि इत्यादि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया तब भी अलङ्कारों का महत्त्व कम नहीं हुआ। रसवादी होने पर भी मम्मट इत्यादि ने अलङ्कारों का महत्त्व स्वीकार करते हुए काव्य के लक्षण में रस और ध्वनि के रूप में अलङ्कारों को स्वीकार किया।[6] यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि प्राचीन आचार्यों को रसादि के विषय में पता था। वे प्रतीयमान अर्थ को वाच्यालङ्कार की कोटि में रखते थे। दण्डी रूपक को व्यङ्ग्य अलङ्कार मानते थे।[7]

(ख) अलङ्कारों का वर्गीकरण

अलङ्कारों का शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में सर्वप्रथम किसने वर्गीकरण किया यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भरतमुनि ने जिन चार अलङ्कारों का वर्णन किया है उनमें से यमक को उन्होंने शब्दाभ्यास कहा है।[8]

---

1. चन्द्रालोक, 1.8
2. हारादिवदलङ्कारसन्निवेशो मनोहरः। -वही, 5.1
3. एकावली, 5.1
4. अलङ्कारस्तु शोभायै, - अ.शे., 2.2
5. काव्यात्मानो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्काराः।
   -र.ग., द्वितीय अध्याय, अलंकार निरुपण, पृ.1
6. का.प्र., 1.4
7. काव्यादर्श, 2.66
8. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्। -ना.शा., 16.59

वामन ने अपने ग्रन्थ में ऐसे दो वर्गों का उल्लेख किया है, जिनमें से एक वर्ग में शब्दालङ्कारों को और दूसरे वर्ग में अर्थालङ्कारों को मान्यता दी गई है।[1] स्वयं उन्होंने अलङ्कारों का परिच्छेद के रूप में वर्गीकरण किया है।[2] अलङ्कारों का शब्दगत और अर्थगत भेद सर्वप्रथम वामन ने किया है।[3]

रुद्रट ने अलङ्कारों को (1) वास्तव्य (2) सादृश्य (3) अतिशय (4) श्लेष इन चार वर्गों में विभक्त किया है।[4]

आनन्दवर्धनाचार्य ने इनका विभाजन शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के रूप में किया है।[5] अग्निपुराण में अलङ्कार के तीन भेद किए गए–(i) शब्दालङ्कार (ii) अर्थालङ्कार (iii) उभयात्मक।[6] आचार्य भोज ने भी अग्निपुराण का ही अनुसरण किया।[7] परवर्ती आचार्यों में मम्मट का नाम सर्वोपरि रखा गया है। उन्होंने (i) शब्दालङ्कार (ii) अर्थालङ्कार (iii) उभयालङ्कार रूप से अलङ्कार के तीन भेद किए। मम्मट ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के भेद का आधार अन्वयव्यतिरेक को माना।[8]

शब्द परिवृत्ति सहत्व और शब्द परिवृत्ति असहत्व के रुप से रुय्यक ने मम्मट के इस अन्वय-व्यरिरेक सिद्धान्त को अलङ्कार के भेदक-तत्त्व के रूप में स्वीकार न करके आश्रय-आश्रयि-भाव के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया।[9] रुय्यक का मानना था कि जो अलङ्कार जिस पर आश्रित होता है उसे उसी का अलङ्कार कहते हैं किन्तु यह मत मान्य नहीं हुआ और मम्मट द्वारा स्वीकृत शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार को ही विश्वनाथ इत्यादि ने भी स्वीकार किया।[10]

---

1. काव्यालङ्कार, 1.19
2. तत्र शब्दालङ्कारौ यमकानुप्रासौ। –का.सू., 4.1.2 (वृत्तिः)
3. वही, 4.1 (अवतरणिका)
4. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
   एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः।। –काव्यालंकार, 7.9
5. ध्व., 2.14-15
6. अ.पु., 11
7. स.क., 2.1
8. योऽलंकारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारो व्यवस्थाप्यते इति।
   –का.प्र., 10.141 (वृत्तिः)
9. अ.स., पृ. 256-258
10. इति शब्दपरिवृतिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वम्। –सा.द., 10.2 (वृत्तिः)

(ग) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अलङ्कार

1. अनुप्रास–शब्दालङ्कारों में अनुप्रास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुप्रास का सम्बन्ध पद्य में प्रयुक्त व्यंजन वर्णों से होता है। इसका लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है।

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।[1]

अर्थात् जहाँ स्वरों की विषमता होने पर भी व्यंजनों की समानता से आवृत्ति हो वहाँ अनुप्रास अलङ्कार होता है पर यह ध्यान रहे कि यह अलङ्कार तभी अलङ्कार कहलायेगा यदि वर्ण रसानुकूल हों। यह नियम नहीं कि स्वरों की विषमता अवश्य हो अपितु समान स्वर वाले वर्गों की आवृत्ति भी अनुप्रास के लिए उत्कर्षक ही है, अपकर्षक नहीं। इसके पांच भेद किए गए[2]–(i) छेकानुप्रास (ii) वृत्त्यनुप्रास (iii) श्रुत्यनुप्रास (iv) अन्त्यानुप्रास (v) लाटानुप्रास।

2. छेकानुप्रास–छेकानुप्रास वहाँ होता है जहाँ व्यञ्जन समुदाय में एक बार उसी स्वरूप और उसी क्रम में आवृत्ति हो। साहित्यदर्पण के अनुसार इसका लक्षण है–

छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृद् साम्यमनेकधा।[3]

अर्थात् जहाँ पर व्यंजनसमुदाय में एक बार ही पुनरावृत्ति हो और वह आवृत्ति स्वरूप से भी समान होनी चाहिए तथा क्रम से भी। भले ही व्यंजकसमुदाय में स्वरों की समानता न हो।

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में पदलालित्य की दृष्टि से किसी न किसी प्रकार यह अलङ्कार सभी सर्गों में प्राप्त है। कवि की रचना में इसकी प्रचुरता से एक विशेष प्रकार की शोभाधायकता दिखाई देती है। कतिपय उदाहरण दिए जा रहे हैं। उदाहरणः–

न संभवो नौ युगपत्प्रयाणे मार्गस्य संकोचितयेति जाने।
दृष्टा मयेह प्रतिपत्तिरिष्टा या तामहं त्वामपि सूचयामि।।[4]

प्रस्तुत पद्य में दृष्टा के 'ष्टा' एवं रिष्टा के 'ष्टा' में व्यंजन संघ की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है। इसी प्रकार–

---

1. सा.द., 10.3
2. वही, 10.7
3. वही, 10.3
4. श्री.बो.स.च., 1.17

ऊर्ध्वं तु वैश्यापगमादतीते मासेऽर्धमासे सति बोधिसत्त्वः।
प्रशान्तचेता विहितव्यवस्थो व्यापर्तुमिच्छुः स्वपुरादचालीत्।।[1]

यहाँ मासे-मासे में व्यंजनसंघ की स्वरूप से तथा क्रम से एक बार आवृत्ति होने के कारण से छेकानुप्रास है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक पद्य ऐसे हैं जहाँ छेकानुप्रास के सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं।[2]

3. वृत्त्यनुप्रास–

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद् वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते।।[3]

वृत्त्यनुप्रास में स्वरों की विषमता होने पर भी केवल वर्णों की स्वरूपमात्र से आवृत्ति होती है। इसमें अनेक व्यंजनों की अनेक बार अथवा एक ही वर्ण की एक बार या अनेक बार आवृत्ति हुआ करती है। जबकि छेकानुप्रास में व्यंजन-संघ की एक बार ही आवृत्ति हुआ करती है। इस प्रकार आनन्द प्रवाहित करने वाली सभी वर्णों की स्वच्छन्दरूप से प्रवाह वृत्त्यनुप्रास कहलाता है। शब्दविद्या के पण्डित डॉ० सत्यव्रतशास्त्री की रचनाओं में वर्णों के इस प्रकार का चमत्कार प्रतिपद देखा जा सकता है। उदाहरण–

कपोतपादारुणवस्त्रभासा
प्रकाशिताशा विकसद्विलासा।
चन्द्रोदये चन्द्रमुखीं विलोक्य
चन्द्रावहो विस्मयमभ्युपेतः।।[4]

प्रस्तुत पद्य में वकार की कई बार आवृत्ति है। इसी प्रकार चन्द्र शब्द की तीन बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है। इसका एक और उदाहरण देखें–

हिंसैव वर्धते बह्वी हिंसकं प्रति हिंसया।
सुखमात्यन्तिकं लब्धुमहिंसैव गरीयसी।।[5]

---

1. श्री.बो.स.च., 1.65.
2. वही. 1.14; 51, 2.3, 2.12; 2.40; 48, 49;3.2.8; 62, 4.90.; 5.4; 6.1; 6.20; 7.14; 7.27; 7.13; 8.72; 13.73, 14.34 इत्यादि।
3. सा.द, 10.4
4. श्री.बो.स.च., 8.65
5. वही, 3.80

इसमें एक ही 'हिंसा' वर्ण संघ की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है।

4. श्रुत्यनुप्रास–श्रुति = कर्ण, कान से सम्बन्धित अनुप्रास श्रुत्यनुप्रास कहलाता है। इसमें ऐसे वर्णों की रचना होती है जो कानों को सुख देने वाले होते हैं। विश्वनाथ ने इसका लक्षण करते हुए लिखा है कि–

> **उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।**
> **सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।।[1]**

अर्थात् कण्ठ, तालु दन्त आदि स्थानों में से किसी एक ही स्थान से उच्चारित व्यंजनों का जहाँ सादृश्य हो अर्थात् जहाँ एक ही स्थान से उच्चारण किए जाने वाले वर्णों की एक ही पद्य में बहुलता हो वहाँ श्रुत्यनुप्रास अलङ्कार मानना चाहिए। काव्यप्रकाश इत्यादि आचार्यों ने अनुप्रास के इस भेद को नहीं माना। राजशेखर ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[2]

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में यद्यपि इसके अनेक उदाहरण हैं उनमें से दो एक यहाँ दिये जा रहे हैं–

> **रत्नानि सप्त भवतां भवने ददामि**
> **सौख्यं समृद्धिमतुलाञ्च सह्रादधामि।**
> **सम्भुज्यतां विपुलसम्पदियं निकामं**
> **संस्मर्यतां च परतत्त्वमिहाविरामम्।।[3]**

प्रस्तुत पद्य में तालुस्थानीयवर्ण ल, त, थ, द, ध, स, न आदि की उच्चारणता से श्रुत्यनुप्रास स्पष्ट है। एक और उदाहरण देखें–

> **अनङ्गरङ्गस्थलमन्तरङ्गं तरङ्गयन्ती कुटिलैः कटाक्षैः।**
> **असौ विशालायतपक्ष्मलाक्षी मनोऽहरन्मे वनकिन्नरीव।।[4]**

इस पद्य में कण्ठ स्थानीय वर्णों की अनेक बार आवृति हुई है। इसके अनेक उदाहरण श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में देखे जा सकते हैं।[5]

---

1. सा.द., 10.5
2. स.क., 2.76-78
3. श्री.बो.स.च., 12.86
4. वही, 8.66
5. वही, 1.23, 2.14, 3.18, 4.54; 92;100, 5.18,5.21, 6.8, 8.68, 9.36, 10.23,11. 15,12.69; 86 इत्यादि।

5. अन्त्यानुप्रास—जहाँ पद के अन्तिम वर्णों में साम्य हो, वहाँ अन्त्यानुप्रास अलङ्कार होता है। इसे तुकान्त कविता भी कहा जाता है। इसका लक्षण करते हुए लिखा गया है कि—

व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।।[1]

जहाँ पद के अन्त में स्वरसहित व्यंजन की या अनुस्वार समान स्वर वाले अक्षर की पहले जैसे आवृति हो, वहाँ अन्त्यानुप्रास होता है। यह आवृत्ति कहीं-कहीं चारों पदों में, कहीं दो पदों में देखी जाती है। यद्यपि प्राचीन कवियों में ऐसा प्रयोग कम ही देखा जाता है पर भाषा पर पूर्ण अधिकार रखने वाले डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने इसका स्वच्छन्द रूप से प्रयोग किया है, न कि केवल कुछ एक पदों में, कहीं तो पूरे के पूरे सर्गों में भी यह तुकान्तमयी रचना देखी जा सकती है।[2] काव्य में इस प्रकार की पदावली से संगीतात्मक सौन्दर्य की अभिवृद्धि होने से इस क्षेत्र में डॉ० सत्यव्रतशास्त्री की सफलता स्वत: ही दिखाई देती है। उदाहरण—

प्रत्यब्रवीत् तदनुजा न गृहे चकास्यां
रुद्यामहं यदि भृशं, वपुषा कृशा स्याम्।
शोकेन मां परिगतां विमनायितास्यां
वीक्ष्यारुचिश्च सुहृदां भवितोपहास्याम्।।[3]

प्रस्तुत पद्य में प्रथम तथा तृतीय में अस्यां, द्वितीय तथा चतुर्थ में स्याम् की आवृत्ति होने से अन्त्यानुप्रास है। कहीं-कहीं चारों पदों के अन्तिम व्यंजनों में आवृत्ति देखी जा सकती है। उदाहरण—

विलसति स धनाढ्य: शुद्धवाक्चित्तकाय:
सपदि च भविताऽस्मिन् सङ्कटे मे सहाय:।
प्रणयवचनबद्धास्तादृशा लब्धराय:
प्रियमिह न निराशं कुर्वते स्वं सरवाय:।।[4]

---

1. सा.द., 10.6
2. श्री.बो.स.च., 12वां एवं 13वां सर्ग।
3. वही,12.61
4. वही, 13.12

इस पद्य के चारों पादों में 'आय' कि आवृत्ति होने से अन्त्यानुप्रास है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।[1]

6. लाटानुप्रास—यह अनुप्रास का पाँचवां भेद है। लाटानुप्रास वह अलङ्कार है जिसमें दो सार्थक शब्दों की आवृत्ति तो होती है, किन्तु जब उनका अर्थ किया जाए तब तात्पर्य अर्थ में भेद होना चाहिए। साहित्यदर्पण में इसका लक्षण निम्न प्रकार से किया गया है–

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः।
लाटानुप्रास इत्युक्तः।।[2]

इतना ध्यान रहे कि ज्यों के त्यों शब्दों की आवृत्ति यमक में भी होती है किन्तु वहाँ भिन्नार्थक पदों की आवृत्ति होती है या एक सार्थक पद होता है दूसरा निरर्थक पद अथवा दोनों ही निरर्थक पद होते है। उदाहरण–

वदतु वदतु सद्यः किंनिमित्ता विपत्तिः-
र्भवति समुदपादि ध्वंसितान्तः प्रसक्तिः।
स्वभवनमभिनन्द्यं येन संत्यज्य वन्द्यं
परसदनमुपागाद् द्राग् भवानद्य निन्द्यम्।।[3]

वदतु-वदतु में दोनों पद सार्थक हैं, किन्तु प्रथम वदतु का केवल कहो इतना मात्र अर्थ है। दूसरे वदतु का अर्थ है स्पष्ट रूप से तथा जो कुछ तुम्हारे साथ हुआ, जो तुम्हारे ऊपर आपत्ति है, उसको बिना छिपाए बताओ, इस प्रकार दूसरे वदतु का तात्पर्य होगा बिना रोक टोक, बिना छिपाए, अपना व्यक्ति समझकर मन की बात कहो।

7. यमक—अर्थ होने पर भी भिन्नार्थक वर्णों की जहाँ आवृत्ति हो, वहाँ यमक अलङ्कार होता है। लक्षण–

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।।[4]

---

1. श्री.बो.स.च.,, 2.3; 54; 96, 6.13, 9.57, 12.12, 13.14; 69 इत्यादि।
2. सा.द., 10.7
3. श्री.बो.स.च., 13.63
4. सा.द., 10.8

यमक में स्वर और व्यंजन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति होती है किन्तु जिन पदों की आवृत्ति हुई है वह दोनों पद या तो निरर्थक हों या एक सार्थक और एक निरर्थक अथवा दोनों निरर्थक हों। यदि दोनों सार्थक हैं तो उनमें से एक भिन्नार्थक होना चाहिए। उदाहरण–

समुदितो मुदितो नृपतिर्गुणैः
सुरहितो रहितो निखिलैर्मलैः।
अविकलं विकलङ्कमिहेज्जवलं
रसमयं समयं गमयन्नभात्।।[1]

इस पद्य में मुदितो–मुदितो पद की आवृत्ति है। प्रथम पद निरर्थक है क्योंकि वह समुदितः होने से सार्थक है। द्वितीय मुदितः सार्थक है जिसका अर्थ प्रसन्न होना है। द्वितीय पद में रहितो–रहितो पदों की आवृत्ति है। इनमें भी प्रथम पद रहितो निरर्थक है। "सु" के साथ अर्थात् सुरहितः अर्थात् देवताओं के लिए हितकर हो इस प्रकार से अर्थ होगा। द्वितीय रहितो पद का अर्थ शून्य है अर्थात् सम्पूर्ण बुराईयों से रहित। चतुर्थ चरण में समय–समय में केवल प्रथम पाद में समयं निरर्थक है। पूरा पद रसमयं है। जिसका अर्थ उल्लास है। दूसरे समयं का अर्थ है समय। कहीं कहीं पर दोनों पद सार्थक तो होते हैं पर भिन्नार्थक होते हैं। उदाहरण–

निःस्वा स्याद् धनपालिकाऽपि कथिता कष्टश्रिता चार्थिनी
विज्ञेया धनपालिकाऽपि च तथा, नाम्नाऽत्र किं सिध्यति।
तद् व्यक्तिप्रतिपत्तये भवति भो! नामप्रयोगो जने
यत्तन्नाम विधीयतां, मतिमतां नातीव नाम्न्यादरः।।[2]

इस पद्य में धनपालिका पद में आवृत्ति है, उनमें से 'प्रथम पद धनपालिका नाम की स्त्री (नाम पद) द्वितीय का धनिक अर्थ होने से भिन्नार्थक पदों की आवृत्ति से यमक है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में यमक के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[3]

8. वक्रोक्ति–वक्र+उक्ति वक्रोक्ति अर्थात् वस्तु को टेढ़े मेढ़े ढंग से कहना। इसी को आचार्यों ने भणिति–भङ्गी भी कहा है।[4] लक्षण–

---

1. श्री.बो.स.च., 9.55
2. वही, 14.25
3. वही, 1.26; 43; 91; 93, 2.2; 16;31, 3.4; 8; 102, 4.11; 20; 110, 8.23, 13.8, 14. 25; 30 इत्यादि।
4. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुचयते।– व.जी., 1.10

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद् यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा।।[1]

जहाँ पर कोई किसी दूसरे के कहे हुए शब्द का श्लेष द्वारा या काकु अर्थात् गले की आवाज को बदल कर दूसरा अर्थ ग्रहण करें वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। इसके दो भेद हैं **(i) श्लेष वक्रोक्ति (ii) काकु वक्रोक्ति।**

9. काकु-वक्रोक्ति—वक्ता जब गले की आवाज को बदल कर अन्य अर्थ वाले शब्द को किसी दूसरे अर्थ में बदल दे, वहाँ काकुवक्रोक्ति होती है। उदाहरण—

अज्ञायि विज्ञेन मया त्वदीयं
दुर्धीप्सितं साध्वभिधित्सितं च।
आकारचेष्टादिभिरभ्युपायैः,
किं नोहतेऽनुक्तमपीह धीमान्।।[2]

बोधिसत्त्व व्यापार के लिए जाते हुए दैत्य को आता हुआ देखता है। वह दैत्य की चतुराई जान लेता है। उससे कहता है कि समझदार होने के कारण मैंने तुम्हारा दुष्प्यशय और विवक्षा सम्यक् जान ली हैं। क्या बुद्धिमान् पुरुष आकार इंगित आदि उपायों से अनकही बात का आशय नहीं पा लेता? अर्थात् अवश्य जान लेता हैं। यह अर्थ वक्रोक्ति से निकल रहा हैं। इसका एक ओर सुन्दर उदाहरण देखें—

सीमानस्तेन विध्वस्ता मध्या जनपदा अपि।
आततायिनमायान्तं किं न हन्याम तं वयम्।।[3]

यहाँ काकु वक्रोक्ति से 'किं न हन्याम तं वयम्' इसका अर्थ होगा क्या हम उनका विनाश न करें अपितु अवश्य विनाश करेंगे। अतः हमें उनको मार देना चाहिए। इस प्रकार अर्थ निकालने से वक्रोक्ति अलङ्कार है।[4]

10. उपमा—उपमा अलङ्कार सबसे प्राचीन अलङ्कार है। इसकी महत्ता तथा सर्वातिशायिनी सत्ता को सभी आलङ्कारिकों ने एक मत से स्वीकार किया है। जितने भी साधर्म्यमूलक अलङ्कार हैं उन सभी का मूल उपमा ही है। अप्यय- दीक्षित ने तो उपमा को नाना प्रकार के अलङ्कारों का रूप धारण करने वाली तथा काव्य रसिकों के

1. सा.द., 10.9
2. श्री.बो.स.च., 1.77
3. वही, 3.74
4. वही, 3.97

हृदयों को अनुरञ्जित करने वाली नर्तकी तक कहा है।[1] उन्होंने यह भी कहा कि उपमा के ज्ञान से सभी अलङ्कारों का ज्ञान हो जाता है।[2] उपमा का प्रयोजन होता है, उपमेय का उत्कर्ष मात्र दिखाना। विश्वनाथ ने उपमा का लक्षण इस प्रकार किया है-

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।[3]

जहाँ एक ही वाक्य में उपमेय का उपमान से वाच्य रूप से सादृश्य बताया जाए वहाँ उपमा अलङ्कार होता है। यद्यपि आचार्यों ने उपमा के अनेक भेद माने हैं[4] किन्तु यहाँ पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा दो ही भेदों के उदाहरण दिए जाएगें।

11. पूर्णोपमाः—जहाँ उपमेय, उपमान, सादृश्य वाचक शब्द, साधारणधर्म सभी वाच्य हों, वहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार होता है।[5] उदाहरणः–

प्रशासतस्तस्य भुवं यथावत्
पञ्चापि भूतानि शिवं वितेनुः।
ब्रह्मेव सृष्टेरधिपः प्रजानां
रराज राजा स उदारकीर्तिः।।[6]

इस पद्य में राजा ब्रह्मदत्त उपमेय, ब्रह्मा उपमान, शोभायमान होना समान धर्म, इव शब्द सादृश्य वाचक है। अतः पूर्णोपमा है। कहीं–कहीं कवि मन की स्थिति को समझाने के लिए प्रकारान्तर से भी उपमान–उपमेय भाव को ग्रहण करता है। उदाहरण–

विक्षिप्तचेता स्वनिकेतनस्थः
कामातुरोऽसौ बुबुधे न किञ्चित्।
प्रमुग्धगीतध्वनिलुब्धशल्य-
प्रविद्धसारङ्ग इवावतस्थे।।[7]

जिस प्रकार गीतध्वनि को सुनकर मुग्धमति मृग को कुछ नहीं सूझता और वह

---

1. चित्रमीमांसा, पृ.33
2. वही, पृ.35
3. सा.द., 10.14
4. एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः। –का.प्र., 10.90 वृत्तिः
5. सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
   उपमेयं चोपमानं भवेद् वाच्यमियं पुनः।। –सा.द., 10.15

6. श्री.बो.स.च., 1.3
7. वही, 6.5

बाण के सामने आकर खड़ा हो जाता है। उसी प्रकार विक्षिप्तचित्त वाले कामातुर भिक्षु का चित्त इतना विक्षिप्त हो गया था कि उसे भी कुछ नहीं सूझता था। कवि कहीं-कहीं नवीन उपमानों को प्रस्तुत करता हुआ दिखाई देता है। उदाहरण–

गर्तस्योपर्यवष्टभ्य हस्तयुग्मं महाबलः।
नचिरात्पवनध्वस्तमेघाच्चन्द्र इवोदितः।।[1]

कवि कहता है कि राजा अपने हाथों के बल द्वारा गड्ढे से इस प्रकार बाहर निकल आया, जिस प्रकार पवन द्वारा बादलों के हटाए जाने पर चन्द्रमा उदित हो जाता है। यहाँ राजा का बाहर आना उपमेय है, बादलों से बाहर आया हुआ चन्द्रमा उपमान है, बाहर दिखाई देना साधारण धर्म है और इव सादृश्य वाचक शब्द है।

12. लुप्तोपमा–जहाँ उपमान–उपमेय धर्म और वाचक इनमें से किसी एक या दो या तीन का लोप हो जाए वह लुप्तोपमा कहलाती है।[2] उदाहरण:–

तामुज्जवलां वञ्जुलमञ्जुलाङ्गीं
समुच्छलद्यौवनचञ्चलाक्षीम्।
आलोकमालोकमलं विमुग्धाः
सर्वेऽपि कामोपहता बभूवुः।।[3]

यहाँ पर वञ्जुलमञ्जुलाङ्गी में वञ्जुलं इव मञ्जुलानि अङ्गानि यस्याः सा ताम्। इस प्रकार समास करने पर वाचक शब्द छिपा हुआ है। अतः यहाँ वाचक लुप्तोपमा है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अनेक प्रकार के उपमान उपमेयों से युक्त उपमाएं यत्र-तत्र देखी जा सकती हैं।[4]

13. मालोपमा–जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान हों, वहाँ पर मालोपमा अलंकार होता है। लक्षण–

मालोपमा यद्रेकस्य उपमानं बहु दृश्यते।[5]

उदाहरण:–

---

1. श्री.बो.स.च., 4.37
2. लुप्ता सामान्यधर्मादिरेकस्य यदि वा द्वयोः, त्रयाणां वा उपादाने। ...... -सा.द., 10.17
3. श्री.बो.स.च., 7.14
4. वही, 1.28; 44; 75; 94, 3.16;39; 81; 96; 104,4.37; 85, 6.5;72; 7.9-10; 12-14; 22, 8.19-20; 50; 60-70; 9.36. इत्यादि
5. सा.द., 10.26

ज्वलत्स्फुलिङ्गाः प्रदहन्ति कामं
तृणोल्मुका यान्त्यचिरादपायम्।
स्वप्नोपमाः सन्ति घनान्धकाराः
कामादयोऽनिष्टकरा विकाराः।।[1]

यहाँ कामादि विकार उपमेय हैं, तीव्र चिंगारियां, तिनके, स्वप्न और अन्धकार उपमान हैं। एक ही उपमेय के अनेक उपमान विद्यमान होने से मालोपमा है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अनेक उपमाऐं देखी जा सकती हैं।[2]

14. रूपक–जहाँ विषय (उपमेय) में विषयी (उपमान) का निषेध रहित आरोप हो, वहाँ रूपक अलंकार होता है अर्थात् रूपक में उपमेय पर उपमान का निषेध रहित अभेद आरोप हुआ करता है। कवि द्वारा ऐसे अलंकारों का प्रयोग सादृश्य को चमत्कारी ढंग से परिलक्षित करने के लिए किया जाता है। लक्षण–

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।[3]

उदाहरणः–

न तितिक्षासमं किञ्चिदस्ति साधनमुत्तमम्।
तितिक्षानावमारुह्य तीर्यास्त्वं विपदापगाः।।[4]

प्रस्तुत पद्य में कवि राजा द्वारा विपत्ति रूपी नदियों को पार करने के लिए क्षमारूपी नाव को ग्रहण करने के लिए उपदेश कर रहा है। यहाँ क्षमा (उपमेय) पर नाव (उपमान) का, विपत्ति (उपमेय) पर नदी (उपमान) का आरोप किया गया है। अतः यह साङ्गरूपक का उदाहरण है। इसी प्रकार–

इति काशीश्वरस्यादो निपीय वचनामृतम्।
अमन्दानन्दपाथोधौ न्यमाङ्क्षीत् कोशलेश्वरः।।[5]

इस पद्य में काशीश्वर के वचन में अमृत का तथा आनन्द में सागर का अभेद तथा निषेध रहित आरोप होने से रूपकालङ्कार है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में रूपक के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[6]

1. श्री.बो.स.च., 6.29
2. वही, 3.81, 6.28, 7.10, 8.50 इत्यादि
3. सा.द., 10.28
4. श्री.बो.स.च., 4.90
5. वही, 4.91
6. वही, 1.44, 4.90–91, 5.10 इत्यादि

15. सन्देह—उपमेय में तथा उपमान में कवि की प्रतिभा से उत्थित सादृश्य ज्ञान के कारण संशयोत्पन्न होना सन्देहालंकार है। (सन्देह) संशय में उभयकोटिज्ञान होता है। लक्षण—

संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा।।[1]

अर्थात् प्रकृत उपमेय में अन्य अर्थात् उपमान का संशय हो जाने से सन्देह अलङ्कार कहना चाहिएं।

(i) शुद्ध सन्देह अलङ्कार—जहाँ पर आदि से अन्त तक सन्देह बना रहे वहाँ शुद्ध सन्देह होता है।[2] उदाहरणः—

एषाऽस्ति कस्यापि सुता स्नुषा वा
प्रियाऽथवा प्रेमरसप्रवीणा।
विवाहिता वाऽप्यविवाहिता वे-
त्यसंशयं मामभिधेहि सूत!।।[3]

प्रस्तुत पद्य में उन्मदन्ती के रूप सौन्दर्य को देखकर राजा संशय में पड़ जाता है कि यह किसी की लड़की है अथवा पुत्रवधू है, प्रियतमा है, विवाहित है या अविवाहिता है। इस प्रकार यहाँ अन्त तक सन्देह बना रहने के कारण शुद्ध सन्देह अलङ्कार है।

(ii) निश्चयान्तसन्देह—जहाँ प्रथम संशय प्रारम्भ हो जाय पर अन्त में निश्चय में समाप्त हो जाए, वहाँ निश्चयान्त सन्देह होता है।[4] उदाहरण—

राजा स आसीद् रजकोऽथवेति
स्पष्टाऽत्र मे न प्रतिपत्तिरस्ति।
आयाति राजाऽयमिति स्वकीया-
दाकर्णितं प्रेष्यमुखान्मयाऽपि।।[5]

यहाँ प्रथम उन्मदन्ती को सन्देह होता है, बाद में निश्चय हो जाता है कि यह राजा है।

---

1. सा.द., 10.35
2. यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः। –वही, 10.35 (वृत्तिः)
3. श्री.बो.स.च., 8.51
4. यत्राऽऽदौ संशयोऽन्ते च निश्चयः स निश्चयान्तः। –सा.द., 10.35 (वृत्तिः)
5. श्री.बो.स.च., 8.80

(iii) सन्देहान्त अलंकार—यत्र अन्ते संशये एव पर्यवसानं स्यात् तत्र सन्देहान्तालंकारो भवति[1] अर्थात् जहाँ अन्त में सन्देह ही बना रहे वहाँ सन्देहान्त अलङ्कार होता है। उदाहरणः—

सदोषोऽस्त्ययं दोषहीनोऽथवेति
स्थिते संशये नैव शक्यं प्रवक्तुम्।
यतो वस्तुतस्तस्करास्तु प्रनष्टाः
स्थितास्ते त्रयस्तत्र दुष्टाः प्रदिष्टः।।[2]

यहाँ राजपुरुषों द्वारा तीन व्यक्तियों के चोर न होने पर भी उन पर चोर होने का सन्देह किया गया और वह अन्त तक बना रहा। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी सन्देहान्त अलङ्कार देखा जा सकता है।[3]

16. भ्रान्तिमान्—जहाँ सादृश्य के कारण जो वस्तु जैसी नहीं उसमें उस प्रकार का ज्ञान हो जाये और वह ज्ञान चमत्कारिक हो, वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है। इसमें एक कोटिकज्ञान होता है। कहा भी है—

साम्याद् अतस्मिन् तद्बुद्धिः भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः।।[4]

उदाहरण—

कपोतपादारुणवस्त्रभासा
प्रकाशिताशा विकसद्विलासा।
चन्द्रोदये चन्द्रमुखीं विलोक्य
चन्द्रावहो विस्मयमभ्युपेतः।।[5]

प्रस्तुत पद्य में उन्मदन्ती के मुख को तथा आकाश में चन्द्रमा को देखकर राजा को भ्रान्ति हो रही है कि क्या दो चन्द्रमा हैं? यहाँ उन्मदन्ती के मुख वस्तु में चन्द्रमा अवस्तु का ज्ञान होने से भ्रान्तिमान् अलंकार है।

17. उल्लेखः—उल्लेख का अर्थ है एक वस्तु को कई प्रकार से देखना। जहाँ एक ही वस्तु एक ही व्यक्ति के द्वारा विषय भेद के कारण भिन्न प्रकार से देखी जाये

1. सा.द., 10.35
2. श्री.बो.स.च., 5.5
3. वही, 5.5, 8.51
4. सा.द., 10.36
5. श्री.बो.स.च., 8.65

या एक ही वस्तु को अनेक व्यक्ति अपनी-अपनी भावनो के कारण या किसी और कारण से अनेक प्रकार से देखें, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है किन्तु कवि की कल्पना के द्वारा उसमें सरसता का आना आवश्यक है। विश्वनाथ ने इसका लक्षण करते हुए कहा है कि-

क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः, स उल्लेख उच्यते।।[1]

विषय भेद से जैसे-

राजंस्त्वमेवासि पिता मदीयः
प्रियः सखा स्वाम्यभिनन्दनीयः।
दासोऽस्मि ते पुत्रकलत्रयुक्त-
स्त्वत्प्रीतयेऽहं स्वविधौ नियुक्तः।।[2]

यहाँ पर विषय भेद के कारण एक ही मन्त्री राजा को अनेक प्रकार से देख रहा है। इसी प्रकार ज्ञाता के भेद से भी जहाँ एक वस्तु को अनेक प्रकार से देखा जाए या कवि कल्पना के द्वारा एक से अधिक व्यक्तियों के द्वारा किसी एक को भिन्न प्रकार से देखा जाय वहाँ भी उल्लेख अलंकार माना जाता है। उदाहरणः-

वपुः सादृश्यान्नौ विदुरिह मृगा ग्राम्यपुरुषौ
गणस्तु व्याधानां व्यपदिशति किंपूरुषयुगम्।
प्रतीतस्त्वं साक्षान्मृगयुरवनीपाल इति भो-
स्त्वया ज्ञेयावावां क्षितिधरचरौ किन्नरवरौ।।[3]

किन्नर पुरुष कहते हैं कि मृग इत्यादि हमें ग्राम्य पुरुष, शिकारी लोग किन्नर मिथुन समझते हैं पर तुम हमें किन्नर समझो। यहाँ एक ही किन्नर मिथुन को अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग समझने के कारण उल्लेख अलङ्कार है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी इसका वर्णन मिलता है।[4]

18. अपह्नुतिः—अपह्नुति का अर्थ छिपाना होता है। जहाँ पर प्रकृत वस्तु को छिपाकर उसमें अप्रकृत का आरोप किया जाता है, ऐसे स्थानों पर अपह्नुति अलङ्कार माना जाता है। लक्षण-

1. सा.द., 10.37
2. श्री.बो.स.च., 9.11
3. वही, 10.21
4. वही, 11.8

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः।[1]

प्रकृत अर्थात् उपमेय/का निषेध करके जहाँ उपमान का स्थापन अर्थात् आरोप किया जाता है वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। अपह्नुति में कहीं उपमेय का निषेध कर उपमान का आरोप किया जाता है, तो कहीं उपमान की स्थापना करके बाद में उपमेय का निषेध किया जाता है। तात्पर्य है कि सत्य का निषेध कर असत्य की स्थापना की जाती है। उदाहरण–

> **इन्द्रोऽब्रवीन्न मनुजं मृतमग्निदग्धं**
> **यूयं विधत्थ, वचनं किल वो विदग्धम्।**
> **हत्वा मृगं तु पचथैकमितीव शङ्के**
> **कष्टे निमज्जथ सुदुस्तरपापपङ्के।।**[2]

जब कृषक अपने मृत पुत्र का बिना किसी दु:ख के दाह संस्कार कर रहा होता है, उसी समय इन्द्र आकर उनकी परीक्षा के लिए उनसे पूछता है कि यह क्या किया जा रहा है। कृषक ने उत्तर दिया कि अपने मृतक पुत्र का दाह संस्कार कर रहे हैं। तब इन्द्र कहता है कि तुम मृत पुत्र को अग्नि में नहीं जला रहे हो अपितु किसी मृग को मारकर पका रहे हो, तुम जीव हत्या का पाप कर्म कर रहे हो।

यहाँ इन्द्र द्वारा बालक का निषेध करके उसमें मृग का आरोप किया जा रहा है। अतः अपह्नुति अलङ्कार है।

19. उत्प्रेक्षा–उत्प्रेक्षणम् उत्प्रेक्षा! जहाँ प्रकृत (उपमेय) को उत्कृष्ट बताने के लिए उसमें उपमान की संभावना की जाये तथा उन दोनों में एकरूपता देखी जाये वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है। कवियों ने इस अलंकार के आधार पर कल्पना के विस्तार से वर्णनीय वस्तु की बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्ति की है। लक्षण–

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।[3]

उदाहरण–

> **श्रीमान् धीमान् मया ज्ञातो वस्तुतः शीलवान् भवान्।**
> **अहं नराधमो नूनं मन्ये त्वां पुरुषोत्तमम्।।**[4]

---

1. सा.द. 10.39
2. श्री.बो.स.च., 12.43
3. सा.द.,10.40
4. श्री.बो.स.च., 4.96

यहाँ पर विरोधी राजा के द्वारा राजा शीलवान् (प्रकृत) में उसके गुणों के कारण पुरुषोत्तम (अप्रकृत) की संभावना की गई है। अत: उत्प्रेक्षा अलंकार मान्य है। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा का यह एक और सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

तदङ्गलावण्यमवेक्ष्य लोका मैरेयपीता इव मोहमापुः।
भृशं प्रमत्ता बत नष्टचित्ताः कामोपसृष्टा न किमप्यवापुः।।[1]

उन्मदन्ती के सौन्दर्य को देखकर उसकी परीक्षा करने गए ब्राह्मण उन्मत्त हो गए। उनकी बुद्धि नष्ट हो गई और वे काम आसक्त हो गए। कवि का कहना है कि उनकी स्थिति ऐसी हो गई मानो उन्होंने मदिरापान कर लिया हो। यहाँ उन्मदन्ती के सौन्दर्य में मदिरा की संभावना करने के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[2]

20. दीपक–

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।।[3]

जहाँ कवि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में एक जैसे धर्म को देखता हो और उनका परस्पर-सम्बन्ध बताता हुआ, प्रस्तुत की अभिव्यक्ति के लिए अप्रस्तुत में वैशिष्ट्य दिखाता हो वहाँ दीपक अलंकार होता है। अथवा कविता में सौन्दर्य लाने के लिए एक ही कर्ता का अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध बताये वहाँ भी दीपक अलङ्कार होता है। उदाहरण–

सेनापते! वृष्टिजलं यथोच्च-
स्थलात् स्खलद् दूरतरं प्रयाति।
तथैव लक्ष्मीरपयाति सत्यं
नरादवज्ञाततरादिहारात् ।।[4]

यहाँ पर अपयाति तथा प्रयाति दो क्रियारूप समानधर्म है, जिसका ज्ञान लक्ष्मी के द्वारा हो रहा है। प्रस्तुत पद्य में वृष्टि-जल प्रस्तुत है तथा लक्ष्मी अप्रस्तुत है। दोनों में पृथक्तारूप एक ही धर्म व्याप्त होने से दीपकालंकार है।

---

1. श्री.बो.स.च., 7.15
2. वही, 112; 22; 44; 49; 54; 76; 2.12, 3.44; 47; 94; 4.96; 7.11; 34 इत्यादि।
3. सा.द., 10.49
4. श्री.वो.स.च., 9.21

दीपक का दूसरा भेद

एक कर्ता और अनेक क्रियायों का उदाहरण भी श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इस प्रकार देखा जा सकता है–

तदोन्मदन्ती कलिकाग्रदन्ती
रतिं हसन्ती हृदयं हरन्ती।
सर्वान् जनान् कामवशं नयन्ती
देवाङ्गनेवाऽऽस्त विमोहयन्ती।।[1]

यहाँ कर्ता के रूप में एक ही उन्मदन्ती रति का उपहास करती हुई दूसरों के हृदयों को आकृष्ट करती हुई, सभी को कामदेव के वशीभूत करती हुई तथा देवाङ्गनाओं के समान सभी को मोहित रूप अनेक क्रिया करती हुई वर्णित की गई है। अतः दीपकालङ्कार है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी यह अलङ्कार देखा जा सकता है।[2]

21. दृष्टान्त–दृष्टः अन्तः यस्य सः। जिसको लोक में घटित देखा गया हो। जहाँ पर किसी कहे हुए वाक्यार्थ की पुष्टि के लिए लोक में देखी गई वस्तु को लाकर उपस्थित किया जाए, वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है। लक्षण–

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।[3]

जहाँ पर समान धर्म वाले उपमान और उपमेयभूत दो वाक्यों के अर्थों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दिखाई दे, वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है। उदाहरण–

इन्द्रोऽवदद् यदि सुतोऽस्त्यधिकप्रियोऽयं
कस्मान्न रोदिति भवान्? विधिरस्ति कोऽयम्।
प्रेष्ठे सुते विनयशालिनि यूनि नष्टे
रोरुद्यते सकल एव यतो विशिष्टे।।[4]

यहाँ लोक में मृत्यु पर रोना दृष्ट है। उसका यहाँ उदाहरण देने से दृष्टान्त अलङ्कार है। अन्यत्र भी इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं।[5]

---

1. श्री.बो.स.च., 7.13
2. वही, 2.5
3. सा.द.,10.50
4. श्री.बो.स.च., 12.47
5. वही, 9.38-39

22. सहोक्ति—जहाँ पर "सह" शब्द के बल से एक ही शब्द दो अर्थ बताने लग जाए, वहाँ पर सहोक्ति अलंकार होता है। सहोक्ति अलंकार के मूल में अतिशयोक्ति अवश्य होनी चाहिए। लक्षण–

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्।।[1]

उदहारणः–

राज्ञः सपद्यूर्ध्वमुखस्य तस्याः
मुखारविन्दे निपपात दृष्टिः।
अभूच्च दृष्टेः समकालमेव
कामस्य चापादपि बाणवृष्टिः।।[2]

प्रस्तुत पद्य में राजा की दृष्टि ज्यों ही उन्मदन्ती पर पड़ी तभी कामदेव के धनुष के बाणों की वृष्टि राजा के ऊपर पड़ने लगी। यहाँ मुख पर दृष्टि पड़ना तथा काम के बाणों की वृष्टि का एक साथ होने से सहोक्ति अलङ्कार है।

23. परिकर–

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।[3]

जहाँ कवि किसी अभिप्राय को समक्ष रखकर किसी के लिए तदनुरूप-विशेषणों का प्रयोग करता है तो वहाँ परिकर अलङ्कार होता है। श्रीबोधिसत्त्व चरितम् में कवि के द्वारा प्रयुक्त ऐसे विशेषणों का आधिक्येन प्रयोग किया गया किया है। यहाँ दो एक उदाहरण दिए जा रहे हैं–

श्रूयतां पारिषद्या भोः! शीलवानेष पुण्यवान्।
सद्गुणाभरणः श्रीमान्! काशीराजो विराजते।।[4]

इस पद्य में कोशलपति राजा शीलवान् के गुणों को बताने में शीलवान्, पुण्यवान्, श्रीमान्, गुणवान् जैसे विशेषणों का प्रयोग कर रहा है। ये सभी विशेषण काशीराज पर पूर्णतया चरितार्थ होने से यहाँ परिकर अलङ्कार है। इसी प्रकार–

---

1. सा.द.,10.54
2. श्री.बो.स.च., 8.44
3. सा.द., 10.57
4. श्री.बो.स.च., 4.101

शुद्धान्तरा विगतमोहमलाऽऽत्तभक्षा
पत्युस्तदा प्रणयिनी स्वविधौ प्रसक्ता।
धृत्वा सुगन्धि कुसुमं स्फुटमन्दहासा
क्षेत्रं ययौ परिजनेन समं सुवासाः।।[1]

इस पद्य में कृषक की पत्नी के लिए शुद्धान्तरा, विगतमोहमला, आत्तभक्षा इत्यादि साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग होने से परिकर अलङ्कार है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी पर्याप्त रूप से यह अलङ्कार देखा जा सकता है।[2]

24. अर्थान्तरन्यास–"अन्योऽर्थः अर्थान्तरम् तस्य न्यासः स्थापनम्, अर्थान्तरन्यासः" अर्थात् जहाँ पहले कहे हुए किसी अर्थ की पुष्टि के लिए अन्य अर्थ अर्थात् दूसरे अर्थ को न्यास अर्थात् स्थापित किया जाये उसको अर्थान्तरन्यास कहते हैं। लक्षण–

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यञ्च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।[3]

उदाहरण–

तृषाऽऽकुलोऽभूदनुयायिवर्गो-
ऽप्यमुष्य वैश्यस्य, न केवलं सः।
अनर्थमेकः कुरुते तदीयं
फलं तु तत्पृष्ठचरोऽपि भुङ्क्ते।।[4]

यहाँ पर राजा के समस्तानुयायी केवल एक मात्र व्यापारी की मूर्खता के कारण से भूख और प्यास से तड़पते हुए नष्ट हो गए। इस विशेष बात के समर्थन के लिए कवि सामान्य बात से पुष्ट करता हुआ कहता है कि लोक में बुरा काम तो केवल एक व्यक्ति करता है पर उसके फल के भागीदार अन्य भी होते हैं।

कवि का इसी दिशा में अर्थान्तरन्यास का एक अन्य प्रयोग देखें। उदाहरण–

---

1. श्री.बो.स.च., 12.33
2. वही, 1.6; 57; 2.3;10,46; 59, 3.10; 4.104, 9.31 इत्यादि
3. सा.द., 10.61-63
4. श्री.बो.स.च., 1.59

सेनापते! प्रीतिकरं वचस्ते
तथापि भूतार्थमहं ब्रवीमि।
विपन्निमग्ना अपि धर्मवीरा-
स्त्यजन्ति कर्तव्यपथं न धीराः।।[1]

राजा सेनापति को कम शब्दों में ही अपना मन्तव्य बता देता है कि मैं अपने पथ से च्युत होने वाला नहीं, भले ही आपके वचन मुझे प्रसन्नता प्रदान करने वाले है। इस विषेश बात को कवि विपत्तियों में पड़े होने पर भी धर्मवीर धैर्यवान् अपने कर्तव्यमार्ग का परित्याग नहीं करते इस सामान्य वचन से करता है। कहीं-कहीं कवि अपनी बात की पुष्टि के लिए प्राचीन कवियों द्वारा स्वीकृत जिस उक्ति को अपनाता है, वह प्राचीन होने पर भी नूतन प्रतीत होती हुई कवि के मन्तव्य की पुष्टि करती है। यथा-

निरस्तधैर्योऽहमुदीर्णरागः
स्मरामि तामेव पुरः स्फुरन्तीम्।
कामी स्वतां पश्यति सत्यमुक्तं
कामातुराणां न भयं न लज्जा।।[2]

प्रस्तुत पद्य में कवि सामान्यभूत भिक्षु के हृदयगतभाव का विशेष अर्थ से समर्थन कर रहा है। 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' यह एक प्राचीन उक्ति है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसके अनेकों उदाहरण विद्यमान हैं।[3]

25. काव्यलिङ्ग-जहाँ पर कोई वाच्यार्थ अथवा पदार्थ, किसी का हेतु हो वहाँ पर काव्यलिङ्ग अलंकार होता है। इसका लक्षण इस प्रकार से है-

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते।[4]

उदाहरण-

विधीयते चेद् युगपत् प्रयाणं
कदापि नादो भवति प्रमाणम्।

---

1. श्री.बो.स.च., 9.9
2. वही, 6.17
3. वही, 1.17; 59; 72; 102; 2.4;45, 3.13, 4.71, 5.12, 6.44, 7.22;25;27, 9.9-10; 48, 12.12, 13.11; 26; 27; 29-30, 14.43 इत्यादि
4. सा.द, 10.64

पन्था ह्यणीयान् सुगमो न जातु
भूयान् कथं यात्रिगणः प्रयातु।।[1]

यहाँ पर एक साथ यात्रा करना संभव नहीं। इसमें दो वाक्यार्थ हैं। प्रथम-इस मार्ग पर किसी भी प्रकार से एक साथ जाना सम्भव नहीं। दूसरा है क्योंकि जाने वाले बहुत से हैं।

इसकी पुष्टि इससे हो रही है-"पन्था ह्यणीयान् सुगमो न जातु" क्योंकि रास्ता बहुत छोटा है, एक साथ गमन के योग्य नहीं है। इसी को दूसरे उदाहरण से भी देखा जा सकता है-उदाहरण-

इत्थं विनिश्चित्य वणिक्तनूजः
स बोधिसत्त्वं गिरमुज्जगार।
पुरो गमिष्याम्यहमेव नूनं
द्रव्यं यतो मे भविता ह्यनूनम्।।[2]

प्रस्तुत पद्य में निश्चय ही पहले मैं जाऊँगा इस धारणा की पुष्टि के लिए अधिक द्रव्य लाभ को हेतु बताया गया है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्य भी उदाहरण देखें।[3]

26. विभावना—लोक में बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं किन्तु कवि की सृष्टि में बिना कारण के भी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। ऐसे स्थान पर विभावना अलंकार होता है। लक्षण—

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।[4]

जहाँ बिना कारण के ही कार्य की उत्पत्ति हो जाया करती है वहाँ विभावना अलङ्कार होता है। उदाहरण:-

मातृकुक्षिरपि सोऽतिगौरवो
धन्यतामतितरामुपागमत्।
बोधिसत्त्व उदयं गतो बभौ
यत्र कष्टपरिवर्जमर्भकः।।[5]

---

1. श्री.बो.स.च., 1.14
2. वही, 1.22
3. वही, 1.33, 3.69; 4.106; 112; 5.33, 7.27; 12.27; 14.41-42
4. सा.द. 10.66
5. श्री.बो.स.च., 2.5

भगवान् बुद्ध का जन्म यद्यपि गर्भ से हुआ पर गर्भ के कष्ट का उन्हें अनुभव नहीं हुआ। कष्ट के कारणभूत गर्भ से जन्म होने पर भी उन्हें कष्टरूपी कार्य का अनुभव न होने से विभावना अलंकार है।

27. विशेषोक्ति—लोक में प्राय: कारण होने पर कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। कवि की सृष्टि में जहाँ कारण के होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न दिखाई दे ऐसे स्थलों पर विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। कहा भी है—

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।[1]

अर्थात् कारण होने पर भी कार्य न होना विशेषोक्ति अलङ्कार है। उसमें कहीं कार्य उत्पत्ति न होने का कारण दिया होता है और कहीं पर नहीं। उदाहरण—

प्रथितमजनि यस्याशीतिकोटीश्वरत्वं
मृदुलविनयवत्त्वं लोकसेवापरत्वम्।
धनपतिरपि भूत्वा यो रराजाऽतिनम्रः
सकलजनमनांस्यावर्जयन्नास्त कम्रः।।[2]

यद्यपि संघ अस्सी करोड़ मुद्राओं का स्वामी था पर वह बड़ा विनयी, उन्माद रहित था। धन यद्यपि उन्माद या घमण्ड का कारण माना गया है पर संघ धनिक होने पर भी विनम्र तथा सुशील था। अत: उन्माद के कारण धन के होते हुए भी संघ में घमण्ड रूपी कार्य का अभाव वर्णित होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है। इसी प्रकार इस काव्य में अन्यत्र भी यह अलङ्कार देखा जा सकता है।[3]

28. सम—जहाँ पर दो योग्य वस्तुओं की अनुरूपता के कारण समान रूप से प्रशंसा की जाय या उनकी समान वस्तुओं का वर्णन किया जाय, वहाँ सम अलङ्कार होता है। कहा भी है—लक्षण—

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः।[4]

उदाहरण:—

ज्ञातिगोत्रकुलबुद्धिकीर्तिभू-
कोषसैन्यधनधान्यसम्पदा।

---

1. सा.द., 10.67
2. श्री.बो.स.च., 13.3
3. वही, 3.99; 4.7,1.03; 6.4,16,40; 7.32; 12.34; 13.3
4. सा.द., 10.71

तुल्यतामुपगतावुभाविति
काशिकः स विदितोऽभ्यधात्पुनः।।[1]

प्रस्तुत पद्य में काशीराज तथा कोशलेश दोनों की जाति, गोत्र, कुल, बुद्धि, यश, भूमि, कोष, सेना, धन, धान्य सम्पत्ति इत्यादि की समानता का वर्णन है अतः सम अलङ्कार है। इसी प्रकार–

एवमेव बलनीतिकौशला–
द्यप्यपृच्छ्यत तदा द्वयोरपि।
सर्वथैव सदृशं तयोरभूद्
दृश्यमानमिह वस्तु लौकिकम्।।[2]

प्रस्तुत पद्य में भी दोनों राजाओं के बल, नीति, कौशल आदि की समानता का वर्णन होने से सम अलङ्कार है। इसी काव्य में अन्यत्र भी इस के उदाहरण प्राप्तव्य हैं।[3]

29. विचित्र–जो वस्तु लोक में तो संभव न हो पर कवि द्वारा काव्य में नायकादि के चरित्र को उज्ज्वल बनाने के लिए वर्णन की जाय। कहा भी है–

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।[4]

जहाँ पर कोई किसी चाहने वाली वस्तु की प्राप्ति के लिए उसके विरुद्ध कार्य करे वहाँ विचित्र अलङ्कार होता है। ऐसे स्थानों पर व्यक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए दूसरे व्यक्ति के स्वभाव के विपरीत आचरण कर अपना कार्य सिद्ध करता है। उदाहरण:–

सत्यवाद्यनृतवादिनं जनं
दानतश्च कृपणं जयत्ययम्।
लोभमोहभयशोकवर्जितः
सौख्यमत्र लभते निरत्ययम्।।[5]

---

1. श्री.बो.स.च., 2.43
2. वही, 2.4
3. वही, 2.36;41;43
4. सा.द., 10.72
5. श्री.बो.स.च., 2.59

प्रस्तुत श्लोक में काशीराज का रथवाहक अपने राजा के विषय में कौशल देश के सारथि को कहता है कि हमारे महाराज झूठ बोलने वाले के साथ सत्य बोल कर, कृपण को दान देकर वशीभूत करते हैं। यहाँ विपरीत आचरण द्वारा दूसरे को वश में करने रूपी फल की प्राप्ति से विचित्र अलङ्कार है। अन्य उदाहरण भी काव्य में देखे जा सकते हैं।[1]

30. विशेष—विशेष में कहीं बिना आधार के आधेय का वर्णन होता है या एक ही वस्तु एक ही समय में अनेक स्थानों में देखी जा सकती है या किसी अन्य कार्य को करते हुए किसी अशक्य कार्य की सिद्धि हो जाती है। लक्षण—

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम्।।[2]

उदाहरण—

पिताऽस्मि नेताऽस्मि च शिक्षकोऽहं
भजे स्वधर्मं हि परम्परीणम्।
भृशं विविच्योच्चकुलं स्वकीयं
न जातु कामस्य वशं गतः स्याम्।।[3]

यहाँ पर एक ही राजा में पितृत्व, नायकत्व, शिक्षकत्व आदि भाव वर्णित होने के कारण विशेष अलङ्कार है।

31. प्रश्नोत्तर—जहाँ कविप्रतिभा से उत्थापित प्रश्नोत्तर से सम्बन्धित रचना हो वहाँ प्रश्नोत्तर अलङ्कार होता है। विश्वनाथ तथा अप्पयदीक्षित आदि ने इसको स्वीकार नहीं किया। चन्द्रालोक में इसका लक्षण किया गया कि—

प्रश्नोत्तरं क्रमेणोक्तौ स्यूतमुत्तरमुत्तरम्।[4]

जिस वर्णन में क्रमशः प्रश्न के साथ उत्तर एवं उत्तर के साथ प्रश्न सम्बद्ध हो वहाँ पर प्रश्नोत्तर अलङ्कार होता है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसका उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है—

त्यक्त्वा रोदनमभ्यधाद् गिरमिमां श्रुत्वा तदीयामसौ
किं त्वं मूढ इवेदृशं विसदृशं ब्रूषे वचो माणव!।

1. श्री.बो.स.च., 2.58; 66, 67; 3.80; 95-97
2. सा.द., 10.73
3. श्री.बो.स.च., 9.45
4. चन्द्रालोक, 5.108

पान्थः स्यादथ पन्थकश्च पथिकः सर्वस्य मार्गभ्रमः
संभाव्येत, करोतु नाम किमिहाऽपार्थं तदध्वस्मृतौ।।[1]

यहाँ ब्रह्मचारी तथा पन्थक के परस्पर प्रश्नोत्तर के वर्णन से प्रश्नोत्तर अलङ्कार है। इसी प्रकार एक अन्य सुन्दर उदाहरण देखें:–

इत्यादि युक्तं वसुधाधिपस्य
वचो निशम्य प्रमनाः स आख्यत्।
धन्योऽसि राजन्नपकल्मषस्त्व-
माचारवानुच्चविचारवांश्च ।।[2]

राजा के सुन्दर प्रश्न-पूर्वक वचनों को सुनकर अहिपारक प्रसन्न होता हुआ राजा को उत्तर दे रहा है कि आप धन्य हैं, पापरहित, आचारसम्पन्न हैं। इस पद्य में राजा तथा अहिपारक के प्रतिभोत्थित प्रश्नोत्तर का वर्णन होने से उक्त अलङ्कार है।

32. तद्गुण–जहाँ पर कोई वस्तु अपने गुणों को छोड़कर दूसरे के अत्यन्त विशिष्ट गुणों को ग्रहण कर लेती है। वहाँ तद्गुण अलंकार होता है। इसका लक्षण करते हुए कहा गया है कि–

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः।[3]

अर्थात् अपने गुण को छोड़ दूसरे के उत्कृष्ट गुण ग्रहण करना ही तद्गुण है। उदाहरण:–

दोषजातमपहाय जज्ञिरे
सर्व एव गुणपक्षपातिनः।
द्रुह्यति स्म न कुतोपि कश्चन
न व्यधाद् व्युदितमप्यनर्थकम्।।[4]

यहाँ प्रजा द्वारा बुरे गुणों को छोड़कर राजा के अच्छे गुणों के ग्रहण से तद्गुण अलङ्कार है।

33. अतद्गुण–जहाँ पर कारण होने पर भी कोई वस्तु दूसरी वस्तु के गुणों का ग्रहण न करे वहाँ अतद्गुण होता है। इसका लक्षण निम्न प्रकार से किया गया है–

1. श्री.बो.स.च., 14.29
2. वही, 9.46
3. सा.द., 10.9
4. श्री.बो.स.च., 2.13

लक्षणः–

तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः।[1]

उदाहरणः–

विरहयतु मुधाऽयं बुद्धिहीनः सुहृत्त्वं
न कथमनुभवेयं साध्वहं तन्महत्त्वम्?।
प्रकटयतु च कामं वित्तमत्तो लघुत्वं
कथमहमभिरामं संत्यजेयं गुरुत्वम्?[2]।।

प्रस्तुत पद्य में संघ अपने मित्र की दुष्टता को देख कर भी मन में विकृति रूप दुर्गुण को नहीं लाता।

34. स्वाभावोक्ति–जहाँ पर किसी वस्तु या प्राणी के स्वभाव का या चेष्टा इत्यादि या स्वरूप का यथोचित वर्णन किया जाए वहाँ स्वाभावोक्ति अलंकार होता है। इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है–लक्षण–

स्वाभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्।[3]

किसी की दुरूह चेष्टा का वर्णन जहाँ हो वहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है।

उदाहरण–

फेरवस्तु रवं श्रुत्वा पूर्वं प्राद्रुवन् भयात्
पुनर्निवर्त्य चोपेयुरदृष्ट्वा पृष्ठतः सरम्।
वीक्ष्य तान् पुनरप्युच्चैरशब्दायन्त तेऽखिलाः
क्रोष्टारोऽपि भयत्रस्ताश्चक्रिरे त्रिर्गतागतम्।।[4]

यहाँ गीदड़ों के स्वभाव का वर्णन है। प्रायः गीदड़ इत्यादि वन्य जन्तु अपने शिकार खाने से पूर्व इसी प्रकार चारों तरफ देखा करते हैं। गीदड़ के स्वभाव का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

35. उदात्त–जहाँ श्लाघनीय, समृद्धि वर्णन और अङ्ग रूप से महापुरुषों के चरित्र का वर्णन हो वहाँ पर उदात्त अलंकार होता है। चन्द्रालोक में इसका लक्षण निम्नलिखित प्रकार से है।

1. सा.द.,10.90
2. श्री.बो.स.च., 13.49
3. सा.द., 10.92
4. श्री.बो.स.च., 4.24–25

उदात्तमृद्धिश्चरिते श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्।[1]

उदाहरणः–

शाठ्यकूटकपटान् व्यघट्टयन्
निश्छलं च सरलं व्यवाहरन्।
सज्जनाः समुदितार्थसिद्धयः
प्राप्नुवन् मुदमुदात्तबुद्धयः।।[2]

यहाँ काशीनरेश के उदात्त चरित्र का वर्णन होने से उदात्त अलङ्कार है। समृद्धि के वर्णन में इसका उदाहरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है–

सेनापतेः तस्य विशेषरम्यः
प्रासाद आसीत् स मनःप्रसादः।
अभ्रंलिहाट्टालकदर्शनीयो
मनःशिलाचारुविशालवप्रः ।।[3]

यहाँ अहिपारक की सम्पत्ति का तथा महल का भव्य वर्णन होने से उदात्त अलंकार है। इसके अन्य उदाहरण भी काव्य में देखे जा सकते हैं।[4]

36. परिकराङ्कुर–

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।[5]

जहाँ पर कवि द्वारा साभिप्राय विशेष्य रखा जाए वहाँ पर परिकराङ्कुर होता है। साहित्यदर्पणकार ने इसको स्वीकार नहीं किया। चन्द्रालोककार तथा अप्पयदीक्षित ने ही इसे स्वीकार किया। बोधिसत्त्वचरितम् में इसका उदाहरण इस प्रकार है–

सत्स्वभावात् सदाचारात् सद्विचारात् च सर्वथा।
अन्वर्थसंज्ञास्तस्यासन् यथा नाम तथा गुणाः।।[6]

राजा ब्रह्मदत्त द्वारा अपने पुत्र का नाम शीलवान् रखा गया। उसके शीलवान् होने से साभिप्राय नाम है। अतः यहाँ पर परिकराङ्कुर अलङ्कार है।

---

1. चन्द्रालोक, 5.115
2. श्री.बो.स.च., 2.14
3. वही, 8.41
4. वही, 1.47; 2.22,57,58; 3.48 इत्यादि
5. कुवलयानन्द, 63
6. श्री.बो.स.च., 3.10

इसका दूसरा उदाहरण भी देखें जहाँ पर नाम पद की सार्थकता बताते हुए उन्मदन्ती के विषय में कहा जा रहा है कि–

अहो किमुच्येत विमोहनीयं
नामोन्मदन्तीत्युचितं हि धत्ते।
उन्मादितोऽस्मि प्रसभं नताङ्ग्या
ययाऽनयाहं विनयान्वितोऽपि।।[1]

यहाँ 'उन्मदन्ती' नाम की यथार्थता बताते हुए कहा गया कि वस्तुतः यह अपने शरीर की रमणीयता से लोगों को उन्मत्त करने के कारण ही उन्मदन्ती है। इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरण देखें।[2]

37. विरोधाभास–

विरुद्ध इव आभासते इति विरोधाभासः।

किन्हीं पदों के अर्थ में आपाततः विरोध प्रतीत होने पर भी बाद में विरोध समाप्त हो जाय, वहाँ विरोधाभास होता है। लक्षण–

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।।
विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः।[3]

अर्थात् जहाँ जाति का जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के साथ, गुण का गुण, क्रिया तथा द्रव्य के साथ, क्रिया का क्रिया एवं द्रव्य के साथ तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ आपाततः विरोध प्रतीत हो किन्तु समाधान करने पर विरोध का परिहार हो जाय, वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसका उदाहरण इस प्रकार है–

नृपस्तु शुद्धान्तगतोऽपि रागा-
दासीदशुद्धान्तर एव हन्त।
बुद्धिं गते रागमलानुषङ्गे
बुद्धेर्विशुद्धेर्हि कुतः प्रसङ्गः।।[4]

---

1. श्री.बो.स.च., 8.56
2. वही, 2.3, 7.11, 8.66; 67; 69
3. सा.द., 10.68
4. श्री.बो.स.च., 8.100

वह राजा शुद्धान्तर्गत होने पर भी अशुद्धान्तर था। आपातात विरोध है, जो शुद्ध है वह अशुद्ध कैसे, उसका परिहार है शुद्धान्त शब्द के अन्तःपुर के अर्थ के कारण। राजा के अन्तःपुर में रहने पर भी राग (लालिमा) प्रेम के कारण राजा का अन्तःकरण पवित्र नहीं था। इस प्रकार शुद्ध तथा अशुद्ध शब्द के अर्थों में आपाततः विरोध होने पर भी तुरन्त परिहार होने से अविरोध है, अतः विरोधाभास अलङ्कार है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में ओर भी इस के उदाहरण हैं।[1]

38. विषम–विषम से तात्पर्य है कार्य-कारण या अन्य किसी में विषमता का होना। इसका लक्षण करते हुए कहा गया है–

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः।।[2]

जहाँ कार्य और कारण के गुण या उनकी क्रियाएं आपस में विरुद्ध हों अथवा जहाँ पर आरम्भ किया हुआ कार्य पूरा तो हुआ नहीं पर बीच में कुछ अनर्थ खड़ा हो जाए या जहाँ पर दो विरुद्धपदार्थों का आपस में संयोग हो जाए वहाँ विषम अलङ्कार होता है। उदाहरणः–

कामान्ध्यमाना हतबुद्धयस्ते
तदेकचित्ताः प्रतिपत्तिमूढाः।
परीक्षणं कर्तुमिताः कुमार्याः
परीक्षणीयाः स्वयमेव जाताः।।[3]

यहाँ ब्राह्मण कुमारी (उन्मदन्ती) का परीक्षण तो नहीं कर पाये पर उसके सौन्दर्य से विवेक के नष्ट होने से उनके ऊपर अनर्थ आ पड़ा। यहाँ आरम्भ किये हुए कार्य के पूरे न होने और उसके विपरीत अनर्थ आ पड़ने से विषम अलङ्कार है।

39. अनुमान–चमत्कार पूर्ण हेतु द्वारा जहाँ साध्य का ज्ञान होता है वहाँ अनुमान अलङ्कार होता है। यह अनुमान नैय्यायिकों के अनुमान के समान व्याप्ति ज्ञान पर निर्भर नहीं होता अपितु इसमें चमत्कार की प्रधानता होती है। इसका लक्षण किया गया कि–

अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्।[4]

1. श्री.बो.स.च., 1.34., 3.2, 4.2, 6.30, 8.48; 52; 83; 100, 14.15; 17; 33 इत्यादि
2. सा.द., 10.70
3. श्री.बो.स.च., 7.23
4. सा.द. 10.63

उदाहरण–

पुत्रस्य मृत्युरजनीति मनः समाधे-
र्ज्ञातं मया न विकलाऽस्मि पुनस्तदाधेः।
एकस्य भोजनमतः स मदीयभर्ता
प्रैष्यं प्रियो निरदिशत् कृषिकार्यकर्ता।।[1]

यहाँ एक ही व्यक्ति के भोजन मंगाने रूप हेतु से पुत्र की मृत्यु का अनुमान किया गया, अतः अनुमान अलङ्कार है। इसी प्रकार–

सपुण्डरीकान् सजलार्द्रवस्त्रान्
दृष्ट्वा व आस्वादयतो बिसानि।
मन्ये समीपे विलसन्ति वर्षाः
सरांसि साम्भांसि च सोत्पलानि।।[2]

यहाँ वैश्य द्वारा राक्षस को जल से भीगा हुआ तथा कमलधारण किए हुए देखकर वर्षा का अनुमान करने से अनुमान अलङ्कार है।

40. संभावना–संभावना अलङ्कार साहित्यदर्पणकार तथा मम्मट इत्यादि ने नहीं माना। चन्द्रालोक में इसका लक्षण इस प्रकार से दिया गया है। लक्षण–

संभावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये।
सिक्तं स्फटिककुम्भान्तःस्थितिचेतीकृतैर्जलैः।।[3]

जहाँ किसी कार्य की सिद्धि के लिए यदि ऐसा किया जाए तो ऐसा होगा। इस प्रकार तर्क करने से हानि और लाभ की कल्पना (संभावना) की जाती है, वहाँ संभावना अलङ्कार होता है अथवा जहाँ व्यक्ति किसी कार्य की सिद्धि के लिए असम्भव कारण की कल्पना कर लेता है ऐसे वर्णनों में संभावना अलङ्कार समझना चाहिए। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसका उदाहरण निम्न श्लोक में देखा जा सकता है।
उदाहरणः–

प्रभ्रंशयामो जलपूर्णकुम्भा-
नेतानशेषान् यदि वैश्यसूनोः।

---

1. श्री.बो.स.च.,12.30
2. वही.,1.49
3. चन्द्रालोक, 5.48

तृष्णाक् तदायं सलिलं विनैव
सामर्थ्यहीनो भविताऽचिरेण।।[1]

राक्षसगण मन में सोचते हैं कि यदि वैश्य के जलकुम्भों को तुड़वा दिया जाय तो ये शीघ्र ही भूखे प्यासे मर सकते हैं। इस प्रकार राक्षस द्वारा वणिक् पुत्र की मृत्यु की संभावना करने से संभावना अलङ्कार है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी यह अलङ्कार मिलता है।[2]

41. आशी:–इस अलङ्कार को मम्मट तथा विश्वनाथ इत्यादि आचार्यों ने नहीं माना किन्तु प्राचीन आचार्य इसे अलंकारों में गिनते हैं। भामह ने इसको स्वीकार करते हुए इसका स्वरूप इस प्रकार से बताया–

आशीरपि च केषाञ्चिद् अलङ्कारतया मता।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा।।[3]

जहाँ सुहृद्भाव को समक्ष रख कर किसी को कोई हितकर बात कही जाए और उसमें दूसरों को आपत्ति न हो ऐसे स्थान पर या किसी को आशीर्वाद दिया जाय वहाँ आशी: अलङ्कार होता है।[4] उदाहरण–

भवान् पुरस्ताद् व्रजतु प्रकामं
यायामहं वेति विविङ्ग्ध बन्धो!।
त्वं वेहि पश्चादथवाहमेमि
क्रमेण यानेऽस्ति न कोऽपि दोष:।।[5]

बोधिसत्त्व वणिक् पुत्र को उचित सलाह देते हुए कह रहे हैं कि हम दोनों इकट्ठे नहीं जा पाएंगे। यदि हम क्रम से अर्थात् आगे पीछे जाएँ तो फिर कोई कठिनाई नहीं होगी और वह सलाह वणिक् पुत्र द्वारा स्वीकार करने पर यहाँ आशी: अलङ्कार है।

आशीर्वादात्मक उदाहरणम्–

कृष्या कृतं, जगति यावदियं धरित्री
तावद् विभूतिरचला भवने भवित्री।

1. श्री.बो.स.च., 1.38
2. वही, 1.8; 11.21
3. काव्यालङ्कार, 3.55
4. आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा। –काव्यादर्श, 2.357
5. श्री.बो.स.च., 1.18

दानं व्रतं सततमाचरतैकचित्ताः
सानन्दमात्मनिरता भवताऽप्रमत्ताः।।[1]

यहाँ इन्द्र पुत्र की मृत्यु होने पर भी बिना दुःख के उसे जलाने वाले ब्राह्मण की परीक्षा लेने आता है और उनकी बातों से प्रसन्न होकर अच्छे कार्य करने का आशीर्वाद देकर जाता है। यहाँ आशीर्मय-वचनों के कारण भामह के अनुसार आशीः अलङ्कार है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।[2]

42. संसृष्टि—संसृष्टि का अर्थ है मिला हुआ। अर्थात् जहाँ दो या दो से अधिक शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार एक ही पद्य में आ जाएं वहाँ अलङ्कारों का सम्मिश्रण समझना चाहिए और यह सम्मिश्रण काव्य की शोभा को ठीक इसी प्रकार से बढ़ाता है जिस प्रकार किसी कामिनी के शरीर पर यथा-यथा स्थान पर पहने हुए दो या उससे अधिक अलङ्कार शोभादायक होते हैं। अलङ्कारों का यह सम्मिश्रण दो प्रकार से होता है। कहीं तो यह अलङ्कार तिल और तण्डुल के समान पृथक्-पृथक् रूप से दिखाई देते हैं पर कहीं पर दूध और पानी के समान मिले हुए होने पर पृथक् रूप से पहचाने नहीं जाते। इस प्रकार इसके दो भेद हैं-(i) संसृष्टि (ii) सङ्कर।

लक्षण-

मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितः संसृष्टिरुच्यते।[3]

जहाँ तिल-तण्डुल न्याय से पृथक्-पृथक् रूप से एक ही पद्य में काव्य की चारुता के कारण दो या दो से अधिक अलङ्कार हों वहाँ संसृष्टि अलङ्कार होता है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में केवल पद्यों में ही नहीं अपितु पूरे सर्ग के सर्ग में शब्दालङ्कारों की संसृष्टि अधिकता से पाई जाती है। यहाँ पर केवल एक दो उदाहरण मात्र ही दिए जा रहे हैं। उदाहरण:-

कपोतपादारुणवस्त्रभासा
प्रकाशिताशा विकसद्विलासा।
चन्द्रोदये चन्द्रमुखीं विलोक्य
चन्द्रावहो विस्मयमभ्युपेतः।।[4]

---

1. श्री.बो.स.च., 12.87
2. वही, 2.38, 9.33, 12.4;86 इत्यादि
3. सा.द., 10.98
4. श्री.बो.स.च., 8.65

प्रस्तुत पद्य में प्रथम दो चरणों में उपमा अलङ्कार है तथा अन्तिम दो चरणों में चन्द्रमुखी विलोक्य, चन्द्रो अहो! ये दो चन्द्रमा हैं। इस प्रकार से उपमेय भूत मुख में उपमान भूत चन्द्रमा की भ्रान्ति होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है। अत: उपमा और भ्रान्तिमान् की संसृष्टि है। तीन बार चन्द्र शब्द की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास भी है। अत: अर्थालङ्कार तथा शब्दालङ्कार की संसृष्टि भी देखी जा सकती है। एक और उदाहरण देखें। उदाहरण–

रजनिरजनि कष्टा द्रव्यनाशादनिष्टा
दिवसमसुखमिष्टा सा प्रतिष्ठाऽपि नष्टा।
हतविधिघटितत्वात् सङ्कुचद्भागधेय:
प्रविततमथ तापं प्राप वाराणसेय:।।[1]

इस पद्य के प्रथम चरण रजनि रजनि (रजनि + अजनि) में यमक है। प्रथम, द्वितीय चरण के अन्त में 'ष्टा' तथा धेय: और सेय: की आवृति होने से अन्त्यानुप्रास भी है। अत: दो शब्दालङ्कारों की संसृष्टि है। कहीं–कहीं तीन अलङ्कारों की संसृष्टि देखी जा सकती है। उदाहरण–

प्रिय: सुरापो ह्यपरं सुरापं
प्रीत्या यथा दातुमुपैति पात्रम्।
तथा कदा मां प्रणयप्रकर्षा–
दुपासितुं सैष्यति सोपहारा।।[2]

प्रस्तुत पद्य में यमक, छेकानुप्रास, उपमा एवं वृत्त्यनुप्रास की छ्टा स्पष्ट है।

II छन्द सिद्धान्त

(क) काव्य में छन्दों का स्थान तथा महत्त्व

जिस प्रकार कवि और काव्य का पारस्परिक सम्बन्ध है, इसी प्रकार कविता और छन्द का भी है। इन दोनों में ऐसा सम्बन्ध है जिसके कारण इनमें से एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। छन्द के द्वारा ही कविता में इस प्रकार लय की धारा चलती है जिसमें श्रोता बह जाते हैं। यह धारा जितनी तीव्र तथा आह्लादकारी होगी श्रोता या पाठक उतनी ही तीव्रगति से उसके प्रभाव से प्रभावित होकर बह

1. श्री.बो.स.च., 13.8
2. वही, 8.72

जायेंगे। छन्द कवि के भावों को एक सुनिश्चित रूप में नियन्त्रित करने का साधन भी माना जा सकता है क्योंकि छन्द ही किसी कवि की कविता में स्पन्दन, कम्पन तथा गति प्रदान करता है। यही कारण है कि वैदिक तथा लौकिक भाषा का प्रारम्भ छन्दोबद्धता से ही हुआ है। संसार की सबसे प्राचीन भाषा में निबद्ध तथा सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद छन्दोबद्ध है। वेद के प्रथम ऋषि ने छन्दोमयी भाषा में ही ज्ञानस्वरूप वेद के प्रथम मन्त्र का दर्शन किया था।[1] लौकिक संस्कृत-भाषा के आदि काव्य वाल्मीकिरामायण के प्रथम श्लोक[2] का प्रादुर्भाव भी क्रौञ्च-वध से उत्पन्न कवि के हृदय में विद्यमान शोक के श्लोक रुप से परिणत होने पर हुआ था।[3]

छन्दस् शब्द प्राण,[4] गोस्थान,[5] रश्मि[6] इत्यादि अनेकार्थ में प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने छदि, संवरणे धातु से इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि जो वेदों के धातु ढकने के साधन हैं अर्थात् जो वेदों के भावों तथा वर्णनीय विषयों का आच्छादन करें वे छन्द कहलाते हैं।[7] वैय्याकरण छदि आह्लादने धातु से छन्द शब्द की निष्पत्ति करते हुए इसका अर्थ मनोरंजन करते हैं अर्थात् मन को रञ्जित करने का साधन।[8] अमरकोश में छन्दस् शब्द पद्य अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[9] काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक छन्द से वृत्त अर्थ का ही बोध होता है। प्राचीनकाल से ही किसी भी भाषा की रचना में छन्दों का अपना एक विशिष्ट महत्त्व रहा है। वेद के लिए तो छन्द उसके पैर तक कहा गया है।[10] ऋक्सर्वानुक्रमणी में छन्द का महत्त्व बताते हुए कहा गया कि- जो कोई मन्त्रों के छन्द, ऋषि, देवता आदि का ज्ञान कराए बिना मन्त्रों से यज्ञ करवाता

---

1. अग्निमीले पुरोहितम्। .... -ऋ.वे., 1.1.1
2. मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
   यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। -उत्तररामचरितम्, 2.5
3. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
   क्रौञ्च द्वन्द वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। -ध्व., 1.5
4. प्राणा वा एतानीतराणि छन्दासि, -मै.ब्रा., 3,1,9
5. छन्दासि वै व्रजो गोस्थानः, -तै.ब्रा., 3,2,9,3
6. ऋ. वे., 1.154.6
7. छदांसि छादनात्, -निरुक्त, 7.12
8. छ.सू., 2.1
9. छन्दः पद्येऽभिलाषे च, -अमरकोश, 3.3.232
10. छन्दः पादौ तु वेदस्य। -पा.शिक्षा, श्लो. 41, पृ. 13

है, वेद पढ़ता तथा पढ़ाता है, वह भयंकर गर्त में गिरता है।[1] कविता में छन्दों का विधान अनादिकाल से चला आ रहा है। आज के युग में भले ही इसकी उपयोगिता न हो किन्तु एक समय था जब यह साहित्य के लिए परम अनिवार्य समझा जाता था। उस समय केवल विद्याओं को मौखिक परम्परा से ही सुरक्षित रखा जाता था। छन्दोबद्ध रचना को मौखिकरूप से कण्ठस्थ करने में सुगमता रहती थी। अतः प्राचीन समय में इसकी अत्यधिक उपयोगिता थी। इसलिए संस्कृत के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद तथा रामायण दोनों छन्दोमयी विधा में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संस्कृत के कवि छन्द रहित पद्य की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिए कवि कविता के लिए सुन्दर छन्दों को अपनाते हैं।[2]

(ख) छन्द तथा रस परिपाक

काव्यमीमांसा में पाक के विषय में कहा गया है कि रसानुगुण शब्द, अर्थ और सूक्तियों की योजना ही पाक है। जिससे आनन्दातिशयरुप कार्य उत्पन्न हो वाक्य रचना के समान ही पाक भी शब्दों से कहा जाता है और सहृदय का हृदय ही इसमें प्रमाण होता है।[3] तात्पर्य है कि कवि वर्णन तथा भावों के अनुरूप ही छन्दों को अपनाएं। वर्ण्य-विषय के अनुरूप अपनाए गए छन्द ही लय और सौन्दर्य को उद्भासित करते हैं तथा कविता को रसमय बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं। काव्यशास्त्र में इसी को पाक कहते हैं। आचार्यों का मानना है कि काव्य में जिस प्रकार रस के अभिव्यंजक शब्द, अर्थ, अलङ्कार, रीति, गुण इत्यादि का ध्यान रखना अनिवार्य है, उसी प्रकार छन्द का भी ध्यान रखना आवश्यक है केवल वर्णन-कौशल, शब्दगत पाण्डित्य, अलङ्कारगत चारुता ही रसाभिव्यक्ति में कारण नहीं अपितु रसानुकूल छन्दोबद्ध-योजना की निपुणता भी उसके लिए परमावश्यक है। क्षेमेन्द्र का कथन है कि "निर्दोष, गुणों से गुम्फित, सद्वृतों से मुक्ताओं के समान विनियोजित प्रबन्ध अर्थात् काव्य ही सौन्दर्य प्रदान करता है। इसलिए काव्य में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुरूप ही छन्दों का योजन करना चाहिए। जो कवि विषय या रसानुरूप छन्दों का अपनी रचना में प्रयोग करता है, वही अपने काव्य को अन्य काव्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट करता है।[4]

---

1. कात्यायन, ऋ.वे. सर्वानुक्रमणी, पृ.2
2. सु.वृ.ति., क्षेमेन्द्र, 3.10
3. का.मी., पांचवा अध्याय, पृ. 149-155
4. प्रबन्धः सुतरां भाति यथास्थानं विवेचकः।
   निर्दोषैर्गुणसंयुक्तैः सुवृत्तैर्मौक्तिकैरिव।। -सु.वृ.ति. 3.1

यदि कवि छन्दों की सम्पन्न योजना नहीं करता है तब वह छन्द ग्रीवा में लटकती हुई मेखला के समान कवि की अल्पज्ञता को ही प्रकट करता है।[1] यदि कोई कवि छन्दों के विधान में किसी भी प्रकार की असावधानी करता है तो कवि-सम्प्रदाय में उपहास का पात्र बन जाता है।[2] कवि के लिए तो यही उचित है कि उसका जिस वृत्त में रचना करने का अभ्यास अधिक हो उसी में रचना करे। प्राचीन कवियों में भी वृत्त-विशेष के प्रति विशेष लगाव देखा गया है[3] जिसे अपनाकर अपनी रचना में चमत्कार पैदा कर सकते थे।[4] कवि छन्दोविशेष में रचना करने से विशिष्ट ख्याति भी प्राप्त कर गए हैं।[5]

क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि-काव्य में रस तथा विषयानुरूप छन्दों का प्रयोग करना चाहिए।[6] उनका मानना है कि कवि धर्मादि उपदेश देने में तथा साधारण वर्णन में अथवा कथा विस्तार तथा उपदेशादि वाक्यों में अनुष्टुप् छन्दों का प्रयोग कर वर्णन को चमत्कारी बना सकता है।[7]

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने इसी सरणि का अनुसरण करते हुए श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के दो सर्गों में अनुष्टुप् का सुन्दर प्रयोग किया है।[8] विषयानुरूप छन्दों के पारखी डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने प्रकृति-चित्रण[9] तथा विरह की लम्बी रातों के वर्णन में छोटे छन्दों का प्रयोग न कर शास्त्रानुरूप कालिदास के सदृश मन्दाक्रान्ता जैसे छन्दों का प्रयोग किया है।[10] कहीं-कहीं उन्हें वर्णनीयवस्तु में घटनाक्रम को प्रवाहोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए शार्दूलविक्रीड़ित जैसे लम्बे छन्दों का भी प्रयोग किया है।[11]

---

1. सु.वृ.ति., 3.13
2. वही, 3.14
3. भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
   रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति।। -वही, 3.33
4. शार्दूलविक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः, -वही, 3.35
5. सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति, -वही, 3.34
6. वही, 3.7
7. पुराणप्रतिविम्बेषु प्रसन्नोपायवर्त्मसु।
   उपदेषप्रधानेषु कुर्यात्सर्वेष्वनुष्टुभम्।। -वही, 3.9
8. श्री.बो.स.च., तृतीय तथा चतुर्थ-सर्ग
9. वही, 10.12; 14; 30; 31
10. वही, 10.37-41
11. वही, 14.1-38

प्रस्तुत काव्य की समाप्ति छोटे छन्द में करने की इच्छा से काव्य के अन्त में स्वागता जैसे छन्द को अपनाकर मानों अपने मन के भावों को समेटता हुआ कवि अपनी नम्रता को सूचित करता हुआ लिखता है कि–

य: पवित्र-हृदय: सदय: श्रीबुद्ध आस्त यमिनां पुर एता।
नामसिद्धयभिधमुत्तभमेतज्-जातकं स भगवान् निजगाद।।[1]

(ग) छन्दों के भेद

छन्दस् शास्त्र की दृष्टि से छन्दों को दो भागों में विभक्त किया गया है–(i) मात्रिक (ii) वार्णिक।

(i) मात्रिक–मात्रा को लेकर जिनका लक्षण किया जाय वे मात्रिक छन्द कहलाते हैं। जैसे - आर्या गीति इत्यादि।

(ii) वार्णिक–वर्णों के आधार पर जिन छन्दों का लक्षण किया जाता है वे वार्णिक छन्द कहलाते हैं। इन छन्दों में चारों पादों में समान वर्ण होते हैं। तीन-तीन वर्ण का एक-एक गण होता है।

अनुष्टुप्[2] तथा पद्य[3] छन्द को छोड़कर शेष छन्द गणों के आधार पर लक्षित किए जाते हैं।

(घ) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में छन्द

(i) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में मात्रिक छन्द

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में मात्रिक छन्द का कोई भी उदाहरण प्राप्त नहीं हैं।

(ii) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में वार्णिक छन्द

1. इन्द्रवज्रा–इन्द्रवज्रा के प्रत्येक चरण में 11 वर्ण होते हैं। इसका लक्षण निम्न प्रकार से किया गया है–

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौग:।[4]

जिसके प्रत्येक चरण में दो तगण एक जगण तथा दो गुरु हों उसे इन्द्रवज्रा छन्द कहते हैं। उदाहरण–

---

1. श्री.बो.स.च., 14.45
2. श्रुतवोध, कालिदास, श्लो.10
3. यह एक प्रकार का अनुष्टुप् छन्द ही है।
4. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, 3.28

शास्तेति नाम्ना प्रथितो महात्मा
बुद्धः प्रबुद्धो जनताहिताय।
प्राग्जन्मवृत्तान्तकथास्तदीया
गीर्वाणवाण्या समुदीरयामि।।[1]

इस श्लोक के प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, तगण, जगण और दो गुरु वर्ण होने से इन्द्रवज्रा छन्द है। इसी प्रकार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी यह छन्द देखा जा सकता है।[2]

2. उपेन्द्रवज्रा–उपेन्द्रवज्रा के प्रत्येक चरण में 11 अक्षर होते हैं। इसका लक्षण निम्न प्रकार से किया गया है–

उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।।[3]

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक जगण, एक तगण तथा जगण और दो गुरु हों उसे उपेन्द्रवज्रा छन्द कहते हैं। उदाहरण–

अलभ्यभोज्यान्नजलं प्रदेशं
सुविस्तृतं षष्टिषु योजनेषु।
विशंकटं तत्र ससंकटं तं
निशाम्य वैश्यः स्थितिमाततान।।[4]

प्रस्तुत पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक जगण, एक तगण, एक जगण्र तथा दो गुरु होने से उपेन्द्रवज्रा छन्द है। द्वितीय तथा चतुर्थ चरण के अन्त में यद्यपि क्रमशः 'षु' तथा न ह्रस्व अक्षर हैं पर 'पादान्तगोऽपि वा' पाद के अन्तिम अक्षर को विकल्प से छन्दःपूर्ति के लिए ह्रस्व को दीर्घ मान लिया गया है।[5] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसके और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।[6]

---

1. श्री.बो.स.च., 1.1
2. वही., 1.2; 20–23; 48; 99, 8.46; 47; 53.77, 9.48; 50; 52–55, 11.22 इत्यादि
3. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, 3.29
4. श्री.वो.स.च., 1.34
5. छन्दोमञ्जरी, 1.11
6. वही, 1.59; 74.2.66–67; 9.45; 55, 14.41 इत्यादि

3. अनुष्टुप्–

श्लोके षष्ठं गुरुं ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।[1]

इसमें चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं। इसके चारों चरणों में छठा अक्षर गुरु, पांचवां अक्षर ह्रस्व होता है। दूसरे पाद तथा चतुर्थ पाद का सातवां अक्षर ह्रस्व होता है। प्रथम तथा तृतीय पाद का सप्तम अक्षर दीर्घ होता है। उदाहरण–

काशीक्षेत्रे प्रसिद्धाभूत् पुरा वाराणसी पुरी।
ब्रह्मदत्तो नृपो यस्य मप्रमत्तो व्यराजत।।[2]

इस श्लोक में प्रथमपाद का 'सि' (संयुक्ताक्षर से पहला अक्षर होने से) द्वितीय पाद का 'सी' तृतीय पाद का 'पो' तथा चतुर्थ पाद का 'रा' दीर्घ है। इसी प्रकार प्रथमपाद में 'प्र' द्वितीयपाद में 'ण' तृतीयपाद में 'नष्ट' चतुर्थपाद में 'व्य' ह्रस्व हैं। द्वितीयपाद का सप्तम वर्ण 'पु' तथा चतुर्थपाद का सप्तम 'ज' ह्रस्व है। इसी प्रकार प्रथमपाद का सप्तम वर्ण 'द्धा' एवम् तृतीयपाद का 'यस्याः में 'य' दीर्घ होने से अनुष्टुप् का लक्षण पूर्णतः घटता है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी यह छन्द विद्यमान है।[3]

4. उपजाति–उपजाति छन्द मिश्रित छन्द है। यह दो छन्दों के मिश्रण से बनता है। इसमें चारों पाद एक ही छन्द के नहीं होते। इसके लक्षण के विषय में मतभेद हैं।

वृत्तरत्नाकरकार ने इसका लक्षण निम्न प्रकार से किया है। लक्षण –

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ ।
पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।।[4]

जहाँ दो छन्दों के चरणों का परस्पर मेल हो वहाँ उपजाति छन्द होता है इस प्रकार इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के पादों के मिश्रण से उपजाति छन्द बन जाता है। उदाहरण–

प्रशासतस्तस्य भुवं यथावत्
पञ्चापि भूतानि शिवं वितेनुः।

---

1. श्रुतवोध, कालिदास विरचित
2. श्री.बो.स.च., 3.1
3. वही, 3.3–104; वही, 4.1–109; 111
4. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट 3.30

ब्रह्मेव सृष्टेरधिपः प्रजानां
रराज राजा स उदारकीर्तिः।।[1]

इस श्लोक में प्रथम तथा चतुर्थ पाद में उपेन्द्रवज्रा तथा द्वितीय-तृतीय पाद में इन्द्रवज्रा छन्द है। वृत्तमुक्तावली में उपजाति का लक्षण इस प्रकार है-

यत्रेन्द्रवज्रा प्रथमे तृतीये
द्वितीयचतुर्थ्योधदुपेन्द्रवज्रा।
सा प्राज्ञवर्यैरुपजातिरुक्ता
मनोज्ञविच्छित्तिविशेषयुक्ता।।[2]

जहाँ प्रथम तथा तृतीय पाद में इन्द्रवज्रा तथा द्वितीय और चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा हो वहाँ उपजाति छन्द होता है। उदाहरण-

सन्तीदृशाः केऽपि च भूमिभागाः
जलस्य लेशोऽपि न यत्र लभ्यः।
भोज्यस्य तत्रास्ति कथैव का वा
प्रजापतेः सृष्टिरियं विचित्रा।।[3]

प्रस्तुत पद्य में प्रथम तथा तृतीय पाद इन्द्रवज्रा का तथा द्वितीय एवं चतुर्थ पाद उपेन्द्रवज्रा का होने से उपर्युक्त लक्षण भी इसमें घटता है। अतः यह भी उपजाति छन्द है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में उपजाति छन्द का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है।[4]

5. स्वागता–इसमें चार चरण होते हैं तथा प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण होते हैं। इसका लक्षण निम्न प्रकार से है-

स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्।[5]

जिस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, नगण, भगण, एवम् अन्त में दो गुरु वर्ण हों वह स्वागता छन्द जाना जाता है। उदाहरण-

---

1. श्री.बो.स.च., 1.3
2. वृत्तमुक्तावली, 3.141
3. श्री.बो.स.च., 1.33
4. वही, 1.2-19; 22-26; 28-31; 32; 35; 39-43; 46-56; 60 इत्यादि, 2.66-67 तथा षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम-सर्ग के कतिपय श्लोकों को छोड़कर सम्पूर्ण सर्ग।
5. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, 3.39

दीयमानमपि नाधिकमैच्छद्
योऽर्थिने खलु यथेच्छमयच्छत्।
ईदृशः शुभदृशः सुचरित्रं
मैत्र्यमत्र विदधाति पवित्रम्।।[1]

इस पद्य में उपर्युक्त लक्षणानुसार प्रत्येक चरण में रगण, नगण, भगण और दो गुरु वर्ण होने से स्वागता छन्द है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी यह छन्द प्रयुक्त हुआ है।[2]

6. तोटकः–इसके चारों चरणों में प्रत्येक चरण में बारह–बारह अक्षर होते हैं। सुवृत्ततिलक में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है।

सकारैरन्वितं वृत्तं चतुर्भिर्युगपत्स्थितैः।
उदितं तोटकं नाम वृत्तज्ञैर्द्वादशाक्षरम्।।[3]

जिस छन्द में प्रत्येक चरण में एकत्र लगातार चार सगण हों वहाँ तोटक नामक छन्द होता है। उदाहरण–

तदनन्तरमेव शठः सचिवो
नृपयोरुभयोरपि हानिकरः।
समदण्ड्यत कोशलभूपतिना
न सुखेन हि तिष्ठति दुष्टजनः।।[4]

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में चार–चार सगण होने से तोटक छन्द है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी इसे अपनाया गया है।[5]

7. रथोद्धता–यह ग्यारह वर्णों का छन्द है। इसमें चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण होते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है–

रान्नराविह रथोद्धता लगौ।[6]

---

1. श्री.बो.स.च., 13.99
2. वही, 13.100, 14.45
3. सु.वृ.ति., क्षेमेन्द्र, 1.25
4. श्री.बो.स.च., 4.112
5. वही, 6.45; 9, 56–57
6. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट 3.38

जिस पद्य के प्रत्येक चरण में एक रगण, एक नगण तथा एक रगण और अन्त में एक लघु और गुरु वर्ण हो वहाँ रथोद्धता छन्द होता है। उदाहरण–

काशिनाम्नि ललिते विपश्चिता
माश्रये सुविदिते पुरे पुरा।
ब्रह्मदत्तनृपतिर्यथाविधि
प्राशिषद् वसुमतीं महायशाः।।[1]

प्रस्तुत पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, नगण, रगण तथा लघु और गुरु अक्षर होने से रथोद्धता छन्द है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[2]

8. द्रुतविलम्बितम्–यह 12 अक्षर का छन्द है। इस में चार चरण होते हैं, प्रत्येक चरण में 12 वर्ण होते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है–

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।[3]

जिस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रमशः एक नगण, दो भगण तथा एक रगण हो, वहाँ द्रुतविलम्बित छन्द होता है। उदाहरण–

विमलकीर्तिरुदारमतिर्भवान्
अनुचितं क्षमतां मम दुष्कृतम्।
क्षितिपतेस्तव सेवकतामितः
सुहृदहं हृदहंकृतिवर्जितः।।[4]

प्रस्तुत पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, भगण, भगण तथा रगण होने से द्रुतविलम्बित छन्द है। इस काव्य में अन्यत्र भी यह छन्द प्रयुक्त हुआ है।[5]

9. भुजङ्गप्रयात–यह 12 अक्षर वाला छन्द है। इसमें चार चरण होते हैं। वृत्तरत्नाकर में इसका लक्षण निम्न प्रकार से है–

भुजङ्गप्रयातं भवेद् यैश्चतुर्भिः।[6]

---

1. श्री.बो.स.च., 2.1
2. वही, द्वितीय-सर्ग में 60 श्लो. तक
3. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, 3.49
4. श्री.बो.स.च. 4.110
5. वही, 9.55
6. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, 3.55

जिस श्लोक के प्रत्येक चरण में चार यगण हों वहाँ भुजङ्गप्रयात छन्द होता है। उदाहरण-

पुरीं काशिराजस्य संमर्द्य बाढं
तदीयांश्च लोकान् भृशं दण्डयित्वा।
जयोन्मादयुक्तः शठः कोसलेशो
निजान् सेवकानादिशत्क्रूरमित्थम्।।[1]

प्रस्तुत पद्य के प्रत्येक चरण में चार यगण होने से भुजङ्गप्रयात छन्द है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी यह छन्द देखा जा सकता है।[2]

10. मालिनी–यह 15 वर्ण का छन्द है। आठ और सात अक्षरों पर यति होती है। इसका लक्षण इस प्रकार किया गयाः–

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।[3]

जिस पद्य के प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण तथा दो यगण हों वह मालिनी वृत्त कहलाता है। उदाहरण–

इति निगदति तस्मिन् काशिकाधीशसूते
विलसति च कुमारे वाङ्मनःकायपूते।
सहकृतनिजसूतो वाचमाचम्य रम्यां
द्रुततरमवतीर्णः स्यन्दनात् कोशलेशः।।[4]

प्रस्तुत पद्य के प्रत्येक पाद में क्रमशः नगण, नगण, मगण तथा दो यगण होने से मालिनी छन्द है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी यह छन्द प्रयुक्त हुआ है।[5]

11. वसन्ततिलका–यह 14 अक्षर का छन्द है। इस में चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद में चौदह-चौदह अक्षर होते हैं। इसका लक्षण करते हुए लिखा है कि-

ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः।[6]

---

1. श्री.बो.स.च., 3.105
2. वही, 5.1-36
3. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, 3.87
4. श्री.बो.स.च., 2.61
5. वही, 2.62-64, 5.37 तथा त्रयोदश-सर्ग प्रथम श्लो. से 98 श्लो. तक
6. छन्दोमञ्जरी, द्वि.स्त., पृ. 72

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक तगण, एक भगण, दो जगण तथा दो गुरु हों वहाँ वसन्ततिलका छन्द होता है। उदाहरण–

धर्मे मतिर्भवतु ते सततोत्थितस्य
रागादिदोषपरिवर्जितमानसस्य।
आनन्दधाम परमं चरमं झटित्यों,
तत्सत्पदं प्रतिपदं त्वमुपाश्रयस्व।।[1]

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण तथा दो गुरु होने से वसन्ततिलका छन्द है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अन्यत्र भी यह छन्द देखा जा सकता है।[2]

12. शिखरिणी–यह 17 वर्ण का छन्द है। इसमें चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद के छठे तथा ग्यारवें वर्ण पर यति होती है। इसका लक्षण इस प्रकार है–

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।[3]

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में यगण, यगण, नगण, सगण, मगण तथा एक लघु और एक गुरु अक्षर हो वह शिखरिणी छन्द कहलाता है। यह छन्द प्रायः लम्बे वृत्तान्त के वर्णन, विप्रलम्भशृङ्गार तथा प्रकृति–चित्रण के वर्णन में अपनाया जाता है। कवि ने इसको किन्नर–मिथुन के पारस्परिक प्रेम के वर्णन में लगातार दो सर्गों में अपनाया है। इसका एक सुन्दर उदाहरण देखें–

पवित्राम्भःपूर्णा सफलदलपुष्पैः परिवृता
दुमैः स्निग्धच्छायैर्व्रततिततिभिश्चाप्युपचिता।
तटप्रान्तैर्हृद्या विहगमधुरध्वानमुखरै-
स्तरङ्गैरुतुङ्गैररमयदमुं सा सरिदपि।।[4]

इस श्लोक के प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा लघु तथा गुरु अक्षर होने से शिखरिणी छन्द है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसके ओर भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।[5]

---

1. श्री.बो.स.च., 9.52
2. वही, 9.53–54, 10,42; 12.1–88
3. छन्दोमञ्जरी, द्वि.स्त,. पृ. 84
4. श्री.बो.स.च.,10.12
5. वही, दशम-सर्ग के अन्तिम श्लो. को छोड़कर तथा ग्यारहवें-सर्ग के 19वें श्लो. तक यही छन्द है।

13. शार्दूलविक्रीडितम्–इस वृत्त में चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद में 19 अक्षर होते हैं तथा बारहवें एवं सातवें अक्षर पर यति होती है। इसका लक्षण करते हुए कहा गया कि–

सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।[1]

जिस छन्द के प्रत्येक पाद में 19 अक्षर हों तथा प्रत्येक पाद में मगण, सगण, जगण, सगण तथा दो तगण एक गुरु क्रमशः हों। उसको शार्दूलविक्रीडितम् छन्द कहते हैं। उदाहरण–

व्युत्पन्नोऽपि विपद्यते विधिवशान् मृत्युर्ध्रुवःप्राणिनां
सर्वं वस्तु चलं बुधैर्निगदितं नाऽत्र स्थिरं किञ्चन।
किं नामाऽत्र करिष्यति क्षणमपि स्याज्जीवकोऽजीवको
वेत्येवं न विचारणा प्रभवति क्षीणे सति ह्यायुषि।।[2]

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और गुरु वर्ण होने से शार्दूलविक्रीडितम् छन्द है। इसी प्रकार इसी काव्य में अन्यत्र भी यह छन्द विद्यमान है।[3]

14. मन्दाक्रान्ता–इस छन्द में चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद में 17 वर्ण होते हैं। चतुर्थ, षष्ठ और सप्तम वर्ण पर यति होती है। इसका लक्षण करते हुए कहा गया कि–

मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्।[4]

जिसके प्रत्येक पाद में एक भगण, मगण, नगण दो तगण, दो गुरु अक्षर हों उसे मन्दाक्रान्ता छन्द कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है। उदाहरण–

ध्वंसन्ते ते विषमपतिता नोन्नतिं कर्तुमीशा-
स्त्यक्त्वा स्वीयं सुकृतमुचितं नाम्नि निष्ठां गता ये।
दोषस्पृष्टे गुणविरहिते पुंसि किं बुद्धिशून्ये
श्रेष्ठं प्रेष्ठं श्रुतिसुमधुरं नामधेयं विदध्यात्।।[5]

---

1. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, 3.101
2. श्री.बो.स.च., 14.17
3. वही, 12.89–90, 13.101–105, 14.1–16; 18–3
4. वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, 3.97
5. श्री.बो.स.च., 14.37

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में भगण, मगण, नगण, दो तगण तथा दो गुरु होने से मन्दाक्रान्ता छन्द है। चतुर्थ तथा छठे अक्षर पर विराम भी है। इस महाकाव्य में इसके अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं।[1]

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने विषयानुसार ही छन्दोमयी योजना अपनाकर इस महाकाव्य में संगीत, लय तथा ध्वनि-प्रवाह की एक अनुपम सृष्टि की है। काव्य में छन्दोयोजना की यह भी एक विशेषता है कि जहाँ पर भी किसी विचार या भाव की समाप्ति होती है, कवि वहाँ पर नवीन छन्द अपना लेता है।[2] कवि ने काव्य का प्रारम्भ इन्द्रवज्रा छन्द से कर स्वागता छन्द से समाप्ति की है। काव्य में कुल 14 छन्दों का प्रयोग हुआ है।

1. श्री.बो.स.च., 4.110; 111, 12.89-90, 13.99; 100, 14.99 इत्यादि
2. वही, 14.38

7
चरित्र-चित्रण तथा प्रकृति वर्णन

I चरित्र निपुणता

किसी भी काव्य के लिए कथानक बहुत आवश्यक है अथवा यह समझना चाहिए कि कथानक के बिना काव्य की सत्ता नहीं है और किसी भी काव्य या नाटक का कथानक उस काव्य के पात्रों पर आधारित हुआ करता है जिस प्रकार शरीर की स्थिति अवयत्रों पर आधारित रहती है या यह समझना चाहिए कि अवयवों का मीलित रूप ही शरीर का स्वरूप है। इसी प्रकार काव्य का कथानक भी पात्रों पर ही आधारित हुआ करता है। इसके विषय में यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार किसी भी फूल के चारों ओर भ्रमर घूमा करते हैं, इसी प्रकार कथानक के चारों ओर पात्र घूमा करते हैं।

किसी भी काव्य में पात्र ही कवि की भावना या प्रयोजन को सामाजिकों तक पहुँचाने के माध्यम हुआ करते हैं। अतः कवि कथावस्तु के अनुरूप ही पात्रों की सृष्टि करता है। उन्हीं पात्रों के द्वारा कवि जटिल से जटिल समस्याओं तथा घटनाओं को सजीव बनाते हुए पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। किसी भी कवि द्वारा स्वीकृत पात्रों की काव्यानुरूपता, स्वाभाविकता, जीवन्तता, भावात्मकता, कलात्मकवैशिष्ट्य तथा बौद्धिक एवं मानसिक अन्तर्द्वन्दता काव्य को रमणीयता के साथ-साथ सामाजिकता एवम् उत्कृष्टता प्रदान करती है।

अतः कोई भी कवि अपने काव्य में सुनोयिजित पात्रों का ही प्रयोग करता है क्योंकि उनके चित्राङ्कन करने में सरलता प्रतीत होती है और वह अपने काव्य में स्वीकृत पात्रों के चरित्र-चित्रण में तभी सफलता प्राप्त करता है जब वह उनके चरित्राङ्कन में उनके जीवन के भावों तथा व्यावहारिक दृश्यों में समुचित समन्वय पाठकों के सामने प्रस्तुत करे। कवि यह भी ध्यान रखते हैं कि आचार्यों ने पात्रों के स्वरूप के विषय में किन-किन तथ्यों की ओर ध्यान देने के लिए कहा है। आचार्यों का कथन है कि कवि पात्रों के चरित्र-चित्रण के विषय में इतिवृत्तात्मक एवं लोकप्रख्यात

चरित्रों को ही एक परिसीमा के मध्य प्रस्तुत करे।[1] पात्रों के चरित्र-चित्रण में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है औचित्य का निर्वाह। आचार्यों ने औचित्य को काव्य का प्राण तक माना है।[2] उसके अभाव में पात्रों का चरित्र एक दम नीरस प्रतीत होता है। उन्होंने अनौचित्य को काव्य के विनाश का कारण माना है।[3] कवि के समक्ष सबसे बड़ी समस्या तब उपस्थित होती है जब उसके काव्य में पात्रों की अधिक संख्या हो। ऐसी स्थिति में कवि सभी पात्रों के चरित्र को उत्कृष्ट बनाने का प्रयास करता है। फलतः कवि किसी भी पात्र के विषय में यह किस कोटि का पात्र है तथा किन-किन विचारों से अनुप्राणित है, संसार या जीवन के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण है, वह दिव्य है, अदिव्य है या दिव्याऽदिव्य है, उत्तम, मध्यम या अधम है तथा विशेष या जन-सामान्य है इनमें से कौन सा है, इन सभी वस्तुओं का उसको पूर्ण ध्यान रखना पड़ता हैं।[4] इस प्रकार कवि का उत्तरदायित्व बनता है कि वह पात्रों के चरित्र-चित्रण पर पूर्णतः बल दे जिससे कथानक आकर्षक बनता जाये। साथ ही जिस कोटि का पात्र है, उसके चरित्र पर पूर्णतः ध्यान देते हुए उसके चरित्र को पाठकों के समक्ष जीवन्त रूप से उपस्थित करे।[5] जहाँ तक श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का प्रश्न है, इसका मुख्य उद्देश्य भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में पारमिताओं का पालन करने वाले भगवान् बुद्ध के चरित्र की अनेक विशेषताओं को अनेक दृष्टियों से उजागर करना है। फलतः कवि ने ऐसे ही पात्रों को चुना जो उनके जीवन-चरित्र को तदनुरूपता से आगे बढ़ाने में सहायक हों। उसके लिए उन्होंने इसमें समाज के हर वर्ग के पात्रों को लिया है। इस काव्य में जहाँ एक ओर बोधिसत्त्व,[6] शिक्षक[7], बौद्ध-भिक्षु[8] को लिया गया है, वहीं दूसरी ओर कृषक,[9] व्यापारी,[10] यक्ष,[11] गीदड़,[12] किन्नर[13] जैसे पात्रों को भी स्थान

1. सा.द., 6.316
2. प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा, -ध्व., 3.14 वृत्तिः पृ. 190
3. सन्त्यपि काव्यतत्त्वानि मृतानीवौचितीं विना अपि रसात्मके काव्ये औचित्यं तस्य जीवितम्,- अभिनवकाव्यशास्त्रम्, डॉ० शंकरदेव अवतरे, षष्ठ आयाम, औचित्य सम्प्रदाय, पृ. 419
4. ध्व., 3.14 वृत्तिः, पृ. 189
5. वही, पृ. 193-194
6. श्री.बो.स.च., 1.5
7. वही, 14.2
8. वही, 6.2
9. वही, .2.5
10. वही,1.1
11. वही, 4.40-41
12. वही, 4.21-33
13. वही, 10.21

दिया गया है। स्त्री-पात्रों में एक ओर संघ सेठ की भोली-भाली धर्मपत्नी है[1] दूसरी ओर उन्मदन्ती तथा कृषक की पत्नी[2] तथा पुत्र वधू है। पंचम सर्ग में भी स्त्री पात्र हैं।[3] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री द्वारा स्वीकृत पात्रों के चरित्र की विशेषता है कि वे पहले साधारण व्यक्ति के रूप में दिखाई देते हैं और अन्त में उत्कर्षता दिखाते हुए आसाधारण-व्यक्तित्व की छाप छोड़ते हैं।[4] साधारण रूप में देखा गया है कि श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में पात्र पहले प्राकृत, साधारण रूप, में दिखाई देता है[5] किन्तु शनैः-शनैः उसके चरित्र का विकास मानसिक अन्तर्द्वन्द्व में झूलता हुआ उदात्त रूप सम्पन्न दिखाई देता है।[6] यद्यपि इस प्रकार के पात्रों की इस महाकाव्य में बहुलता है किन्तु अरिष्टपुर नरेश के चरित्र में वह मानसिक अन्तर्-द्वन्द्व चरम सीमा में दिखाई देता है।[7] इसी प्रकार पापक नामक शिष्य के मन में भी अपने पापक नाम को लेकर उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व इतना बढ़ जाता है कि वह अपने नाम को पाप का बोधक समझ कर अच्छे नाम की अन्वेषण में निकल पड़ता है।[8] इसी प्रकार बौद्ध-भिक्षु के मन में उठता हुआ द्वन्द्वात्मक-तूफान उसको रास्ते से भटका देता है।[9] प्रथम दृष्ट्या उसकी मानसिक स्थिति की कमजोरी सामने आती है पर बाद में उदात्त चरित उभर कर सबके सामने आता है।[10] किन्नर-मिथुन का उदात्त प्रेम केवल भल्लाटिय दम्पती के लिए ही शिक्षाप्रद नहीं, अपितु संसार में रहने वाले प्रत्येक दम्पती के लिए भी आनन्दानुभूतिदायक मार्ग का एक संकेतात्मक रूप है।[11] इस प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह एक विशेष स्थान रखता है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में गृहीत पात्रों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से दिया जा रहा है।

---

1. श्री.बो.स.च., 13.52
2. वही, 12.54
3. वही, 12.64
4. वही, 5.7
5. वही, 8.48
6. वही, 9.45
7. वही, 9.55
8. वही, 6.4;34
9. वही, 6.7-8; 34
10. वही, 6.36
11. वही, 11.20

(क) पुरुष पात्र चरित्र-चित्रण

(1) बोधिसत्त्व—बोधिसत्त्व इस महाकाव्य का नायक है। उसी के नाम पर महाकाव्य का नाम भी है। बोधिसत्त्व का चरित्र आदि से अन्त तक एक ही इतिवृत्त के रूप में वर्णित नहीं। इस महाकाव्य के विभिन्न सर्गों में वर्णित विभिन्न पात्रों के जीवन-वृत्त को एक रूप में बांधने वाली बोधिसत्त्व की ही आत्मा है।[1] वही विभिन्न जन्मों में पृथक्-पृथक् शरीरों से सम्बन्धित होने पर भी आत्मिक रूप से एक है। अतः उसी आधार पर यहाँ विभिन्न जन्म में भिन्न-भिन्न नाम से अवतरित बोधिसत्त्व के चरित्र की कुछ एक विशेषताएं वर्णित की जा रही हैं।

क्षमावान्—राजा शीलवान् के रूप में अवतरित बोधिसत्त्व क्षमाशील स्वभाव के हैं। अन्तःपुर में दुराचरण करने वाले मन्त्री को वे पर्याप्त धन देकर निकालते हैं पर कारावास इत्यादि का दण्ड नहीं देते।[2] निकाले गए मन्त्री के बहकाने पर कोशलेश के नौकरों द्वारा उनके राज्य में उपद्रव मचाये जाने पर भी वे उसे दण्डित न कर क्षमा करते हैं और धन देकर विदा करते हैं।[3] कोशलेश द्वारा राजपाट छीनने पर तथा मन्त्रियों सहित श्मशान घाट में रेत में दबाने पर भी वे कोशलेश पर क्रुद्ध न होकर उसके साथ भी शीलता का परिचय देते हैं।[4] यक्षों की सहायता से रात्रि में उसके घर पहुँचकर, उसे क्षमा कर देते है।[5]

अहिंसक—समर्थशाली होने पर भी[6] काशीपति शीलवान् कोशलेश की सेना का हिंसा के भय से प्रतिरोध नहीं करते।[7] उनका कहना है कि-

हिंसैव वर्धते बह्वी हिंसकं प्रति हिंसया।[8]

वे युद्ध को देश के लिए एक बड़ी विभीषिका समझते हुए अपने समस्त राज्य और मन्त्रियों तथा स्वयम् अपने को कोशलेश के अधीन कर देते हैं।[9]

---

1. श्रीबोधिसत्त्वचरितम् एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० धर्मेन्द्रकुमार, पृ. xviii
2. श्री.बो.स.च., 3.17
3. वही, 3.59
4. वही, 4.15
5. वही, 4.90
6. वही, 3.69
7. वही, 3.78
8. वही, 3.80
9. वही, 4.4

मैत्रीभाव–संघसेठ के रूप में बोधिसत्त्व एक सच्चे मित्र के रूप में अवतरित होते हैं। अपने मित्र पीलिय सेठ के निर्धन होने पर वे चालीस करोड़ मुद्रा तथा अपनी सम्पत्ति का आधा भाग उसे दे देते हैं।[1] स्वयं विपत्ति के समय पीलिय के पास जाने पर पीलिय उनको एक मुट्ठी भूसा देता है। तब भी वे उसे मैत्रीभाव का माहात्म्य समझ कर बड़े आदर सहित स्वीकार करते हैं।[2] पीलिय के व्यवहार से कष्ट का अनुभव करने वाली अपनी पत्नी को भी मित्रता का रहस्य समझाते हैं।[3]

निष्कपट-व्यवहार–बोधिसत्त्व हमारे सामने सत्यवादी,[4] शान्तिपूर्वक कार्य करने वाले,[5] दुर्जन से भी सज्जनता का व्यवहार करने वाले नजर आते हैं।

सरलता–बोधिसत्त्व व्यापारी के रूप में सरल हृदय हैं। दूसरे व्यपारी के कहने पर वह एक दम पीछे हट जाते हैं और उसे पहले जाने देते हैं।[6] संघ सेठ के रूप में विद्यमान बोधिसत्त्व अचानक निर्धन हो जाते हैं। बड़े सहृदय भाव से वे पीलिय के पास सहायतार्थ जाते हैं।[7] पीलिय द्वारा सहायतार्थ दी गई एक मुट्ठी भूसा भी सरल भाव से ग्रहण कर लेते हैं।[8]

धार्मिक–जब बोधिसत्त्व अवतरित हुए, वे बड़े धार्मिक थे उन्होंने अनेक धर्मशालाओं का निर्माण कराया तथा अनेक शिक्षा संस्थाऐं खोलीं।[9]

शासक–राजा के रूप में बोधिसत्त्व एक अच्छे शासक हैं।[10] उनके शासन काल में किसी प्रकार का उपद्रव, विवाद, शठता और दुष्टता नहीं होती है।[11] शीलवान् के रूप में वे बड़े धार्मिक, सत्यनिष्ठ, प्रजाहितैषी तथा सभी को अभय देने वाले हैं।[12]

---

1. श्री.बो.स.च., 13.21–22
2. वही, 13.49
3. वही, 13.56
4. सत्यमेव जयतीह नानृतं, हिंसयापि न फलत्यभीप्सितम्।
   इत्यहिंसनपरोऽमृशोद्यवाक्, काश्यधीश्वरवरः प्रसीदति।। –वही., 2.57
5. शान्तिपूर्वकमयं प्रयस्यति, क्रोधमेष सुतरां निरस्यति।
   साधुवद् व्यवहरन्नसाधुनाप्युद्धतं प्रति सदैव शाम्यति।। –वही, 2.58
6. वही, 1.24
7. वही, 13.36
8. वही, 13.50
9. वही, 2.18
10. वही, 2.8
11. वही, 2.13–14
12. वही, 3.48–50

प्रजा ही नहीं यक्ष जैसी जाति भी उनको बड़ा न्याय प्रिय मानती है।[1] काशीनरेश के रूप में अपराधियों के द्वारा उनके समक्ष सुन्दर युक्ति देने पर उनके साथ उचित न्याय करते हैं।[2]

वीत-राग—कृषक के रूप में अवतरित बोधिसत्त्व का चरित्र अतिमानवीय है, वे वीतराग हैं। अपने कुटुम्बी-जन को संसार की अनित्यता का उपदेश देते रहते हैं।[3] इकलौते पुत्र की मृत्यु पर उन्हें कोई शोक नहीं,[4] वह इन्द्र को भी संसार की अनित्यता बताकर सन्तुष्ट कर देते हैं।[5]

शिक्षक—शिक्षक के रूप में बोधिसत्त्व एक अशान्त मन वाले भिक्षु को उपदेश देकर अच्छे रास्ते पर लगाते हैं।[6] पापक को अपने नाम से घृणा होने पर उसे सुकर्म का उपदेश देते हैं।[7]

त्यागी—मित्र पीलिय का व्यापार में सब कुछ नष्ट होने पर वे बिना समय गवायें, उसे अपनी सम्पत्ति का आधा भाग तथा 40 करोड़ मुद्रा तक दे देते हैं।[8] बाद में राजा पीलिय की सारी सम्पत्ति संघ रूपी बोधिसत्त्व को देना चाहता है पर वे अधिक नहीं लेते।[9]

इस प्रकार बोधिसत्त्व सभी सर्गों में विभिन्न रूपों में अवतरित शिक्षक, राजा, आचार्य, आदि के रूप में वर्णित हैं। इन सभी रूपों के माध्यम से वे बौद्ध-धर्म के कतिपय आदर्शमय नैतिक धर्मों को उपस्थित कर उसकी व्याख्या करते हैं।

(2) श्रीकुमार—श्रीकुमार अरिष्टपुर के राजा शिवि के पुत्र हैं। कार्तिकेय के समान पराक्रमी होने से इनका नाम कुमार रखा गया।[10] पिता की मृत्यु के पश्चात् वे राजसिंहासन पर अधिष्ठित होते है। परम्परागत सेनापति का पुत्र अहिपारक इनका

1. श्री.बो.स.च., 4.43
2. वही, 5.24–26
3. वही, 12.13
4. वही, 12.21
5. वही, 12.84
6. वही, 6.32
7. वही, 14.7; 10.11
8. वही, 13.22
9. वही, 13.96
10. वही, 7.2

मित्र है। वह इन्हीं की सेना का सेनापति बनाया जाता है। सुन्दर एवं सुशील राजा होने के कारण समय आने पर अरिष्टपुर का सेठ तिरीटवत्स राजा कुमार से अपनी पुत्री उन्मदन्ती का विवाह करना चाहता है।[1] राजा कुलमर्यादानुसार ब्राह्मणों को कन्या के लक्षण जानने के लिए भेजता है[2] किन्तु ब्राह्मण उन्मदन्ती के सौन्दर्य से मुग्ध होने तथा अनुचित आचरण के कारण कन्या द्वारा अपमानित किए जाने पर ईर्ष्या वश राजा से उसकी बुराई कर देते हैं।[3] राजा द्वारा अस्वीकृत किए जाने पर उसका विवाह राजा के सेनापति अहिपारक से कर दिया जाता है।[4]

राजा कुमार धार्मिक प्रवृत्ति का है। शहर में होने वाले उत्सव में सम्मिलित होना अपना कर्त्तव्य समझ वह शोभा देखने निकल पड़ता है। सहसा सौन्दर्य की पुत्तलिका उन्मदन्ती को देखकर उसका मन उन्मत्त हो जाता है।[5] उसकी मति भ्रष्ट हो जाती है। साधारण व्यक्ति की तरह विरह से व्याकुल रात-दिन उन्मदन्ती के विषय में कल्पना करता हुआ वह मानसिक द्वन्द्व में समय यापन करता है।[6] अहिपारक को इसका ज्ञान होता है किन्तु राजा से वह स्पष्ट कुछ नहीं कहता।

राजा श्रीकुमार यक्ष देवता पर विश्वास करने वाला है। सेनापति उसकी कमजोरी जानकर मुझे, आप उन्मदन्ती के कारण व्याकुल हैं, यह वृत्तान्त यक्ष द्वारा प्राप्त हुआ, ऐसा बहाना बनाता है।[7] राजा धार्मिक एवं मर्यादित होने के कारण मेरी बात का वनस्पति देवता को भान हो गया जान लज्जित होता है।[8] अहिपारक अपनी पत्नी को राजा को समर्पित करना चाहता है।[9] राजा कुमार के मन में एक समुद्र के समान तूफान उमड़ता है। उसकी मनोवृत्ति द्वन्द्वात्मक है। वह मनोमयी वृत्ति पर काबू करता है। राजा सच्चे मन द्वारा समर्पित किए जाने पर भी अहिपारक की पत्नी को स्वीकार नहीं करता।[10] वह एक धार्मिक भावना से भावित होता है। अतः सोचता है मैं राजा

1. श्री.बो.स.च., 7.17
2. वही, 7.19
3. वही, 7.29
4. वही, 7.35
5. वही, 8.45
6. वही, 7.76
7. वही, 8.103
8. वही, 8.107
9. वही, 9.2
10. वही, 9.9-11

हूँ, प्रजा का पालक हूँ, प्रजा का पिता हूँ, मैं यह सब कुछ कैसे करुँ? इस प्रकार की भावना जागने से उसकी मोहमयी निद्रा नष्ट होती है।[1] उसको पश्चात्ताप होता है। वह राज धर्म को समझता है।[2] राजा को सभी के साथ समान व्यवहार तथा अपनी प्रजा एवं प्राणियों के साथ धर्मपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।[3] राजा राज धर्म का उपदेश भी करता है।[4] बाद में आग में तपाये हुए स्वर्ण के समान निर्दोष हो वह यश से उज्ज्वल हो जाता है।

(3) अहिपारक—अहिपारक अरिष्टपुर के राजा शिवि के सेनापति का पुत्र है।[5] वह राजा शिवि के पुत्र कुमार के साथ ही पढ़ने तथा रहने के कारण उसका अभिन्न मित्र भी है।[6] समय आने पर जब कुमार राजगद्दी पर बैठा तब अहिपारक अपने पिता के स्थान पर सेनापति बन जाता है।[7] उसी नगर में तिरीटवत्स नामक धनी रहता है। उसकी अप्सरा के समान सुन्दर, सभी को मुग्ध करने वाली, स्वर्ण के समान निर्मल अत्यन्त रूपवती कुलीन कन्या है, जिसका नाम उन्मदन्ती है। सेठ तिरीटवत्स उन्मदन्ती का विवाह समय आने पर सेनापति अहिपारक से कर देता है।[8] दोनों ही बड़े सुख के साथ दिन व्यतीत करते हैं। समय आने पर एक दिन राजा (कुमार) कार्तिक पूर्णिमा के उत्सव पर नगर की शोभा देखते-देखते[9] सेनापति के घर पहुँच कर छत पर सुशोभित उन्मदन्ती को देखकर उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है।[10] राजा उन्मदन्ती के वियोग में व्याकुल हो अन्यमनस्क हो जाता है। अहिपारक राजा के दुःख से महान् दुःखी होता है[11] क्योंकि वह राजा का मित्र भी है और सेवक भी। अहिपारक अत्यधिक स्वामी-भक्त है। इसी कारण जब उसको पता चलता है कि राजा मेरी पत्नी पर मुग्ध होने के कारण दुःखी है, तब वह राजा के दुःख को दूर करने के लिए

1. श्री.बो.स.च., 9.45
2. वही, 9.44
3. वही, 9.41
4. वही, 9.35
5. वही, 7.3
6. वही, 7.4
7. वही, 7.7
8. वही, 7.35
9. वही, 8.40
10. वही, 8.45
11. वही, 8.85

अपनी पत्नी को उसको सौंपने का उपाय सोचता है। राजा से स्पष्ट बात न कर वृक्ष पर स्थित यक्ष-देवता का बहाना बनाता है।[1] वह इस सारी घटना को राजा की प्रसन्नता के लिए प्रजा तथा राजदरबारी लोगों से भी गुप्त रखने के लिए राजा को विश्वास दिलाता है।[2] वह राजा के सुख में ही अपना सुख समझता हुआ अपनी प्रिय से प्रिय प्राण समान उन्मदन्ती को राजा के सुख के लिए समर्पित करना चाहता है।[3]

यद्यपि अहिपारक का यह रास्ता अच्छा नहीं है, क्योंकि इस प्रकार राजा को धर्मपत्नी प्रदान कर केवल उसे कुमार्ग पर ले जाना है, किन्तु सच्चे सेवक तथा भक्त के नाते इस प्रकार के कृत्य से राजा को लगने वाले पाप का भागी भी स्वयं बनने में तैय्यार होता है।[4] अहिपारक स्वामी भक्ति दिखाता हुआ भक्ति भावना से ओत: प्रोत राजा को अपनी धर्मपत्नी धर्म पूर्वक देना चाहता है। वह राजा को यहाँ तक कहता है कि इसको समर्पित करने में मुझे अग्रिम जन्म में प्रिय वस्तु की प्राप्ति होगी।[5] वह सेनापति के नाते राजधर्म से भी परिचित है। वह मान तथा मर्यादा को केवल समझता ही नहीं अपितु उसका पालन करने वाला है।[6] यही कारण है कि वह भविष्य के विषय में जानकार होने से इस घटना के घटने से ही पहले उन्मदन्ती को राजा के समक्ष न आने की सलाह देता है।[7] समस्त सेना का नायक होने से उसमें दूरदर्शिता पूर्ण रूप से विद्यमान है पर घटना घटने के बाद ही वह ऐसा कदम उठाता है। उसके मन में भावना है कि राजा की यह कमजोरी प्रजा तक नं पहुँचे। वह राजा की प्रवृत्ति को बदलने का प्रयास करता है। वह चाहता है कि हमारा राजा धर्म की मर्यादा का पालन करता हुआ लक्ष्मी, सुख तथा सुख साधनों से युक्त हो।[8] वह राजा को उपदेश भी देता है।[9]

इस प्रकार अहिपारक एक सच्चा सेनापति, देशभक्त, स्वामीभक्त तथा उपदेशक के रूप में दिखाई देता है। इसका त्याग विलक्षण है। राजा उन्मदन्ती के लिए व्याकुल

---

1. श्री.बो.स.च., 8.90
2. वही, 9.3
3. वही, 9.8
4. वही, 9.20
5. वही, 8.16
6. वही, 9.36
7. वही, 8.36
8. वही, 9.50-53
9. वही, 9.49

है, जबकि अहिपारक अपनी प्राणवल्लभा उन्मदन्ती को राजा के सुख और शान्ति के लिए समर्पित करने को तैयार है। इसका प्रभाव राजा पर होता है और राजा की चित्तवृत्ति स्थिर हो जाती है।[1]

(4) संघ (सेठ)—संघ राजगेह नगर के सर्वश्रेष्ठ धनपतियों में से है। अस्सी करोड़ मुद्राओं का स्वामी होने पर भी वह विनयी, लोकोपकारी, विवेकी तथा उदारचेता हैं।[2] संघ एक सच्चे मित्र के रूप में अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला है। जब उनका परम मित्र अस्सी करोड़ का स्वामी पीलिय विपत्ति में पड़ता है तब वह सहायता के लिए संघ के पास जाता है। संघ उसका बड़ा आदर करता है।[3] मित्र को प्राप्त कर बहुत ही प्रसन्न तथा पुलकित होता है। पत्नी सहित उसे अतिमित्र समझ कर सभी प्रकार से आत्मीय भाव दिखाते हुए अपने को मित्र के आने से अपने को कृतकृत्य समझता है और मित्र के धन नष्ट होने से उसको विपत्ति में पड़ा देख अपने धन का आधा भाग चालीस करोड़ मुद्राएं तथा अन्य सम्पत्ति भी उन्मुक्त हस्त से उसे दे देता है।[4] केवल धन ही नहीं वह अपने सेवकों तक को भी मैत्री भाव की महत्ता समझाकर पीलिय को उपहार रूप में दे देता है।[5]

संघ एक सरल हृदय व्यक्ति है। विपत्ति में वह भी अपने मित्रों का स्मरण करता है।[6] पीलिय को अपना सच्चा मित्र समझकर पत्नी सहित उसके पास जाने का विचार करता है।[7] उसके मन में निश्चित है कि जैसे मैंने उसकी विपत्ति में सहायता की है, वह भी मेरी सहायता करेगा। उसके मत में कोई भी मित्र किए हुए उपकार को नहीं भूलता[8] किन्तु पीलिय के यहाँ जाने पर यद्यपि उसका किसी प्रकार से सत्कार नहीं होता न पीलिय उसके आने पर प्रसन्न ही होता है।[9] इतना ही नहीं पीलिय उसके मन्तव्य जानने के बाद, उसे अपने नौकर के द्वारा भी केवल मात्र एक तुम्बी भूसा दिलाता है।[10] संघ एक सच्चा मित्र है। मित्रता की रक्षा के लिए वह एक तुम्बी भूसा

---

1. श्री.बो.स.च., 9.55
2. वही, 13.2.3
3. वही, 13.19
4. वही, 13.21
5. वही, 13.24
6. वही, 13.28
7. वही, 13.33
8. वही, 13.29
9. वही, 13.37
10. वही, 13.40

भी स्वीकार कर लेता है।[1] वह अपनी धर्मपत्नी के दुःखी होने पर सान्त्वना प्रदान करता हुआ कहता है कि धन इत्यादि तो मिल जाते हैं पर सच्चा मित्र मुश्किल से मिलता है। वह कहता है कि मैंने सन्मित्रता की रक्षा के लिए यह तुम्बी मात्र भूसा ग्रहण किया है।[2] संघ एक सच्चा स्वामी है। यही कारण है कि पीलिय के घर उपहार में भेजे गए सेवकों को पता चलने पर कि पीलिय ने हमारे पहले स्वामी का अपमान किया है वे भी संघ के अपमान से दुःखी होते हैं। उसे राजदरबार में ले जाते हैं।[3] संघ त्यागी एवं कुलीन है। धर्म की मर्यादा जानता है। यही कारण है कि राजा पीलिय की सारी सम्पत्ति पर अधिकार करके संघ को दिए जाने का आदेश देता है। संघ केवल मात्र अपने चालीस करोड़ रुपया ही उससे लेता है अधिक नहीं।[4] इस प्रकार संघरूप में विद्यमान बोधिसत्त्व का चरित्र यही शिक्षा देता है कि मित्र वही है जो मित्रता की संधि मे बंधा रहे।[5]

(5) भल्लाटिय—भल्लाटिय वाराणसी के राजा हैं।[6] नीतिकुशल तथा धार्मिक हैं।[7] यदा-कदा मन्त्रियों पर राज्य का भार सौंपकर शिकार करने जाते हैं।[8] वे शिकार के लिए शिकारी कुत्तों को भी साथ ले जाया करते हैं। एक बार अपनी प्रकृति के कारण मन्त्रियों को राज्य का भार सौंपकर जंगल में वे शिकार करने जाते हैं। वहाँ गन्धमादन पर्वत के सौन्दर्य को देखते-देखते हेमन्वती नदी के किनारे पहुँच जाते हैं।[9] वहाँ अचानक कभी हंसते और कभी रोते हुए किन्नर-मिथुन को वे देखते हैं।[10] राजा को इसका कारण जानने की इच्छा होती है। पूछने पर पता चलता है कि इन्हें कोई कष्ट नहीं,[11] वे बड़े प्रेम से रहते हैं और सुखी हैं। यह रोना और हंसना उनके जीवन में आई एक दिन की विरहावस्था की स्मृति है।[12] इसी प्रकार प्रेम-पूर्वक रहते उन्हें 700 वर्ष

1. श्री.बो.स.च., 13.48
2. वही, 13.56
3. वही, 13.75
4. वही, 13.95
5. वही, 13.104
6. वही, 10.7
7. वही, 11.12
8. वही, 10.8
9. वही, 10.9
10. वही, 10.17
11. वही, 10.26
12. वही, 10.41

व्यतीत हो गए हैं। राजा भल्लाटिय उनके इस प्रकार की आनन्दमयी जीवनशैली से प्रेरणा लेते हैं तथा अपने जीवन को धिक्कारते हैं कि मेरा क्या जीवन है? मैं इस प्रकार जिह्वा के स्वाद से लोलुप हुआ शिकार के लालच से जंगल में भटक रहा हूँ। उसी समय से अहिंसा का व्रत धारण कर वे अपने राज्य को लौट जाते हैं। मन्त्रियों से मिलकर धर्म का पालन करते हुए वे राज्य करते हैं।[1] वस्तुतः राजा भल्लाटिय उससे पहले जन्म में बोधिसत्त्व हैं।[2] दूसरे जन्म में वे भल्लाटिय नाम से प्रसिद्ध होते है और एक बड़े भूभाग के राजा बनते हैं। तृतीय जन्म में बोधिसत्त्व के रूप में अवतरित हो वे कोशलराज तथा इनकी पत्नी को जिनका किसी कारण से शयन के विषय में मनमुटव हो गया है, उन्हें प्रेमपूर्वक जीवन बिताने का उपदेश करते हुए यह कथा सुनाते हैं।[3]

(6) पीलिय—पीलिय श्रीपुरी वाराणसी का रहने वाला है। वह अस्सी करोड़ का मालिक हैं।[4] उसी नगर में संघ नामक सेठ भी रहता है। दोनों समान सम्पत्ति वाले होने पर भी परस्पर मैत्रीभाव से रहते हैं[5] किन्तु पीलिय कृतघ्न, कृपण एवं नीच है।[6] अपने पर विपत्ति आने पर वह संघ से चालीस करोड़ मुद्रा ले आता है[7] किन्तु संघ पर विपत्ति आने पर वह उसकी किसी प्रकार भी सहायता नहीं करता। करोड़ों की सम्पत्ति होने पर भी उसे केवल एक तुम्बी मात्र भूसा नौकरों के हाथ से दिलवाता है।[8] मित्रभाव निभाना तो दूर रहा वह क्रूर स्वभाव वाला उसका निरादर करता है।[9] संघ रूप में विद्यमान बोधिसत्त्व तथा पीलिय के चरित्रों में यह एक महद् अन्तर है। एक कृतज्ञ है, दूसरा कृतघ्न। एक मैत्रीभाव युक्त है दूसरा इससे शून्य। एक भारतीय संस्कृति का पुजारी है और अतिथि को देवस्वरूप समझता है, दूसरा उससे कोसों दूर होने से उसे जल तक नहीं पिलाता। इस प्रकार काव्य में कवि ने कृतघ्नता की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति की है।[10]

---

1. श्री.बो.स.च., 11.19
2. वही, 11.13
3. वही, 10.6
4. वही, 13.4
5. वही, 13.3
6. वही, 13.44
7. वही, 13.21
8. वही, 13.40
9. वही, 13.42
10. वही, 13.47

(7) पापक–यह भगवान् बुद्ध (बोधिसत्त्व) का शिष्य है[1] जिसका नाम पापक है। वह बड़ा श्रद्धालु तथा सच्चरित्र है।[2] तक्षशिला में लगभग 500 विद्यार्थियों के साथ रहता है।[3] वह अपने पापक नाम से छुटकारा पाना चाहता है क्योंकि इसकी वजह से वह प्रतिपल आशंकित रहता है कि यह नाम पाप का बोधक है। अतः वह गुण को बताने वाला नाम रखना चाहता है।[4] उसके मन में यह बड़ा अन्तर्द्वन्द्व है। गुरु के समझाने पर भी वह मन को शान्त नहीं करता और नए नाम को ढूँढने निकल पड़ता है।[5] जाते हुए रास्ते में मृत व्यक्ति को देखता है। पता करने पर उसका नाम जीवक मालूम होता है। यह कैसा आश्चर्य है कि जीवक (जीवित रहने वाला) मर भी सकता है। उसे समझाया जाता है कि दुनिया ऐसी ही है। चाहे नाम कुछ हो मृत्यु अवश्यंभावी है।[6] मन में अन्तर्द्वन्द्व और बढ़ता है। सोचता है चलो और देख लें। आगे बढ़ने पर एक स्त्री को पिटते देखता है। वह दासी होती है। यह कौन हो सकती है जिज्ञासा उत्पन्न होती है। पता चलता है वह धनपालिका है। धनपालिका (धन की स्वामिनी)। यह भी आश्चर्य है कि नाम के अनुसार जिसे धन की स्वामिनी होना चाहिए था वह दासी है।[7] यह समझ से परे है, दुनियाँ ऐसी ही है। मन में अनेक विचार लिए आगे बढ़ने पर पथिक मिल जाता है, रास्ता भूल गया है। नाम है 'पन्थक'। यह क्या विचित्र स्थिति है पन्थक सभी को रास्ता बताने वाला स्वयं रास्ता भूल गया। यह सब विडम्बना है।[8] यह सब कुछ अनुभव कर उसका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। वह विचार करता है कि कर्म ही प्रधान है नाम नहीं। नाममात्र से यश प्राप्त नहीं होता। गुणों से व्यक्ति बड़ा होता है। वह आश्रम में लौट जाता है।[9] वह गुरु से कहता है कर्म प्रधान है न कि नाम। नाम चाहे कुछ भी हो पुण्य कर्म से व्यक्ति सभी कुछ प्राप्त कर सकता है। पापक अन्त में गुरु के उपदेश को उचित ठहराता हुआ, नाम को असार तथा महत्त्वहीन मानता है।[10]

---

1. श्री.बो.स.च., 14.1
2. वही, 14.12
3. वही, 14.2
4. वही, 14.4
5. वही, 14.9
6. वही, 14.18
7. वही, 14.25
8. वही, 14.28
9. वही,14.30
10. वही, 14.33

(8) इन्द्र—इन्द्र एक दिव्य पात्र है। यह बारहवें सर्ग में एक कृषक के खेत में उस समय आता है जब कृषक अपने परिवार के सहित अपने इकलौते बेटे को बिना किसी प्रकार शोक प्रकट करते हुए जला रहे होते हैं। वे न रोते हैं न किसी प्रकार का दु:ख प्रकट करते हैं।[1] संसार की क्षणभंगुरता समझकर नित्यकर्म के समान उसे भी एक कर्म समझ दाह संस्कार करने लगते हैं[2] पर इस प्रकार के कठोर, हृदयदाही कर्म को करते हुए विचलित न होना एक प्रकार से मानवीय मन पर अमानवीय संयम है। लोक में यह अलौकिक तथा अभूतपूर्व उदाहरण था। यह एक प्रकार से देवताओं के स्वामी इन्द्र को चुनौती थी। इस प्रकार की अद्भुत घटना को देख इन्द्र देवलोक से कृषक के खेत में आ जाता है।[3] कृषक के परिवार को शोक से अप्रभावित देखकर इन्द्र आश्चर्य के पारावार में डूब जाता है। इन्द्र को विश्वास नहीं होता ये लोग मृग को मार कर पका रहे हैं या इकलौते पुत्र का दाहसंस्कार कर रहे हैं।[4] वह मृतक के पिता से पूछता है[5] तथा माता के विचार जानना चाहता है।[6] पति को परमेश्वर समझने वाली पत्नी से पूछता है।[7] भाई को सर्वस्व समझने वाली बहिन से रहस्य जानना चाहता है[8] और तो और स्यात् दासी बता दे, उससे पूछता है।[9] सबका एक ही उत्तर है। मृत्यु शरीर का स्वाभाविक धर्म है।[10] इन्द्र को आश्चर्य होता है पर साथ ही उनके इस अद्भुत कार्य से प्रसन्न होकर वह आशीर्वाद भी देता है[11] और सामर्थ्य के अनुसार धनसम्पत्ति भी प्रदान कर चला जाता है।[12]

(ख) स्त्री पात्र चरित्र-चित्रण

(1) उन्मदन्ती—उन्मदन्ती अहिपारक की पत्नी है। यह एक पतिव्रता तथा

---

1. श्री.बो.स.च., 12.21
2. वही, 12.37
3. वही, 12.41
4. वही, 11.43
5. वही, 11.47
6. वही, 11.54
7. वही, 11.64–65
8. वही, 11.64
9. वही, 11.70
10. वही, 11.48,57, 62, 69
11. वही, 11.81
12. वही, 11.90

गृहस्थधर्म का पालन करने वाली है।[1] यह अपने रूप-सौन्दर्य से सभी को उन्मत्त करने वाली है।[2] उसका यह सौन्दर्य अपने परिश्रम तथा त्याग का फल है। पूर्वजन्म में यह किसी निर्धन कुल की कन्या होती है। उच्च कुल की स्त्रियों के समान सुन्दर आभूषण तथा लाल वस्त्र पहनने की यह बड़ी शौकीन होती है।[3] धन न होने से यह माता-पिता की आज्ञा से किसी सेठ के यहाँ नौकरी कर लेती है[4] और भाड़े में उनसे केवलमात्र लाल वस्त्र लेती है।[5] भाग्य की विडम्बना है लालवस्त्र ले कर ज्यों ही स्नान करने जाती है वहाँ वह किसी वल्कल वस्त्र धारण किए हुए भिक्षु को देखती है।[6] वह बड़ी दयालु तथा दानी है। बड़े परिश्रम से प्राप्त अपने प्राणों के समान प्रिय उस लाल-वस्त्र से काटकर पहले आधा वस्त्र[7] और पुनः सारा ही वस्त्र उसे देकर वह प्रसन्न हो जाती है[8] कि मैंने कभी कोई दान नहीं किया था आज मैंने कुछ किया है। भिक्षु से बदले में सम्पूर्ण संसार को उन्मत्त करने वाले सौन्दर्य को आशीर्वाद रूप में प्राप्त कर लेती है।[9]

दूसरे जन्म में वही सेठ तिरीटवत्स के यहाँ जन्म लेती है।[10] बड़े होने पर तिरीटवत्स उसके विवाह का प्रस्ताव अरिष्टपुर के राजकुमार के समक्ष रखता है राजा द्वारा परम्परानुसार ब्राह्मणों को तिरीटवत्स के यहाँ उन्मदन्ती के लक्षण परीक्षा के लिए भेजा जाता है।[11] ब्राह्मण उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं।[12] उन्मदन्ती उनका आचरण अच्छा न लगने पर उन्हें घर से निकाल देती है।[13] वह एक दृढ़ हृदय तथा अपने पर पूर्ण विश्वास करने वाली तथा उच्च विचार वाली कन्या है। ब्राह्मणों के बहकावे में आने पर राजा द्वारा भार्या रूप से स्वीकार न करने के

---

1. श्री.बो.स.च., 7.35-36
2. वही, 7.13,15
3. वही, 8.3
4. वही, 8.7
5. वही, 8.11
6. वही, 8.13
7. वही, 8.17
8. वही, 8.21
9. वही, 8.25-26
10. वही, 7.9
11. वही, 7.19
12. वही, 7.27
13. वही, 7.28

कारण वह बड़ी दु:खी होती है।[1] अपने अन्दर कोई त्रुटि न देखकर वह राजा से इस अपमान का बदला लेने की ठान लेती है।[2] जब राजा एक दिन उत्सव के अवसर पर घूमता हुआ अहिपारक के घर के पास से गुजर रहा होता है तो वह बदला लेने का मौका हाथ से नहीं जाने देना चाहती और राजा के ऊपर फूल बरसाने के बहाने छत पर चढ़ती है।[3] वे फूल नहीं मानों कामदेव के बाणों की वृष्टि थी। उसने अपना काम कर लिया और निश्चिन्त हो गई क्योंकि उसने राजा को पाना नहीं था अपितु यह दिखाना था कि तुमने दूसरों के कहने पर जो भूल की थी, तुम्हें यह उसकी सजा है। बस इसके बाद वह कभी भी राजा के सन्मुख नहीं आती। वह स्वामी भक्तिनी है। सत्यवादिनी है। अहिपारक के पूछने पर वह स्पष्ट बताती है कि हाँ, यहाँ कोई आया था।[4] उन्मदन्ती केवल सुन्दर ही नहीं अपितु प्रभावशालिनी भी थी।[5] चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कवि ने उन्मदन्ती के एक नहीं दो जन्मों के सभी पहलुओं को प्रस्तुत करते हुए नारी का एक उदात्त, उत्कृष्ट पक्ष तथा सच्चा रूप उपस्थित किया है।

(ग) अन्य पात्र चरित्र-चित्रण

(1) किन्नरमिथुन—किन्नर और किन्नरी दोनों ही चिरकाल से गन्धमादन पर्वत पर रहते हैं। वे कभी मनुष्य रूप धारण कर लेते हैं और कभी अपने स्वरूप में रहते हैं इसीलिए जंगली जानवर उनको ग्रामीण नर-नारी समझते हैं, जबकि शिकारी लोग उन्हें किन्नर ही समझते हैं।[6] वे दोनों स्वेच्छा से आनन्दपूर्वक जंगलों में, नदियों के किनारे, पर्वत की गुफाओं तथा पर्वतीय वनप्रदेशों में प्रेमपूर्वक विचरण करते हैं।[7] किन्नरी भारतीय नारी के समान पतिव्रता है। वह सभी प्रकार से अपने पति को प्रसन्न रखती है। उसके पति को जो चीजें अच्छी लगती हैं उन्हें उसके लिए एकत्रित करती रहती है।[8] वह जानती है कि मेरा पति किन्नर पुष्पमालाओं को धारण कर अत्यधिक प्रसन्न होता है। अत: वह उसके लिए कुरबक, पाटल, कुट, बन्धूक, साल, मौलसरि

---

1. श्री.बो.स.च., 7.32
2. वही, 7.34
3. वही, 8.44
4. वही, 8.81
5. वही, 8.80
6. वही, 10.21
7. वही, 10.25
8. वही, 10.34

वृक्षों के फूलों को एकत्रित कर नित्यप्रति सुन्दर मालाऐं बनाकर दिया करती हैं।[1] किन्नर-किन्नरी का परम प्रेममय जीवन बड़ा सुखी है।[2] वे परस्पर इतना प्रेम करते हैं कि एक दिन भी एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। एक बार अचानक बाढ़ आने से दोनों एक रात के लिए पृथक् हो जाते हैं। दोनों का यह वियोग दोनों के लिए असह्य हो ज़ाता है। नदी के दोनों किनारों पर बैठे एक दूसरे को वे देखते हैं कभी हंसते हैं और कभी रोते हैं।[3] एक दिन का विछोह ही उनके जीवन का कटु अनुभव बन जाता है। प्रातः मिलने के बाद भी वे उस रात की वियोग से उत्पन्न विह्वलता को नहीं भूल पाते।[4] उन्हें कोई कष्ट नहीं, सभी कुछ ठीक है। वे हंसते हैं, खेलते हैं किन्तु जिस क्षण भी उन्हें वियोग की रात्रि का स्मरण होता है उनका सारा सुख समाप्त हो जाता है। वह कष्ट से सिहर उठते हैं और रो पड़ते हैं। उनका यह हंसना और रोना सैंकड़ों वर्षों से है। उनको पता है कि हमारे 697 वर्ष तो इसी प्रकार बीत चुके हैं अभी 303 वर्ष शेष हैं पर वे संसार को बुरा नहीं समझते केवल संसार में वियोग को बुरा समझते हैं। वे इस संसार में सुख अधिक और दुःख कम समझते हैं।[5] वे अनुभव करते हैं कि वियोगी तथा विवश जनों की संसार में यही दशा होती है। उनका मन व्याकुल रहता है, इधर-उधर भटकता है पर उन्हें प्रसन्नता नहीं मिलती। वे उस क्षण को जीवन में पुनः नहीं आने देना चाहते इसीलिए बारी-बारी से रोते और हंसते हैं।[6] वे संसार में रहने के पक्षपाती हैं। संसार में वे प्रेम को ही सुखदायी मानते हैं। वे प्रेम बिना संसार को आग की उस जलती हुई भट्टी के समान मानते हैं जिसमें प्राणी तीव्रता से जलकर नष्ट हो जाते हैं।[7] जंगल में शिकार करने के लिए आए हुए राजा भल्लाटिय पर भी उनके प्रेम का प्रभाव पड़ता है। प्रेम में अपना पराया नहीं दिखाई देता, ऐसा प्रभाव पड़ने से राजा भल्लाटिय अपने को धिक्कारता है।[8] उनके प्रेम के रंग में रंगकर राजा शिकार करना छोड़ देता है। घर लौटता है दान पुण्य करता है।[9] आनन्द का अनुभव करता है।[10]

1. श्री.बो.स.च., 10.30
2. वही, 10.23
3. वही, 10.37
4. वही, 10.41
5. वही, 11.4
6. वही, 10.37
7. वही, 11.6
8. वही, 11.10
9. वही, 11.12
10. वही, 11.12

वस्तुतः बोधिसत्त्व भल्लाटिय को कथा सुनाते हुए राजा कोशलेश और उसकी रानी को समझाते हैं कि तुम्हें परस्पर प्रेम से रहना चाहिए।[1] उनको यह याद दिलाया जा रहा है कि तुम दोनों ही पिछले जन्म के किन्नर और किन्नरी हो अर्थात् राजा किन्नर तथा उसकी रानी मल्ली किन्नरी।[2] अतः प्रेम से रहना ही संसार का सार है। प्रेम बिना संसार निस्सार है।[3]

(2) यक्ष–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में प्रसंगवश यक्षों का भी संक्षेप से चरित्र चित्रित किया गया है।[4] यक्ष राजा को श्मशान में मिलते हैं। उनमें व्यक्ति को पहचानने की शक्ति है। यही कारण है कि वे उसको न्याय प्रिय समझ उससे शव को बराबर हिस्सों में बंटवाना चाहते हैं।[5] यक्ष मित्रों के मित्र हैं। राजा से उनकी मैत्री हो जाती है। वे राजा की विपत्ति में सहायता करते हैं।[6] राजा को अपनी माया की शक्ति से प्रत्येक वस्तु उपलब्ध कराते हैं।[7] राजा के कहने पर वे राजा के मन्त्रियों को उनके घरों तक पहुँचा देते हैं।[8] राजा से वे इतने प्रसन्न हैं कि राजा के कहने पर उसे उस महल में ले जाते हैं जहाँ कोशलराज सोया हुआ है।[9] उनकी विलक्षण बुद्धि की कोशलराज भी प्रशंसा करता है।[10]

(3) राक्षस –प्रथम सर्ग में राक्षसों का भी प्रसंगवश चरित्र-चित्रण किया गया है। वह अति संक्षिप्त होने पर भी उनके जीवन शैली को उजागर करने वाला है। किस प्रकार राक्षस भोले-भाले यात्रियों को लूटते हैं, मारते हैं यही दिखाना कवि का उद्देश्य है।[11] इसके अतिरिक्त श्मशान पर भी गीदड़ों की प्रकृति को दिखाया गया है।[12] इस प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह काव्य अत्युत्तम है। घटना क्रम के विकास में

---

1. श्री.बो.स.च., 11.14
2. वही, 11.13
3. वही, 11.4
4. वही, 4.40
5. वही, 4.45
6. वही, 4.51
7. वही, 4.53
8. वही, 4.80
9. वही, 4.81-82
10. वही, 4.93
11. वही, 1.36
12. वही, 4.21-35

अन्य छोट-छोटे चरित्र भी प्रभावोत्पादक तथा कवि के वैदुष्य के परिचायक हैं।[1] इन चरित्रों के बीच-बीच में ऐसे सुन्दर शिक्षाप्रद पद्य हैं, जिनमें किसी के भी चित्त को प्रभावित करने की अपूर्व क्षमता है जैसे-चतुर्थ सर्ग में कोशलेश के आदेश से जब मन्त्रियों ने क्षमावान् काशीपति को बन्धी बना लिया तब उसके मन में प्रतिकार की भावना का उदय नहीं हुआ और इस विशम स्थिति में भी अपने मन्त्रियों को कल्याण-साधक वचन कहते है कि-

एक आत्मैव सर्वत्र मन्तव्यः सततातत:।
दृष्टव्यः श्रवणीयश्च विज्ञेय इति मे मतम्।।[2]

II प्रकृति चित्रण

विश्व के प्राचीनतम साहित्य को पढ़ने से तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि मानवमात्र का प्रकृति के साथ अनादिकाल से ही सम्बन्ध रहा है। अगर यह कहा जाये कि मानव ने सर्वप्रथम प्रकृति की गोद में अपना बचपन बिताया तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी। मानव ने ज्यों ही आँख खोली होगी, उसने अपने चारों ओर प्रकृति के उस सुरम्य दृश्यों को देखा होगा जिसके कारण वह बोल पड़ा कि, 'यह पृथ्वी मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ।"[3] प्रकृति ने अपने अद्‌भुत-रूपों के सुखदकार्यों से मानव को इतना प्रभावित किया कि उसमें उसे एक विलक्षणता दिखाई देने लगी। फलतः प्रकृति में उसकी देवत्व की भावना जागृत हो गई। उसके प्रतिदिन बिना भेदभाव के सूर्य, चन्द्र, पवन इत्यादि को अपने कार्य करते देखा। उसमें प्रातःकाल पूर्व में उदित होती हुई उषा को देवी का स्वरूप माना। यही कारण है कि वैदिक-साहित्य का प्रारम्भिक अंश काव्यमयी भावना तथा प्राकृतिक-उद्‌गारों से ओत-प्रोत हैं। वैदिकोत्तरकालीन साहित्य के एक विशाल भाग का विकास जितना प्रकृति के सुरम्य वर्णनों से हुआ, इतना अन्य से नहीं।

फलतः संस्कृत-साहित्य का प्रकृति वैभव अन्य साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न तथा विशाल है। साहित्यिक इससे अनभिज्ञ नहीं हैं कि कभी-कभी कविजन प्रकृति का सुरम्य मनोहारी वर्णन करते हुए मूल कथावस्तु से हटकर प्रकृति की गहन गुफाओं में विचरण करने लग जाते हैं।[4] चाहे कैसा भी कठोर कवि हो, फिर

1. श्री.बो.स.च., 2.5 कृषक
2. वही, 4.18
3. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। -अथर्ववेद, 12.1.12
4. कादम्बरी, बाणभट्ट, प्रथम तथा द्वितीय भाग

भी वह प्रकृति की सुरम्य छाया में बैठा हुआ सरसता तथा अद्वितीय आनन्द का अनुभव करता रहा है इसलिए कवि मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों की अपेक्षा प्राकृतिक पदार्थों को अपने हृदयगत भावों के अनुरूप मूर्तरूप देता रहा तथा प्रकृति का कई रूपों में वर्णन करता रहा।[1] वस्तुतः कवि की अपनी ही एक सृष्टि होती है, जिसे सहृदयों ने ब्रह्मा की सृष्टि से भी श्रेष्ठतम माना है।[2] इतना ही नहीं प्राकृतिक उपमानों को ग्रहण करने में कवि का जो भी प्रयोजन निहित रहता है, वे ही उसके कविता के सौन्दर्य के कारण हुआ करते हैं।[3] यही कारण है कि सहृदय कवि अपने गद्य-पद्यमय काव्यों में प्रकृति का वर्णन किए बिना कदापि नहीं रह सकते। इसी को ध्यान में रखते हुए काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण में प्रकृति-वर्णन को भी अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।[4] उनका मानना था कि प्रकृति-वर्णन कथावस्तु में चमत्कृति लाने तथा देश, काल एवम् अन्य वातावरण इत्यादि के आगे बढ़ाने एवं उन्हें सौन्दर्य प्रदान करने में अत्यधिक सहयोग प्रदान करता है। कवि की सहृदयता इसी में है कि वह अपने काव्य में वर्णित पात्रों के लिए सुखमय वातावरण उपस्थित करने के लिए प्रकृति की सुकुमारता का ऐसा वर्णन करे जिससे वह पाठकों के समक्ष प्रकृति के कोमल तथा भीषण दोनों रूप उपस्थित कर सके, क्योंकि संयोगावस्था में कवियों द्वारा वर्णित जो चन्द्रमा की चान्दनी सुखदायी होती है, वही वियोगावस्था में वियोगियों के लिए प्राणघातक भी हुआ करती है। प्रकृति की छटा काव्य में केवल सौन्दर्याधायिका ही नहीं अपितु रस निष्पत्ति में भी सहायक हुआ करती है।[5] अतः कहा जा सकता है कि काव्य में जितना गुण, अलङ्कार, छन्द इत्यादि को महत्त्व प्रदान किया गया है, प्रकृति-वर्णन को भी उससे कम महत्त्व नहीं दिया गया।[6]

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री भी उन कवियों में से एक हैं, जिनके काव्यों में प्रकृति पर्यवेक्षण दिखाई देता है। वे प्रकृति के एक सुन्दर चित्रकार हैं। प्रकृति के साथ उनका स्वाभाविक लगाव दिखाई देता है। यही कारण है कि विदेशों से अपने मित्रों के लिए भेजे गये उनके पत्रों में भी प्रकृति-वर्णन की मनोहर छटा दिखाई देती है। वे बैंकाक से भेजे गए एक पत्र में प्रसंग वश लिखते हैं कि-

---

1. मेघदूत, कालिदास
2. का.प्र., 1.1
3. श्री.बो.स.च., 8.50
4. सा.द., 6.322-24
5. वही, पृ.198-99
6. कालिदास और प्रकृति, डॉ० पुष्पा हजेला, पृ. 8

हरीतिमा नेत्रविलोभनीयो
गुल्मेषु वृक्षेषु लतासु चापि।
सर्वस्य भूयो मुदमातनोति
घर्मार्तिहारित्ववशाज्जनस्य ।।[1]

प्राचीन महाकाव्यों में प्रकृति को विभाव की कोटि में मानकर आलम्बन रूप में लिया गया है। आलम्बन रूप से किन वस्तुओं का वर्णन होना चाहिए इस विषय में उनका मानना है कि नगर, शैल, उद्यान, नदी इत्यादि का वर्णन इस कोटि में आ सकते हैं।[2]

(क) आलम्बनात्मक

प्रकृति के सुन्दर दृश्य देखकर कवि का हृदय जब उस पर मुग्ध होने लगता है उस समय प्रकृति कवि के या पाठकों के हृदय के भावों का आलम्बन बन जाती है।[3] उस समय उसका चित्रण उद्दीपन अथवा अप्रस्तुत रूप में किए गए चित्रणों से अपने आपको पृथक् कर लेता है। वही उसका आलम्बन चित्रण हुआ करता है। कविवर डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के काव्यों में प्रकृति का ऐसा चित्रण अपनी एक पहचान रखता है। कतिपय वर्णन इस प्रकार दिए जा सकते हैं।

ऋतुवर्णन–प्रकृति-वर्णन में ऋतुवर्णन कवियों को अतिप्रिय रहा है। यहाँ कवि ने परम्परागत ऋतुवर्णन से हटकर अपनी सूक्ष्म-दृष्टि तथा कल्पनाशक्ति दोनों के मिश्रण से ऋतुवर्णन के नूतन चित्रण उपस्थित किए हैं। वर्षाऋतु वर्णन का उदाहरण देखें। कवि बैंकाक से पत्र भेजते हुए लिखते हैं कि–

वर्षर्तुवेगोऽत्र भृशं प्रवृद्धो
मेघावृतं तेन नभो विशालम्।
हरीतिमा नेत्रविलोभनीयः
सौख्याकरो दृष्टिपथं प्रयाति।।[4]

कवि ने कतिपय शब्दों में ही मानों वर्षा-ऋतु का चित्र सा उपस्थित कर लिया।

---

1. प.का., श्लो.9, पृ. 105
2. नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
   उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।। –काव्यादर्श, 1.16
3. कालिदास और प्रकृति, डॉ० पुष्पा हजेला, पृ. 7
4. प.का., पृ. 118, श्लो.11

वर्षाऋतु में नानाविध वनस्पतियों से हरे-भरे पर्वत का कितना मनोहारी दृश्य होता है। कवि कतिपय शब्दों में ही कह देता है, उदाहरण–

> एषा विलोक्या हरिता वनाली
> तद्भूविभागोऽस्त्यतिवृष्टिशाली।
> गुहा गिरीणां सलिलस्य पूर्णा
> विभान्ति पद्मानि विकासभाञ्जि।।[1]

कवि का यह वर्णन कौशल है कि उसने एक ही पद्य में प्रकृति के सभी अङ्गों का मनोहारी वर्णन उपस्थित किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[2]

नदी-वर्णन–नदी वर्णन भी प्रकृति-वर्णन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री वसुन्धरा के हारस्वरूप, सम्पूर्ण भूमण्डल को सरस कानन बनाने वाली नदियों के भी स्वाभाविक तथा मनोहारी चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। आलम्बन रूप से कवि द्वारा किए गए नदी के वर्णन को देखें, जहाँ कवि नदी का शब्दचित्र खींचता हुआ दिखाई देता है–

> पवित्राम्भःपूर्णाः सफलदलपुष्पैः परिवृता,
> द्रुमैः स्निग्धच्छायैर्व्रतततितिभिश्चाप्युपचिता।
> तटप्रान्तैर्हृद्या विहगमधुरध्वानमुखरै-
> स्तरङ्गैरुतुङ्गैररमयदमुं सा सरिदपि।।[3]

कवि की वर्णन शक्ति तथा शब्द चयन शक्ति अद्भुत है। कवि शब्दों तथा भावों का भण्डार है। यही कारण है कि एक ही दृश्य को प्रकारान्तर से प्रस्तुत करता हुआ वह कहता है–

> पुरस्ताद् दृश्या ते तरुपरिवृतेयं गिरिणदी
> स्थिता मध्येशैलद्वयमविरलाम्भोरयवती।
> तटिन्यामेतस्यामनुभवितुमानन्दमधिकं
> कदाचिन् मद्भर्ता किल दयितयाऽऽयात् सह मया।।[4]

वन-वर्णन–श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में प्राप्त होने वाले वन वर्णनों से ज्ञात होता है

---

1. श्री.बो.स.च., 1.51
2. प.का., श्लो.8, इ.गा.च., 9.34; 10.134
3. श्री.बो.स.च., 10.12
4. वही., 10.27

कि कवि ने वनों का वर्णन विस्तृत रूप से नहीं किया केवल कथाप्रसंग के अनुसार ही किया है किन्तु जितना किया उसमें विशेषता है कि वह वर्णन सुकुमारता से ओत:प्रोत है।

एक स्थान पर वैश्यव्यापारी एक मनोहर वन की कल्पना करता हुआ सोचता है कि– मैं जब अपने साथियों तथा बैलगाड़ियों के साथ वनों के मध्य होकर निकलूँगा तो मुझे वहाँ–

छिन्नप्ररूढानि नवानि पत्रा–
ण्याप्स्याम्यभीष्टानि च शाकहेतोः।
आस्वाद्य माधुर्यमयं त्वलभ्यं
तोयं तदुत्स्वातमहं लभेय।।[1]

कवि प्रकृति का स्वाभाविक वर्णन करने में भी दक्ष है। मरुस्थल का तो मानों वह चित्र सा खींचता हुआ कहता है कि–

सन्तीदृशाः केऽपि च भूमिभागाः
जलस्य लेशोऽपि न यत्र लभ्यः।
भोज्यस्य तत्रास्ति कथैव का वा
प्रजापतेः सृष्टिरियं विचित्रा।।[2]

कवि ने उसके विषय में अधिक न कहकर उसकी विचित्रता देखकर प्रजापति के सामर्थ्य को ही इसमें कारण माना है। इस प्रकार प्रकृति के कोमल वर्णन करने के बाद कवि कतिपय शब्दों द्वारा ही उसकी बीहड़ता तथा भयंकरता का चित्र खींचते हुए आगे लिखता है–

कान्तारसंज्ञा निबिडाः प्रदेशाः
कष्टप्रदास्ते विविधं भवन्ति।
पाटच्चरैः केचन हिंस्रजीवै–
रन्ये च भूतैः कृतसंनिवेशाः।।[3]

वन का यह वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी सशक्त, प्रभावशाली तथा किसी के भी हृदय पटल पर सहसा एक-एक भूभाग का चित्र उपस्थित करने वाला है जो सभी

1. श्री.बो.स.च., 1.27
2. वही, 1.33
3. वही., 1.32

प्रकार से पथिकों के लिए दुर्गम तथा दुःखप्रद है। इसी प्रकार अन्यत्र भी आलम्बनरूप से कविकृत प्रकृतिवर्णन देखे जा सकते हैं।[1]

(ख) उद्दीपनात्मक

प्रकृति के सुन्दर दृश्य जब किसी प्रकार से सहृदय के मन में प्रभाव डालने लग जायें और उन दृश्यों को देखकर विद्यमान रस आदि में उत्कर्ष आदि दिखाई दे, तब उसका आलम्बन न रहकर उद्दीपन रूप से ग्रहण होता है।[2]

संयोग शृङ्गार तथा वियोग-शृङ्गार में प्रकृतिगत-चित्रण या चन्द्र, चन्दन कोकिल-कूजन, भ्रमर-झंकार इत्यादि इस कोटि में गिने जाते हैं।[3] महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री कृत काव्यों में यत्र-तत्र ऐसे वर्णन संक्षेपतः प्राप्त हैं। कवि प्राचीन उद्दीपन विभावों से हटकर नवीनरूप से प्रकृति की अनेक वस्तुओं को नायिका के शरीर से संयोजित कर उद्दीपन रूप से ग्रहण करते हुए दिखाई देते हैं। राजकुमार प्राकृतिक उपमानों के द्वारा उन्मदन्ती के अवयवों की स्मृति करता हुआ विरह से व्याकुल होता हुआ कहता है-

गण्डच्छविन्यक्कृतपुण्डरीका
लाक्षोक्षिता चञ्चलचञ्चरीका।
लतेव सा कन्दलितोदबिन्दु-
स्तनी कदोपैष्यति निन्दितेन्दुः।।[4]

यहाँ वह उसके अङ्गों को प्राकृत-पदार्थों से जोड़ते हुए विरह से अत्यधिक व्याकुल होता हुआ उन्मदन्ती से मिलने के लिए बेचैन है।

(ग) चेतनात्मक (प्रकृति का मानवीकरण)

कवि किसी भी वर्ण्यवस्तु के रूप अथवा स्थिति को स्पष्ट करने के लिए बहुत प्राचीनकाल से ही प्रकृति का आश्रय लेते रहे हैं। जब वह किसी के भी सौन्दर्य को अभिव्यक्त करना चाहते हैं तब वह प्रकृति के अङ्गों को उपमान के रूप में लेते हैं। उनके लिए वे चन्द्र, चकोर, मेघ, पवन, कमल, कुवलय, नदी, पर्वत इत्यादि को ग्रहण करते हैं। उनके आधार पर कहीं उपमा अलङ्कार का प्रयोग, कहीं उत्प्रेक्षा की संभावना तथा रूपकातिशयोक्ति को ग्रहण करते दिखाई देते हैं। विशेषकर कवि

1. श्री.बो.स.च., 1.25; 26-40-42
2. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। -सा.द., 3.131
3. चन्द्रचन्दनकोकिलालापभ्रमरझंकारादयः। -वही, 3.131 (वृत्तिः)
4. श्री.बो.स.च., 8.70

रूपकालङ्कार के द्वारा प्रकृति के इन अङ्गों पर चेतनता का आरोप करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार कवियों ने जो प्रकृति पर विभिन्न मानवीय प्रवृत्तियों का आरोप करते हुए वर्णन किए वे ही मानवीयकरण कोटि में रखे गए। महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने भी अपनी रचनाओं में इस प्रकार के यत्र-तत्र प्रयोग किए हैं। एक दो उदाहरण देखें। शिवि देश के राजकुमार की विरहव्यंथा को इसी भाव-साम्य से चित्रित करते हुए कहते हैं। उदाहरण-

सुहासिनी सुन्दरभाषिणी सा
सुभूषणा कोमलबाहुपाशैः।
कदा परिष्वङ्क्ष्यति मां कृशाङ्गी
मुदा रसालं नवमल्लिकेव।।[1]

यहाँ नवमल्लिका में नायिका तथा रसाल में नायक का सजीवता का आरोप करने से नवमल्लिका अपनी बाहुओं से रसाल को आलिङ्गन करने में समर्थ है। यही मानवीकरण है।

(घ) उपदेशात्मक

कवि जब प्राकृत-पदार्थों की क्रिया आदि के व्यापार से जन-सामान्य को समझाने का प्रयास करता है, तब ऐसा प्रकृति-चित्रण उपदेशात्मक कोटि के अन्तर्गत आ जाता है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का निम्न उदाहरण देखें जिसमें किन्नरी नदी को आधार मानकर कहती है कि-जब नदी में बाढ़ के कारण पानी का वेग तीव्र हो गया और हम दोनों नदी के दोनों किनारों पर खड़े एक दूसरे से मिल नहीं सके, तब विवश होकर हमने एक-दूसरे को देखते हुए रात भर वियोगजन्य कष्ट सहन किया।[2] वह इस घटना के विषय में कहती है-

नितान्तं तान्तौ तां रजनिमखिलां सान्धतमसां
सकृच्चावां हासं व्यतनुव सकृच्चापि रुदितम्।
वियुक्तानामेषा भवति विवशनामिह दशा
मनस्ताम्यद् भ्राम्यद् क्वचिदपि रतिं नैव लभते।।[3]

यहाँ किन्नरी अपने बिछुड़ने में नदी के वेग को कारण मानती हुई सन्देश देना

1. श्री.बो.स.च., 8.69
2. वही,10.36
3. वही,10.37

चाहती है कि- वियोगी और विवशजनों की दुनियाँ में यही दशा होती है। मनुष्य इस संसार में सुख के लिए भटकता है, घूमता है पर कहीं भी उसको सुख नहीं मिलता।

इस प्रकार महाकवि ने अपनी रचनाओं में प्रकृति-चित्रण के विविध रूपों का परम्परा से कुछ हट कर वर्णन किया है। कवि की एक विशेषता ओर है कि उन्होंने प्रकृति-वर्णन में अनावश्यक विस्तार का परिहार किया है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में प्रकृति का विलक्षण एवं अनिर्वचनीय सौन्दर्य दिखाई देता है।[1]

1. श्री.बो.स.च., 10.27

8

धर्म तथा दर्शन

अनीश्वरवादी दर्शनों में बौद्ध दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध माने जाते है। इनका जन्म ई.पू. छठी शताब्दी में माना जाता है। राजवंश में जन्म लेने के कारण पिता ने इनके आमोद–प्रमोद का पूर्ण रुप से प्रबन्ध किया किन्तु राजसी वैभव, पत्नी का प्रेम, पुत्र की महत्ता और विलास का आकर्षण का उन्हें संसारिकता की डोर में बांधने में असफल सिद्ध हुआ। एक दिन आधी रात को वे अपनी पत्नी यशोधरा और नवजात शिशु राहुल को छोड़ कर राजमहल से निकल पड़े और सन्यास अपनाया। विभिन्न यातनाओं के बाद उन्हे जीवन के सत्य दर्शन हुए, उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई, उनका उद्देश्य सफल हुआ। वे महात्मा बुद्ध कहलायें। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद गौतम बुद्ध ने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। चालीस वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार करने के बाद उन्होंने परिनिर्वाण प्राप्त किया।

महात्मा बुद्ध के उपदेश मौखिक होते थे इसलिए महात्मा बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने उनके उपदेशों का संग्रह त्रिपटिकों में किया। अतः त्रिपटिकों को ही बौद्ध दर्शन का मूल और प्रामाणिक आधार माना जाता है। इन त्रिपिटकों की रचना पालि भाषा में की गई है। त्रि का अर्थ है तीन और पिटक का अर्थ है पिटारी अर्थात् बौद्ध दर्शन की तीन पिटारियां है जिनमें गौतम बुद्ध की शिक्षाएं निहित है। ये त्रिपिटक हैं–

1. सुत्तपिटक
2. अभिधम्मपिटक
3. विनयपिटक

इन पिटकों में महात्मा बुद्ध के सदुपदेशों में समाहित निगूढ रहस्यों को बौद्ध दार्शनिकों ने अनावृत किया तदनन्तर बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायों माध्यमिक, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और योगाचार का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होनें महात्मा बुद्ध द्वारा स्वीकृत मान्यताओं को जनता के सम्मुख रखा। वे मान्यतायें निम्न प्रकार से है–

(क) बौद्ध धर्म की मान्यताऐं

बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध माने गए हैं। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था।[1] बुद्धत्व प्राप्ति करने के बाद बुद्ध कहलाये। उनका एकमात्र उद्देश्य दुःख की प्रवृत्ति को समझाकर जनता को सुख प्राप्त करवाना था। संसार के दुःखों से दुःखी होकर उन्होंने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया। यही बौद्धधर्म के बीज हैं। इनकी प्राप्ति के बाद ही गौतमबुद्ध सम्यक्‌बुद्ध कहलाए।[2] बौद्धधर्म की मान्यता है कि इन चार आर्य सत्यों का ज्ञान हो जाने के बाद कोई भी साधक संघ का एक अमूल्य रत्न कहलाता है और उसके तीन प्रकार के बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं।

आर्यसत्य का अर्थ–आर्य अर्थात् (अर्हत्) जिन्हें सत्य रूप से जानते हैं, वे आर्यसत्य कहलाते हैं। आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोष भाष्य में आर्यसत्य का अर्थ करते हुए लिखा है कि जब ऊन के धागे का सिरा हथेली पर होता है, तब जैसे कोई उसका अनुभव नहीं करता लेकिन जब वही ऊन का धागा आंख में चला जाता है तब कष्ट देता है1 यहाँ पामर जन हथेली हैं तथा आर्यजन आँख के समान।[3] संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि चार आर्यसत्य हैं और वे ज्यों के त्यों हैं इसलिए आर्यसत्य कहलाते हैं।[4] इन सत्यों की संख्या बौद्धधर्म में अनन्त मानी गई है किन्तु इन्हीं चार आर्य सत्यों को सर्वोत्कृष्ट माना गया।[5] भगवान् बुद्ध की शिक्षा में चार आर्यसत्यों का प्रमुख स्थान है। भगवान् ने अपने प्रथम उपदेश में इनका उपदेश दिया था। 137 सूक्तों में चार आर्य सत्यों का सूक्ष्म वर्णन मिलता है।[6] इन चार आर्यसत्यों में चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ये चार आर्यसत्य अरियसच्चानि कहलाते है जो निम्न प्रकार से हैं।

(1) दुःखम

(2) दुःख समुदय (कारण)

---

1. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवस्वरूप सहाय, अध्याय 15, पृ. 223
2. वही, पृ. 230
3. बौ.द.मी., षष्ठ परिच्छेद, पृ. 46
4. इमानि खो, भिक्खवो, चत्तारि अरियसच्चानि तथानि अवितथानि अनञ्ञथानि, तस्मा अरिय सच्चानीति बुच्चन्ति। –सं.नि., खन्धसंयुत वर्ग, 13, पृ. 258
5. बौ.द.मी., षष्ठ परिच्छेद, पृ. 46
6. सं.नि. 5, पृ. 355–407

(3) दुःख निरोध

(4) दुःख निरोधगामिनीप्रतिपदा (मार्ग)[1]

(1) दुःख–भारतीय दर्शन में ऐसा कोई दर्शन नहीं जिसने दुःखों की सत्ता स्वीकार न की हो। सांख्यदर्शन का उदय तो त्रिविधदुःखों को दूर करने के लिए हुआ है।[2] भगवान् व्यास तथा सांख्यसूत्रों के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने तो अध्यात्म-शास्त्र को चिकित्साशास्त्र के समान ही माना है।[3] भगवान् बुद्ध ने दुःख के विषय में अपने ही शब्दों में कहा कि जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुख है, मरण भी दुःख है, प्रियवस्तु से वियोग एवं अप्रियवस्तु से मिलन भी दुःख है।[4] भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को यही उपदेश दिया कि में सुख क्षणिक एवं नाशवान् है। बौद्धदर्शन में जिसे हम साधारण रूप से सुख समझते हैं वे दुःख ही हैं, क्योंकि वे क्षणिक हैं। संसार में केवलमात्र मृत्यु ही सत्य है, जिसे नकारा नहीं जा सकता।[5] मनुष्य के लिए संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ मृत्यु से बचा सके।[6] भगवान् बुद्ध का ही यह कथन नहीं अपितु व्यास, कपिल, शङ्कराचार्य जैसे दार्शनिकों की भी यही मान्यता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु दुःखरूप है।[7]

(2) दुःखसमुदय–समुदय कारण को कहते हैं। अगर दुःखरूपी कार्य है तो उसका कारण भी अवश्य होगा क्योंकि कार्यकारण सिद्धान्त अनादिकाल से चल आ रहा है। दुःख का कारण तृष्णा है। तृष्णा तीन प्रकार की होती है–(1) काम तृष्णा (2) भव तृष्णा (3) विभव तृष्णा। यह त्रिविध तृष्णा ही दुःख का समुदय मानी गई है।[8]

---

1. भारतीयदर्शन, डॉ० ममता मिश्रा, चतुर्थ अध्याय, पृ. 75
2. सां.का., 1.1
3. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्-रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूमेव-तद्यथा यथा संसारः संसारहेतु र्मोक्षो मोक्षोपाय इति। -पा.यो.द., 2.15 वृत्तिः
4. इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खं अरियसच्चं, जातिपिदुक्खा, जरापिदुक्खा, व्याधिपिदुक्खो, मरणपि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगोदुक्खो,........ दुक्खा।
   –विनयपिटकमहावग्ग, धम्मचक्कप्पवत्तनं, पृ. 13
5. श्री.बो.स.च., 12.13
6. वही, 12.9
7. दुःखमेव एव सर्वं विवेकिनः। -पा.यो.द., 2.15

8. बौ.द.मी., षष्ठ परिच्छेद, पृ. 49

1. **काम-तृष्णा**—नाना प्रकार के विषयों की कामना करना काम-तृष्णा है। इसी से अनेक प्रकार के संघर्ष पैदा होते हैं।[1]

2. **भव-तृष्णा**—हमेशा जीवित रहने की इच्छा ही भवतृष्णा है। जीवित रहने के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार के कष्ट उठाता है।[2]

3. **विभव-तृष्णा**—जीवन को सुखमय देखने की इच्छा विभव तृष्णा है। उसके लिए चाहे कुछ भी करना पड़े। उनका मानना होता है कि मरने के बाद शरीर ने नष्ट हो जाना है और पुनर्जन्म मिलेगा या नहीं यह सोचकर ऋण लेकर घी पीना चाहिए।[3] आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में यह तृष्णा ही समस्त विरोधों की जननी है। दुःख का कारण है। इस का नाश करना प्राणी का कर्त्तव्य है।[4]

(3) दुःख-निरोध—बौद्धदर्शन में निरोध का अर्थ त्याग किया गया है। निरोध भी एक सत्य है। यदि दुःख का होना अवश्यंभावी है तो उसका निरोध भी निश्चित है। भगवान् बुद्ध के अनुसार तृष्णा का त्याग प्रतिसर्ग, मुक्ति या उसको स्थान न देना है। दुःखनिरोध नामक आर्य-सत्य है।[5] दुःख-निरोध को ही निर्वाण माना गया।[6]

सांख्यदर्शन त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्ति को मोक्ष कहता है।[7] दुःखनिवृत्ति से तात्पर्य है कि साधक का जीवित अवस्था में भी संस्कारवश कर्म करते हुए, उनके फल से रहित अपना जीवन यापन करना है।[8] भगवान् बुद्ध का अपने भिक्षुओं को उपदेश था कि- रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञान का निरोध ही दुःख निरोध है।[9]

(4) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा—जिसका अर्थ है- दुःख-निरोध तक पहुँचाने वाला रास्ता। इसी को बौद्धधर्म में अष्टाङ्गिकमार्ग कहा गया है। यही बौद्धधर्म का आचारमार्ग है।[10] अष्टाङ्गिक मार्ग निम्नलिखित प्रकार से है।

---

1. भारतीय दर्शन., डॉ० नन्दकिशोर, देशराज, पृ. 148
2. बौ.द.मी., षष्ठ परिच्छेद, पृ. 49
3. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। -भारतीय दर्शन, चतुर्थ परिच्छेद, पृ. 86
4. बौ.द.मी., षष्ठ परिच्छेद, पृ. 50
5. इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं- सो तस्सा येव तण्हाय असेसविरागनिरोधो, चागो, पटिनिस्सागो, मुत्ति, अनालयो। -महावग्गपालि, धम्मचक्कप्पवत्तनं, पृ. 13
6. अंगु.नि. 3.52
7. त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। -सां.सू., 1.1
8. तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः। - सां.का., 67
9. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवस्वरूपसहाय, अध्याय 15, पृ. 232
10. बौ.द.मी., षष्ठ परिच्छेद, पृ. 51

(1) सम्यक्-दृष्टि—बौद्धदर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से कर्म तीन प्रकार के माने गए हैं। ये तीनों पुनः कुशल एवं अकुशल भेद से दो-दो प्रकार के माने गए हैं। कुशल से तात्पर्य दोषरहित कर्मों का करना, अकुशल से तात्पर्य लोभ, मोह, दोषयुक्त कर्मों का करना।[1] दोनों प्रकार के कर्मों को समझने वाला साधक ही सम्यक् दृष्टि वाला कहा जाता है।[2]

(2) सम्यक्-संकल्प—राग, हिंसा, प्रतिहिंसा को छोड़ने की भावना, कामना और हिंसा से रहित संकल्प ही सम्यक् संकल्प है।[3]

(3) सम्यक्-वाक्—वचन का नियन्त्रण ही सम्यक् है। शत्रु के साथ भी सत्य भाषण करना सम्यक्-वाक् है।[4]

(4) सम्यक्-कर्मान्त—अच्छे सङ्कल्प को केवल बोलने में ही नहीं अपितु कर्म में उतारना सम्यक् कर्मान्त है। अहिंसा, अस्तेय तथा दुर्जन के प्रति भी सज्जनता एवं उद्धत के प्रति नम्र व्यवहार सम्यक्-कर्मान्त है।[5]

(5) सम्यक्-आजीविका—मानव अपने शरीर या गृहस्थ को चलाने के लिए आजीविका स्वीकार कर सकता है पर वह आजीविका सच्ची होनी चाहिए। इससे दूसरे प्राणियों को न तो कष्ट हो और न उनकी हिंसा हो। बोधिसत्त्व ने कृषक के रूप में कृषि जैसी सच्ची आजीविका को अपनाकर गृहस्थ का पालन-पोषण किया।[6]

(6) सम्यक्-व्यायाम—इसका अर्थ है ठीक प्रयत्न या अच्छा उद्योग करना। इसके अन्तर्गत आता है इन्द्रियों पर संयम, बुरी भावनाओं को रोकना, अच्छी भावनाओं को उत्पन्न कर उन्हें दृढ़ बनाना।[7]

(7) सम्यक्-स्मृति—किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानना सम्यक्-स्मृति है। धर्मों के स्वरूप को यथार्थरूप से समझना और उन्हें उसी रूप में याद रखना ही सम्यक् स्मृति है।[8]

---

1. द्वेषञ्च रागञ्च विहाय मोह......... सभागी। - धम्मपद, 20.2, पृ. 6
2. बौ.द.मी., षष्ठ परिच्छेद, पृ. 54-55
3. वही, पृ. 55
4. वही, पृ. 55-56
5. वही, पृ. 56
6. वही, पृ. 57
7. वही, पृ. 57
8. वही, पृ. 57-58

(8) सम्यक्-समाधि–सम्यक्समाधि के द्वारा ही चित्त की नाना वृत्तियों को रोका जा सकता है। प्रत्येक प्राणी को इसी प्रकार लोभ आदि रहित होकर चित्त-वृत्तियों को विषयों से हटाकर अच्छे कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए।[1] समाधि को योग भी कहा गया है।[2] समाधि का फल प्रज्ञा है। संसार का मूल अविद्या है। जब प्रज्ञा का उदय होता है अविद्या नष्ट हो जाती है। अत: अविद्या के नाश के लिए प्रज्ञा का होना जितना आवश्यक है उतना ही प्रज्ञा के लिए समाधि का होना आवश्यक है क्योंकि प्रज्ञा ज्ञान है और ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं।[3]

(ख) क्षणिकवाद

सर्वमनित्यम् यह बौद्धदर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। वस्तुमात्र की अनित्यता पर बुद्ध भगवान् ने बल देते हुए कहा था-यह अटल नियम है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये सारे संस्कार अनित्य हैं।[4] बौद्धधर्म के अनुसार कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो परिवर्तनशील न हो।[5] जड़ और चेतन सभी में परिवर्तन है। अपरिवर्तन केवल अज्ञान है। बौद्धधर्म के अनुसार वस्तु को न केवल सत् और न केवल असत् ही माना गया है। अपितु सत्-असत् के मार्ग को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रत्येक वस्तु को परिवर्तनशील माना।[6] बौद्धधर्म के अनुसार वस्तु परिवर्तनशील होने पर भी अपरिवर्तित जैसी दिखाई देती है पर सिद्धान्तानुसार उसमें प्रतिपल परिवर्तन होता रहता है। क्षणिकवाद से तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु किसी वस्तु को उत्पन्न करने तक तो सत्य है, पर बाद में वस्तु के उत्पत्ति के पश्चात् समाप्त है। इनके मत में पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तर-उत्तर वस्तु को उत्पन्न करके समाप्त होती रहती है।[7] वस्तु की सत्ता केवल क्षणमात्र स्वीकार करने के कारण उसे क्षणिकवाद कहा गया।[8]

(ग) अनात्मवाद

भारतीय दर्शन का चिन्तन बहु आयामी है। दर्शन ने मानव जीवन से सम्बन्धित

---

1. बौ.द.मी., षष्ठ परिच्छेद, पृ. 58
2. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। -पा.यो.द. 1.2
3. बौ.द.मी, षष्ठ अध्याय, पृ. 58-59
4. बौद्धदर्शन, राहुलसांकृत्यायन, पृ.32
5. भारतीय दर्शन, ममता मिश्रा, चतुर्थ अध्याय, पृ. 89
6. वही, पृ. 81
7. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवस्वरूपसहाय, अध्याय 15, पृ. 240
8. वही, पृ. 240

सभी पहलुओं को छुआ है। जो जन्म लेता है वह मृत्यु को भी प्राप्त होता है, जन्म और मृत्यु के बीच उसे कई रूपों, स्थितियों एवं अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं से गुजरते हुए अनेक भारतीय ऋषियों, आचार्यों ने आत्मसाक्षात्कार किया तो दर्शन में आत्मतत्त्व के बारे में विभिन्न दर्शनों द्वारा विविध स्वर गूंजे। भारतीय दर्शन में अनीश्वरवादी दर्शनों में जैन एवं बौद्ध दर्शन प्रमुख माने जाते हैं। बुद्ध बौद्ध धर्म के तथा तीर्थंकर महावीर जैन धर्म के प्रणेता माने जाते है।

बौद्ध दर्शन को अनात्मवादी दर्शन कहा गया है। बौद्ध दर्शन जन्म, मरण, स्मृति, संस्कार, कर्मवाद, बन्ध, मोक्ष आदि मानते हुए भी आत्मा को अस्वीकार करता है।[1] बौद्धों का मानना है कि यदि आत्मा नित्य है, तो फिर अन्त काल तक वह एक रूप रहेगी, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा, अतः उसमें बन्ध मोक्ष की व्यवस्था नहीं घट सकेगी क्योंकि बन्ध विचारों की, भावों की परिणति के अनुसार होता है और उसका क्रिया से सम्बन्ध है। या क्रिया सदा एक रुप नहीं रहती, न ही भावों, परिणामों एवं विचारों की धारा ही। अतः आत्मा में यदि बन्ध मानते है तो फिर वह परिणमनशील हो जायेगा। अतः फिर हम यह नहीं कह सकेंगे कि यह वही आत्मा है। बौद्धों के अनुसार आत्मा को नित्य मानने में दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होगी कि वह बन्धन युक्त है तो सदा बंधन युक्त रहेगी, वह बंधन से कभी मुक्त नहीं हो सकेगी और उसका कभी पुनर्जन्म भी नहीं हो सकेगा क्योंकि वहाँ आत्मा की एक स्थिति नहीं रहती। अतः आत्मा नित्य नहीं है। वह विज्ञान नदी प्रवाह की तरह प्रतिक्षण बदलता रहता है जैसे दीपक की ज्योति प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहने पर भी सदृश परिवर्तन के कारण एक अखण्ड आकार सी प्रतीत होती है।[2] उसी प्रकार बाल, युवा, वृद्ध, अवस्था में विज्ञान में प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने पर भी समान परिवर्तन के कारण विज्ञान (आत्मा) का एक अखण्ड रूप से ज्ञान होता है, पर वस्तुतः वह एक रुप है नहीं। विज्ञान प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस प्रकार बोध विज्ञान प्रवाह के मानने से आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं मानते, फिर भी पुनर्जन्म को मानते हैं। उनके अनुसार दूसरे भव में नाम और रूप उत्पन्न होता है, परन्तु वह नाम रूप वह नहीं है जो मृत्यु के समय था। मृत्यु के समय स्थित विज्ञान संस्कारों की दृढता से वह गर्भ में प्रविष्ट होकर फिर से दूसरे नाम और रूप से सम्बद्ध हो जाता है। अतः एक विज्ञान का मरण दूसरे का जन्म होता है। जिस प्रकार ध्वनि और प्रतिध्वनि में, मोहर और

---

1. भारतीय दर्शन, डॉ० ममता मिश्रा, चतुर्थ अध्याय, पृ. 92
2. बौद्धेतर दर्शनग्रन्थों में बौद्धदर्शन, डॉ० धर्मचन्द जैन, डॉ० राजकुमार दाबड़ा, पृ. 276

उसकी छाप में, पदार्थ और पदार्थ के प्रतिबिम्ब में कार्य कारण सम्बन्ध है उसी तरह एक विज्ञान व दूसरे विज्ञान में तथा इस भव के मरण समय के विज्ञान व आगामी भव के जन्म के विज्ञान में भी कार्य कारण सम्बन्ध हैं। तीव्र संस्कारों की छाप के कारण अविच्छिन्न सन्तान से यह दूसरे भव में भी अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है। वास्तव में आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता है परन्तु चित्त के कर्म संस्कार को ही पुनर्जन्म कहा जाता है।[1] .पुद्गल आत्मा की स्वतन्त्र उपलब्ध नहीं होती है। रूप, वेदना, संस्कार, संज्ञा, विज्ञान इन पांच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।[2]

अनात्म का अर्थ–बौद्ध दर्शन में अनात्म का अर्थ आत्मा का अभाव नहीं मानना चाहिए अपितु उससे आत्मा के अभाव के साथ-साथ दूसरे पदार्थों की सत्ता का बोध होता है, अर्थात् आत्मा को छोड़कर सब वस्तुओं का अस्तित्व है। इसी का दूसरा नाम धर्म है। केवलमात्र बौद्ध-दर्शन में ही धर्म शब्द का प्रयोग इस अर्थ में हुआ है। धर्म का अर्थ बहुत सूक्ष्म है। यहाँ प्रकृति और मन का वह अन्तिम तत्त्व धर्म कहलाता है जिसे वस्तु से पृथक् नहीं किया जा सकता। इन धर्मों के घात और प्रतिघात से ही सृष्टि मानी गई है।[3] लोक व्यवहार में जिसे आत्मा कहा गया है वह कोई पृथक् पदार्थ न होकर केवल रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पांच स्कन्धों का संघात मात्र है[4] इसलिए आत्मा को बौद्ध लोग सन्तान शब्द से भी पुकारते हैं[5] और यह आत्मा सभी में समान है[6] और उसको पुद्गल, आत्मा या विज्ञान कहा है।

1. **रूप स्कन्ध** – इससे इन्द्रिय और शरीर का बोध होता है।[7]
2. **संज्ञा स्कन्ध** – इन्द्रिय और विषय के संयोग से संज्ञा का ज्ञान होता है। इसी से व्यक्ति की पहचान होती है। वस्तुतः विशेषण से युक्त वस्तु का ज्ञान ही संज्ञा

---

1. बौद्धेतर दर्शनग्रन्थों में बौद्धदर्शन, डॉ० धर्मचन्द जैन, डॉ० राजकुमार दाबड़ा, पृ. 276
2. बौ.द.मी., सप्तम परिच्छेद, पृ. 71
3. भा.द., डॉ० ममता मिश्रा, पृ. 92
4. रुपस्य समुदयो, अयं वेदनाय समुदायो, अयं सञ्ञाय समुदायो, अयं सङ्खारानं समुदयो, अयं विञ्ञाणस्य समुदायो। –सं.नि., खन्धवग्गो, समाधिसुत्तं, पृ. 252
5. भा.द., डॉ० ममता मिश्रा, पृ. 93
6. श्री.बो.स.च., 4.18
7. रूप्यन्ते एभिर्विषया: इन्द्रियाणि रूप्यन्ते इति रूपाणि (विषय), बौ.द.मी., सप्तम परिच्छेद, पृ. 71

हो। जैसे- नीलः घटः, पीतं वस्त्रम्।[1] नैय्यायिक इसको सविकल्प ज्ञान कहते हैं।[2]

3. **वेदनास्कन्ध** – इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान होने पर उनसे चित्त पर पड़ने वाले प्रभाव को वेदना-स्कन्ध कहते हैं।[3]
4. **संस्कारस्कन्ध** – वेदना के पश्चात् बुद्धि और हृदय पर पड़ने वाला प्रभाव संस्कार-स्कन्ध होता है। इसी स्कन्ध में राग, द्वेष, धर्म, अधर्म इत्यादि वृत्तियों का समावेश रहता है।[4]
5. **विज्ञानस्कन्ध** – जिसके द्वारा इन्द्रियों से उत्पन्न रूप, रस, इत्यादि का ज्ञान तथा मैं हूँ इस प्रकार का ज्ञान होता है वह विज्ञान-स्कन्ध है। चेतना का ही दूसरा नाम विज्ञान है। इसी को चित्त भी कहते हैं।[5] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने आत्मा को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप मानते हुए सभी में उस एक ही आत्मतत्त्व को स्वीकार किया है।[6] उनकी दृष्टि से आत्मतत्त्व सभी में एक है पर शरीर पृथक्-पृथक् है।[7]

(घ) अनीश्वरवाद

भारतीय दर्शन में ईश्वर विषयक अवधारणा एक अत्यन्त विवादास्पद विषय रहा है। कुछ दार्शनिक सम्प्रदाय इस संसार का निर्माण करने वाली किसी अदृश्य शक्ति पर विश्वास करते है। इसके अतिरिक्त कुछ सम्प्रदाय इस जगत् की सुव्यवस्थित गति के लिए ईश्वर जैसी किसी शक्ति को स्वीकार नहीं करते। चार्वाक के अनुसार जगत् की व्यवस्था के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है क्योंकि पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पांच भूत स्वाभाविक रुप से संयुक्त होकर सृष्टि की उत्पत्ति करते है। जगत् के सभी कार्यों के लिए किसी देवता या ईश्वर के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है।[8] जैन दर्शन भी जगत् कीं उत्पत्ति में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता, क्योंकि जैनमत में जगत् अनादि है। कोई भी ऐसा समय नहीं था जब जगत् नहीं था, क्योंकि विद्यमान पदार्थ कभी नष्ट नहीं हो सकते और न ही असत् से

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ० हरिदत्तशास्त्री, पृ. 117
2. सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, तर्कसंग्रह, प्रत्यक्षखण्ड
3. बौ.द.मी. पृ०-72
4. वही, पृ०-72
5. वही, पृ. 72
6. श्री.बो.स.च., 4.19
7. वही, 4.20
8. भारतीय दर्शन, डॉ राधाकृष्ण, भाग-1, पृ. 257-258

सृष्टि उत्पति हो सकती है।[1] मीमांसक भी इस जगत् को अनादि एवं अनन्त मानते है। वे संसार की रचना में किसी रचयिता या पालनकर्ता के रूप में परमात्मा की स्थिति को स्वीकार नहीं करते।[2] बौद्ध दर्शन में ईश्वर का प्रतिषेध किया गया है। उनके मत में चेतना रूप कर्म से ही समस्त पदार्थ अधिष्ठित है।[3] बौद्ध दर्शन के अनुसार समस्त जगत् कार्य कारणात्मक होने के कारण प्रतीत्यसमुत्पन्न है। अनात्मवाद बुद्धधर्म का एक स्तम्भ है। जिस पर उनका समस्त आचार-विचार रूपी महल खड़ा है। बौद्ध धर्म में बड़े ही सुन्दर ढंग से आत्मवाद का खण्डन करते हुए अनात्मवाद का समर्थन किया गया। उनके खण्डन का मुख्य तत्त्व है कि आत्मवादी जन आत्मा के स्वरूप को बिना जाने ही उसके लिए अच्छे एवं बुरे कर्म करते रहते हैं। यदि कोई आत्मा के स्वरूप को जाने बिना ही उस असत् रूप आत्मा के लिए नाना प्रकार के कर्मों को करता है, तो वह हास्यास्पद है।[4]

(ङ) पुनर्जन्मवाद

चार्वाक को छोड़कर शेष सभी दर्शनों में पुनर्जन्म के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। भगवान् बुद्ध ने भी पूर्णतः इसे स्वीकार किया है। भगवान् बुद्ध बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने से पहले अनेक जन्मों को धारण कर चुके थे। उन्हें कई एक जन्मों का स्मरण भी था।[5] स्वयं भगवान् बुद्ध अपने परिव्राजक से कहते हैं कि- मैं जब चाहता हूँ अपने अनेक पूर्वजन्मों को स्मरण कर सकता हूँ। शरीर और नाम के सहित मुझे अपने पूर्व-जन्म का स्मरण रहता है।[6] जातकमालाओं में ऐसी कथाएँ हैं जहाँ बोधिसत्त्व का कई बार ऐसे प्राणियों से सम्पर्क हुआ जो अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को जानते थे।[7] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं जहाँ बोधिसत्त्व के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त मिलता है।[8] बोधिसत्त्वचरितम् में कई एक सर्गों में इस प्रकार के कथानक हैं जिनमें पात्रों के पूर्वजन्म के वृत्तान्त वर्णित हैं।[9] इस प्रकार पूर्व

---

1. भारतीय दर्शन, डॉ० ममतामिश्रा, तृतीय अध्याय, पृ. 64-65
2. वही, पृ.230
3. बौद्धन्यायविमर्श, डॉ० देवी सिंह, पृ. 128
4. बौ.द.मी., सप्तम परिच्छेद, पृ. 67-71
5. जातक, 1-5 खण्ड, भदन्त आनन्द कौसल्यायन।
6. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, चौथा प्रकरण, पृ. 473
7. श्री.बो.स.च., 6.34
8. वही, 11.13
9. वही, दशम-एकादश सर्ग, (भल्लाटियजातक, किन्नर एवं किन्नरी कथा)

जन्म का आधार कर्म माना गया है। जन्म की अपेक्षा कर्म की प्रधानता मानी गई है। कर्म कभी नष्ट नहीं होता। कर्त्ता को अपने किए हुए कर्मों का ही फल मिलता है, व्यक्ति उसमें कुछ नहीं कर सकता।[1] कर्ता को अपने किए हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इस प्रकार कर्म और फल में अन्योऽन्याश्रित भाव होने से यह संसार चक्र सतत चलता रहता है। प्रश्न है कि आत्मा को शाश्वत एवं नित्य मानने में तो पुनर्जन्म के विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं पर भगवान् बुद्ध के द्वारा आत्मा के अस्तित्व को नकारने पर भी स्वयं अनेक योनियों में जन्म लेकर तत्-तत् जन्मों के कार्यों का स्मरण रखना कैसे संभव है?[2]

राजा मिलिन्द ने इस विषय में दीपशिखा का दृष्टान्त देते हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझाने की चेष्टा की। उनका कहना था कि जिस प्रकार रात्रि भर देखने में तो एक ही दीपक जलता रहता है परन्तु उसकी शिखा प्रतिपल बदलती रहती है। इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु के विषय में समझना चाहिए। इसी पूर्वजन्म के सिद्धान्त को दूध से बनी हुई वस्तुओं के दृष्टान्त से भी समझाया गया है। जिस प्रकार से दूध से दही, दही से मक्खन एवं मक्खन से घी बन जाता है। वे सब दूध न होकर दूध का विकार मात्र है। इसी प्रकार से पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी विज्ञान की अवस्था समझनी चाहिए।[3]

पुनर्जन्म का बौद्धदर्शन में इतना महत्त्व है कि इसकी स्वीकृति के बिना बौद्धधर्म स्वतः ही अवरुद्ध हो जाएगा और बोधि को किसी भी प्रकार से बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि सुमेध कथा से स्पष्ट है कि शाक्यमुनि ने 550 विविध जन्म लेकर दस पारमिताओं के द्वारा सम्बोधि की प्राप्ति की थी।[4] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने इसी पुनर्जन्म की व्यापक व्याख्या के लिए ही श्रीबोधिसत्त्वचरितम् जैसे महाकाव्य में एकमात्र बोधिसत्त्व के अनेक पुनर्जन्म की कथाओं को कथावस्तु के रूप में स्वीकार किया है। एक ही बोधिसत्त्व अपने कर्मों के कारण अनेक जन्म ग्रहण करता है।[5] यद्यपि शरीर रूप से वह भिन्न है किन्तु सभी में एक ही बोधिसत्त्व की आत्मा के होने से इस महाकाव्य का नायक एक मात्र बोधिसत्त्व ही है।[6]

1. श्री.बो.स.च., 12.40; 50
2. बौद्ध दर्शन तथा अनात्मवाद, डॉ० ललिता शर्मा, पृ. 57
3. बौ.द.मी., सप्तम परिच्छेद, पृ. 76
4. बौ.ध.द., नरेन्द्रदेव, पृ. 182
5. श्री.बो.स.च., सर्ग I, II, III, IV, V, VI, X, XI, XII, XIII
6. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्, एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० धर्मेन्द्रगुप्त (IVX)

(च) बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व का परिचय

बोधिसत्त्व की कल्पना बौद्धधर्म की महायान शाखा की देन है। हीनयान की अपेक्षा महायान में बोधिसत्त्व का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। महायानशाखा को लेकर लिखी गई जितनी जातकमालाएं हैं, उन सब का मुख्य पात्र बोधिसत्त्व है। वास्तविकता तो यह है कि समस्त जातकसाहित्य का प्रेरणा स्रोत बोधिसत्त्व ही है।[1] विद्वानों ने बोधिसत्त्व का सामान्य अर्थ बुद्धत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील प्राणी कहा है। इस दृष्टि से बोधिसत्त्व को भावी बुद्ध कहा जा सकता है। पालि-साहित्य को पढ़ने से प्रतीत होता है कि बोधिसत्त्व का प्रयोग सम्बोधि प्राप्त करने से पूर्व शाक्यमुनि के लिए हुआ करता था क्योंकि शाक्यमुनि की अनेक जन्मों की कथाएं जातकों में विद्यमान हैं। अतः उनके विस्तार तथा प्रसिद्धि के साथ-साथ जातक-साहित्य में बोधिसत्त्व का भी विस्तार होता गया। शाक्यमुनि के अतिरिक्त भी जिन जातककथाओं में जिन-जिन बुद्धों की चर्चा की गई है सम्बोधि से पहले, उन सभी के लिए भी बोधिसत्त्व का ही प्रयोग मिलता है।[2] प्राचीन समय में बुद्धत्व का आदर्श किसी उच्च साधक का था। वह नाना जन्मों में पारमिताओं का अभ्यास करता था। जातककथाओं में भी स्पष्ट लिखा हुआ है कि शाक्यमुनि ने बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए 547 योनियों में जन्म लेते हुए पारमिताओं का पालन किया था। बुद्ध होने से पूर्व वे बोधिसत्त्व थे। बोधिसत्त्व का इतना महत्त्व है और वह इतना परोपकारी है कि बोधिसत्त्व संसार के जीवों के कल्याण के लिए निर्वाण में अपने प्रवेश को भी स्थगित कर देता है। वह सभी जीवों को दुःखों से मुक्त करना चाहता है। बोधिसत्त्व के बिना बुद्ध बनना संभव नहीं। भगवान् बुद्ध की जीवन गाथाओं को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि वह भी पूर्व जन्म में बोधिसत्त्व थे।[3] बोधिसत्त्व की अवधारणा का यह भी एक मुख्य उद्देश्य है कि महायान और हीनयान का भेद बोधिसत्त्व को लेकर किया जाता है। हीनयान का आदर्श अर्हत् है। महायान का आदर्श बोधिसत्त्व है। अर्हत् केवलमात्र अपने ही निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, उसके सम्पूर्ण कार्यकलाप का उद्देश्य केवल अपना निर्वाण प्राप्त करना है किन्तु बोधिसत्त्व का लक्ष्य इसके विपरीत है। उसकी अवधारणा केवल अपने तक सीमित न रह कर उसके हृदय में आकीट पतङ्ग सभी

---

1. जातक, 1-5 खण्ड, भदन्त आनन्द कौसल्यायन।
2. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ. 74-76
3. बौ.ध.द., डॉ० नरेन्द्रदेव, पृ. 180

प्राणियों के कल्याण की भावना निहित होती है और वह सभी प्राणियों को निर्वाण में प्रतिष्ठित करना चाहता है।[1]

वह एक ऐसा रत्न है जो अपने आप न तो स्वर्ग चाहता है, न अपवर्ग, न कीर्ति, अपितु तीनों लोकों की रक्षा के प्रति उसका ध्यान रहता है।[2] इस प्रकार बोधि शब्द सम्यक् ज्ञान, लोकोत्तर पूजा, सर्वज्ञता, सम्यक् सम्बोधि इत्यादि शब्दों का सूचक है और सत्त्व का तात्पर्य प्राणी है। मिलिन्दपञ्हों में सत्त्व शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि पांच स्कन्धों से युक्त प्राणी सत्त्व कहा जाता है और बोधि के साथ सम्बन्ध होने से बोधिसत्त्व शब्द ऐसे प्राणी का वाचक होता है जो सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति को चाहने वाला हो। बोधिसत्त्व को छोटे से शब्दों में अगर कहा जाए तो बुद्धत्व का अभ्यर्थी कहा जा सकता है।[3] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् का नायक बोधिसत्त्व ही है जिसमें बोधिसत्त्व के पूर्वजन्मों का वर्णन है। भगवान् बुद्ध तो सर्वज्ञ थे ही पर बोधिसत्त्व की अवस्था में उन्हें अपने पूर्व-जन्म की घटना याद होती थी। बोधिसत्त्व के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आए हैं जब किन्हीं विशेष प्राणियों को देखकर उनको अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण हो आता था।[4] इस महाकाव्य के प्रधान पात्र भी बोधिसत्त्व हैं। वे कभी मनुष्य योनि में कभी राजा,[5] कभी आचार्य,[6] कभी कृषक,[7] कभी श्रेष्ठी,[8] कभी वैश्य[9] के घर पैदा हुए। इस प्रकार नायक स्वरूप श्रीबोधिसत्त्व के कर्म दिव्य एवं अद्भुत हैं। उनका जीवन अलौकिक एवं आदर्शमय दिखाया गया है इसलिए आर्य धर्म-सङ्गति में बोधिसत्त्व के कर्म के विषय में कहा गया है कि उसे बहु धर्म शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती अपितु एक ही धर्म से सभी धर्मों की प्राप्ति हो जाती है तथा उसमें महाकरुणा के उदय होने से सभी धर्मों में प्रवृत्ति हो जाती है। धर्म से तात्पर्य यहाँ कर्म से है।[10]

---

1. बौ.द.मी., पृ. 105
2. जा.मा., 2.28
3. नि.क., अनु. डॉ० महेशतिवारी, पृ. 36
4. श्री.बो.स.च., 11.13; 6.34
5. वही, 2.4 राजा श्रीकुमार के नाम से प्रसिद्ध।
6. वही, 6.34
7. वही, 12.3
8. वही, 13.2
9. वही, 1.5
10. जा.मा. 2.28

बोधिसत्त्व का अर्थ–बोधिसत्त्व का शाब्दिक अर्थ क्या है? इस विषय में विद्वानों की एक राय नहीं है। बोधिसत्त्व में बोधि+सत्त्व इन दो पदों का संयोग है। इसमें बोधि शब्द का अर्थ प्रायः सभी विद्वान् बुद्धत्व मानते हैं किन्तु सत्त्व शब्द के विषय में विद्वानों में मतभेद है। समाधिराजसूत्र में सत्त्व का अर्थ प्राणी स्वीकार किया गया है। पालि में सत्त का अर्थ सजीव पदार्थ माना गया है अतः उसका अर्थ किया गया "जो प्राणियों को ज्ञानवान् बनाता है वह बोधिसत्त्व है।"[1] बोधिचर्यावतारपञ्जिका में इसका व्युत्पत्ति परक अर्थ करते हुए लिखा गया है कि बोधि अर्थात् ज्ञान पर ही जिनका मन, प्रवृत्तियां, विचार, इच्छाएं केन्द्रित हों वह बोधिसत्त्व है।[2] शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता में बोधि का अर्थ बुद्धत्व तथा सत्त्व का अर्थ गुप्त, अज्ञात, अव्यक्त किया गया है। इसके अनुसार बोधिसत्त्व वह है जिसमें बुद्धत्व अव्यक्त रूप से या गुप्त रूप से अथवा अज्ञात रूप से निहित रहता है।[3] मोनियर विलियमस् ने सत्त्व का अर्थ बुद्धि, चरित्र, ज्ञान और प्रकृति किया है और बोधि का अर्थ पूर्ण ज्ञान किया है। जिसका अर्थ हुआ "जिसकी प्रकृति पूर्णज्ञानमय होती है, वह बोधिसत्त्व कहलाता है।" एच.एस. गौड़ के अनुसार सत्त्व का अर्थ गुप्त, अज्ञात, अव्यक्त है। उनके अनुसार बोधिसत्त्व वह है जिसमें बोधि अर्थात् ज्ञान अव्यक्त रूप से निहित है। डॉ० एच. कर्ण ने बोधिसत्त्व शब्द को सांख्य-योग में प्रयुक्त बुद्धि-तत्त्व का पर्याय मानते हुए लिखा कि "अन्तर्निहित बुद्धि का मानवाकार रूप ही बोधिसत्त्व है।" के. ई. न्यूमन ने सत्त्व को पालि सत्त का रूपान्तर मानकर शक्त का अर्थ सटा हुआ (मिला हुआ) किया है। इनके अनुसार बोधिसत्त्व का अर्थ बोधि में संलग्न प्राणी है।[4] "बौद्ध परम्परा में बोधिसत्त्व उसे कहते हैं जिसका लक्ष्य बोधि प्राप्त करना है।" सभी व्युत्पत्तिपरक अर्थों का यदि सार लिया जाए तो कहा जा सकता है कि बोधिसत्त्व वह प्राणी है, जो सम्बोधि की प्राप्ति करना चाहता है।[5] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री की भी यही मान्यता है कि बोध प्राप्त करके ही साधक बोधिसत्त्व कहलाता है।[6]

बुद्धचरितम् में भी बोाधिसत्त्व के विषय में वर्णन मिलता है। वहाँ बोधिसत्त्व को

---

1. समाधिराजसूत्र, निदान परिवर्तः, पृ. 1
2. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्र पाल सिंह, पृ. 78
3. बोधिः स चासौ महाकृपाशयेन सत्त्वालम्भनात् सत्त्वश्चेति बोधिसत्त्वः।
   –शतसाहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता, पृ. 2
4. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्र पाल सिंह, पृ. 79
5. नि.क., सम्पा. डॉ० महेशतिवारी, पृ. 36
6. श्री.बो.स.च., 2.3

पूर्ण बोधिसत्त्व कहा गया है।[1] तिब्बती भाषा में भी बोधिसत्त्व के विषय में कहा गया है कि बोधिसत्त्व वह है जिसकी प्रकृति बोधि हो गई है।[2] गौतम बुद्ध भी पूर्ण बुद्ध बनने से पूर्व बोधिसत्त्व कहलाए। बोधिसत्त्व के रूप में उनका वर्णन निदान कथा, बुद्ध वंश, दीर्घनिकाय इत्यादि में वर्णित है। भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम सुमेध के रूप में दीपङ्कर बुद्ध द्वारा बुद्धत्व विषयक धारणा प्राप्त की। जिसके बाद 23 बुद्धों से उनका साक्षात्कार हुआ। ये सभी बुद्ध बनने से पूर्व बोधिसत्त्व के रूप में अनेक रूपों में देखे गए हैं।[3]

(छ) प्रतीत्यसमुत्पाद का स्वरूप तथा उपादेयता

भारतीय दर्शन के प्राय: सभी सम्प्रदायों ने कार्य कारणवाद को अपनी ज्ञान मीमांसा का अभिन्न अंग माना है। न्याय दर्शन असत्कार्यवाद को स्वीकार करता है[4] तो सांख्यदर्शन सत्कार्यवाद को मानता है।[5] इसी प्रकार अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों ने भी कार्य कारणवाद को अपने-अपने सिद्धान्तों में अपनाया है अर्थात् सभी दर्शनों के अनुसार समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश की प्रकिया इसी सिद्धान्त पर आधारित है। बौद्ध दर्शन में कार्य कारणवाद को एक विशेष सिद्धान्त से अभिहित किया गया है, जिसका नाम है-**'प्रतीत्यसमुत्पाद'**। यह सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का सार कहा जाता है, अर्थात् जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है। जड़ और चेतना का नियामक तथा उत्पत्ति और विनाश का प्रदर्शक यह प्रतीत्यसमुत्पाद ही है।[6] भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को केवल अष्टाङ्गिक-मार्ग द्वारा धर्म का उपदेश मात्र किया। इन्होंने कहीं भी दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा नहीं की किन्तु उनके उपदेशों में दर्शन के मूल-बीज समाहित थे जिसको आधार मानकर दर्शन का एक विशाल वृक्ष उत्पन्न हुआ जो आज भी विद्यमान है। उसमें सबसे पहला अङ्कुर प्रतीत्यसमुत्पादवाद नाम से उत्पन्न हुआ।[7] यही बौद्ध-दर्शन का सारतत्त्व है तथा आधारभूत सिद्धान्त है। यही

---

1. स बोधिसत्त्वः परिपूर्णसत्त्वः ....। बु.च., 9.30
2. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्र पाल सिंह, पृ. 81
3. बौ.ध.द., डॉ० नरेन्द्रदेव, पृ. 181
4. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवस्वरुप सहाय, न्याय दर्शन, पृ. 313
5. सा.का., 9
6. मज्झिमनिकायपालि, मूलपण्णासकं, महाहत्थिपदोपमसुत्तं, पृ. 364-376
7. कतमो च, भिक्खवे पटिच्चसमुप्पादो? अविज्जापच्चया भिक्खवे, सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरुपं, नामरुपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो

बुद्ध शिक्षाओं का केन्द्र है। बुद्ध के सिद्धान्तों का समावेश इसी में किया जा सकता है।[1]

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ—प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है सापेक्ष कारणतावाद अर्थात् एक के होने पर दूसरे की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रति का अर्थ प्राप्ति है। इसमें /इण् धातु गत्यर्थक होने पर भी (प्रति+इ क्त्वा) होने पर उपसर्ग के कारण प्राप्ति अर्थ में गृहीत है। प्रतीत्य का अर्थ है प्राप्त कर/पद् सत्तार्थक है। सम+ उत्+पत् इसका अर्थ होगा प्रादुर्भाव अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्यवस्तु की उत्पत्ति।[2] प्रतीत्यसमुत्पादवाद को मध्यमा-प्रतिपदा भी कहा गया है। आचार्यबुद्धघोष ने प्रतीत्यसमुत्पादवाद को दो भागों में बाँय है। (1) प्रतीत (2) समुत्पाद। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध-दर्शन का कारण कार्य सिद्धान्त है। यह नितान्त सत्य है कि संसार के सभी सत्त्व अर्थात् प्राणी किसी नियम के अधीन हैं और वह नियम प्रतीत्यसमुत्पाद है। वह अनादि है, अनन्त है।[3] प्रतीत्यसमुत्पादवाद के 12 अङ्ग हैं, इसलिए इसको द्वादशाङ्ग भी कहा जाता है। इसमें एक अङ्ग दूसरे के प्रत्यय से होता है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद है। वे द्वादशाङ्ग निम्न प्रकार से हैं[4]—

(1) अविद्या—अविद्या का अर्थ अज्ञान है। दुःख में सुख, अनात्म में आत्मा ढूंढना अज्ञान है। अविद्या का कारण आश्रव माना गया है अर्थात् आश्रव से अविद्या उत्पन्न होती है। तदनन्तर समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है।

(2) संस्कार—संस्कार का अर्थ कर्म है। अविद्या के कारण प्राणी जो अच्छे-बुरे कर्म करता है वही संस्कार है।[5]

फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानापच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं, सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्य दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति।

—संयुत्तनिकायपालि, निदानसंयुत्तं, विभङ्गसुत्तं, पृ. 4

1. भारतीय दर्शन, डॉ० ममतामिश्रा, पृ. 77
2. बौ.द.मी., पृ. 60
3. भारतीय दर्शन, डॉ० नन्दकिशोर देवराज, पृ. 156
4. बौ.द.मी., पृ. 63
5. ब्र.सू., शां.भा., 2.2.19

(3) विज्ञान—प्राणी जब माता के गर्भ में आता है, चेतना प्राप्त करता है वह क्षण विज्ञान है।[1]

(4) नामरूप—इससे नाम और पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों का ग्रहण होता है। इसलिए इसको पञ्चस्कन्ध कहा जाता है। इसी को कलल भी कहा जाता है।

(5) षड्-आयतन—आयतन का अर्थ इन्द्रिय है। जब भ्रूण माता के गर्भ से बाहर आता है तथा उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग प्रत्यक्ष तो हो जाते हैं पर वह उसका प्रयोग नहीं करता उसी अवस्था को षड्-आयतन कहा जाता है।

(6) स्पर्श—जब बच्चा दृश्य पदार्थों के साथ सम्पर्क कर इन्द्रिय और मन के द्वारा संसार के विषयों को समझने लगता है, उसे स्पर्श कहते हैं।

(7) वेदना—इन्द्रिय और विषयों के संयोग से मन पर पड़ने वाला पहला प्रभाव वेदना है। वेदना तीन प्रकार की है–(1) दुःखात्मक (2) सुखात्मक (3) उभयात्मक।

(8) तृष्णा—विषयों के प्रति जब इन्द्रियां आकृष्ट हों और वह उन विषयों से सुख प्राप्त करने का निश्चय करे, उसको तृष्णा कहते हैं।

(9) उपादान—इन्द्रियों द्वारा विषयों को दृढ़ता पूर्वक ग्रहण करना उपादान है।

(10) भव—भू सत्तायाम् से भव बना है। जिसका अर्थ है होना यह पुनर्जन्म कराने वाला प्रत्यय है।

(11) जाति—जाति का अर्थ जन्य है। जाति पांच स्कन्धों का स्फुरण मात्र है। भगवान् बुद्ध ने स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण जाति को माना है।

(12) जरा मरण—त्वचा का ढीला होना, शरीर में झुर्रियां पड़ना जरा है। शरीर का सर्वथा नष्ट होना मरण है।

प्रतीत्यसमुत्पाद में इन द्वादश अङ्गों की कार्य कारणता की एक शृङ्खला है जो परस्पर बंधी हुई है। इसका उदाहरण कुंए से जल निकालने वाले अर्हट से दी जा सकती है। इस संसार से दुःख इत्यादि को दूर करने के लिए उस शृङ्खला को तोड़ कर भव प्रत्ययों को दूर करना होगा।[2] बौद्ध मतानुसार इस प्रतीत्यसमुत्पाद को अच्छी

---

1. बौ.द.मी., पृ. 65
2. भा.द., डॉ० नन्दकिशोर देवराज, पृ. 158-159.

प्रकार समझ कर जिस संसार का निरोध करने पर जिस सत्य की प्राप्ति होती है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद प्राणी के जीवन में प्राप्ति का लक्ष्य रहता है।[1]

अतः प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि संसार में जितने भी पदार्थ है सब कार्यरुप है और कारण साक्षेप है। एक भी पदार्थ निष्कारण नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रसिद्ध सूत्र है 'अस्मिन् सति इदं भवति' अर्थात् इसके (कारण के) होने से यह कार्य होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है कार्य की उत्पत्ति। वस्तुतः कार्य अपनी सत्ता के लिए कारण पर आधारित है, स्वतन्त्र नहीं। कार्य अपनी उत्पत्ति तथा सत्ता के लिए अपने कारण पर निर्भर करता है और उसके नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है। अतः प्रत्येक कार्य क्षणिक है अस्थायी है।

बौद्ध दर्शन में कार्य-कारण की शृङ्खला बारह कड़ियों में चली है जिन्हें 'द्वादशनिदान' कहते है। इसकी कल्पना एक चक्र के रुप में की गयी है। इसे ही धर्मचक्र या ब्रह्मचक्र भी कहते है। इस द्वादशनिदान का उपदेश लोगों को सारनाथ में दिया गया था जिसे धर्मचक्रप्रवर्तन कहते है। यह संसार दुःख है और जरा मरण इस दुःख का प्रतीक है। इस दुःख रूप संसार में व्यक्ति को क्यों आना पड़ा और इस दुःख का निरोध कैसे किया जाये, इन्हीं प्रश्नों के हल जानने के लिए बुद्ध ने द्वादशनिदान रुप प्रतीत्यसमुत्पाद की खोज की। जरा-मरण इसलिए होता है, क्योंकि 'जाति' (जन्म) है। हम संसार में दुःखों का भोग इसलिए करते है, क्योंकि हम जन्म लेते है, पर हम जन्म ही क्यों लेते है? जन्म लेने का कारण भव अर्थात् हमारी स्वयं की जन्म लेने की इच्छा है। पर हम जन्म क्यों लेना चाहते हैं? इस जन्म लेने की इच्छा का कारण उपादान है अर्थात् संसारिक विषयों से लिपटे रहने की अभिलाषा है। उपादान का कारण तृष्णा हैं। शब्द, स्पर्श आदि विषय भोग करने की वासना के कारण ही संसारिक विषयों से लिपटे रहने की अभिलाषा करते है पर तृष्णा क्यों होती है? तृष्णा का कारण है वेदना (feelings)। हम विषयभोगों की कामना इसलिए करते है कि हमें उनसे सुख मिलता है। वेदना का कारण स्पर्श है। स्पर्श से तात्पर्य विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क अर्थात् संयोग से है। स्पर्श इसलिए सम्भव होता है कि षडायतन (मनसहित ज्ञानेन्द्रिय पूचक) है। षडायतन का कारण नामरूप और यह नामरूप स्वतः विज्ञान का कार्य है। विज्ञान का अर्थ है चैतन्य, प्राण, आत्मा। यह विज्ञान ही इन्द्रियों को शक्ति देता है और इसके निकल जाने पर कुछ नहीं बचता। इस विज्ञान का बन्धनग्रस्त होने का कारण कर्मगत संस्कार है। पिछले संचित कर्म ही

1. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवस्वरूपसहाय, पृ. 259

संस्कार के रुप में वर्तमान रहते है। यह संस्कार ही चेतना को बंधन में डाल देता है। यह संस्कार कर्मों के साथ जुड़े हुए है। जहाँ कही भी अविद्या है। वहाँ कर्म का होना आवश्यक है इसलिए दु:ख का मूल कारण आदिनिदान अविद्या ही है। इन दु:खों से छुटकारा तभी मिल सकता है जब दु:ख का मूल कारण अविद्या नष्ट हो जायें। अन्यथा अविद्या के वर्तमान रहने पर कर्म होते है और फिर संस्कार आ जाते है। कर्मों के संस्कार छूटते नहीं अपितु बीज रुप से सूक्ष्म शरीर में वर्तमान रहते है, परन्तु अविद्या का नाश बोधि से ही सम्भव है। अत: मोक्ष का मूल साधन ज्ञान है। अत: बुद्ध की मुख्य शिक्षा उनका यह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त ही है।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद की उपादेयता—प्रतीत्यसमुत्पादवाद बौद्धदर्शन एवं धर्म का मूल सिद्धान्त है। सम्पूर्ण बौद्धसाहित्य में किसी न किसी प्रकार इसका वर्णन प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध ने भी अन्तिम समय में इसका साक्षात्कार किया था।[1] बौद्ध दर्शन के लिए जितनी धर्म की उपादेयता है, उतनी ही प्रतीत्यसमुत्पादवाद की भी है। इसी के आधार पर शाश्वतवाद, अहेतुकवाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अक्रियावाद, उत्पत्तिवाद, सत्कार्यवाद, विवर्तवाद इत्यादि का खण्डन किया जाता है और ईश्वर जैसे महान् कारणता का खण्डन भी प्रतीत्यसमुत्पाद के बिना संभव नहीं। भवचक्र से ही संसार की प्रामाणिकता सिद्ध होती है और भवचक्र का मूल द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसी को तथता, अवितथता, अनन्यथता और इदंप्रत्ययता भी कहा जाता है।[2] इसके बिना बौद्धों का जन्म-मरण का सिद्धान्त भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह इस प्रतीत्यसमुत्पाद की महिमा है जो सिद्ध करता है कि किस प्रकार एक आलय की समाप्ति के बाद दूसरा आलय तत्क्षण उत्पन्न होता है तथा पूर्व-पूर्व विज्ञानों के कर्म तथा उसके फल उत्तरोत्तर विज्ञान को प्राप्त होते हैं तथा क्षणिकवाद में भी एक अनित्य जीव जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों को भोगता हुआ नाना प्रकार की योनियों में विचरण करता है तथा पूर्वजन्म के अच्छे एवं बुरे कर्मों के फल को भोगता है।[3] भगवान् बुद्ध ने धर्म और प्रतीत्यसमुत्पाद को अभिन्न बताते हुए कहा कि जो कोई प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है। जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है।[4]

---

1. भा.द., डॉ० ममतामिश्रा, पृ. 70
2. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, चौथा प्रकरण, पृ. 375
3. बौ.ध.द., नरेन्द्रदेव, पृ. 225
4. वही, पृ. 375

आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि प्रतीत्यसमुत्पाद भगवान् बुद्ध की करुणा का ज्ञानमय फल है। अतः यह पूर्ण रूप से कल्याणकारी तथा परिपूर्णता से युक्त है।[1] प्रतीत्यसमुत्पाद की उपयोगिता बताते हुए डॉ० भरतसिंह उपाध्याय लिखते हैं कि 'बौद्धदर्शन के विकास तथा भगवान् बुद्ध के दर्शन को समझने के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद नितान्त आवश्यक है।'[2] प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्त्व स्वीकार करते हुए नागार्जुन ने भी अपने शून्य की सिद्धि के लिए इसका आश्रय लिया तथा उसे शून्यता बताया। उनके मत से वही उपाय है तथा वही प्रज्ञाति है।[3]

(ज) बौद्धधर्म में मान्य पारमिताओं का स्वरूप तथा उनका महत्त्व

भगवान् बुद्ध ने अपने जीवनकाल में किसी भी प्रकार के दर्शन एवं सम्प्रदाय को स्वीकार नहीं किया था। वे संसार के प्राणियों को दुःखी देख कर, उनके दुःखों को दूर करने का उपदेश भी करते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् बौद्ध प्रचारक जब अन्य प्रदेशों में बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करने लगे तब उन्हें अनेक प्रकार के प्रश्नों का सामना करना पड़ा। ऐसी स्थिति में बौद्ध-भिक्षुओं ने उनके प्रश्नों का उत्तर देना प्रारम्भ किया। जिससे बौद्धधर्म में अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। धार्मिक दृष्टि से भी बौद्धमत दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था।

(1) हीनयान

(2) महायान।[4]

हीनयान—हीनयान में बौद्धदर्शन का सबसे प्राचीन रूप छिपा हुआ है। हीनयान का अर्थ है निम्न-मार्ग या निकृष्ट-मार्ग। यह हीन+यान दो शब्दों से बना है। इसमें हीन का अर्थ निम्न या तुच्छ, यान का अर्थ मार्ग है अर्थात् तुच्छ-मार्ग। इतिहासकारों के अनुसार यह एक स्वार्थमूलक सङ्कीर्ण दृष्टिकोण वाला मार्ग है। इसका एकमात्र लक्ष्य अर्हत् होना या निर्वाण प्राप्त करना है। भगवान् बुद्ध के "आत्मदीपो भव" का अर्थ ही हीनयान का मूल मन्त्र है। हीनयान सम्प्रदाय के भिक्षु केवल अपना ही कल्याण चाहते हैं। इसमें लोककल्याण की भावना नहीं होती इसलिए इन्हें हीनयानी कहा गया है।[5]

---

1. विसुद्धिमग्ग, 17.304-314
2. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, डॉ० भरतसिंह, भा. 2, पृ. 379
3. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवस्वरूप सहाय, पृ. 260-61
4. भा.द., डॉ० ममतामिश्रा, पृ. 102
5. वही, पृ. 103

महायान:—महायान का अर्थ ही विस्तृत गमन है। इनकी मान्यताएं हीनयान से भिन्न हैं। हीनयानी ईश्वर की सत्ता को नकारते थे। महायानी उसे स्वीकार करते हैं। ये लोग बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियों की पूजा में विश्वास रखते हैं। ये केवल आत्म-कल्याण तक ही सीमित नहीं, अपितु लोक-कल्याण की भावना भी इनमें निहित होती है। महायानधर्म की सबसे बड़ी विशेषता बोधिसत्त्व की कल्पना है। महायानी का मानना है कि जब तक प्राणी मात्र निर्वाण प्राप्त न कर ले तब तक वे स्वयं भी निर्वाण के सुख को प्राप्त नहीं कर सकते। महायानियों का यही आदर्श बोधिसत्त्व कहलाता है। महायानी साधक के लिए बोधिसत्त्व ग्रहण करने के बाद पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये पारमिताओं का सेवन करना परम आवश्यक है।[1]

पारमिताओं का स्वरूप—पारमिता शब्द का अर्थ है पार चले जाना। इसका पालि रूप पारमी है। बुद्धत्व की सफलता के लिए सुमेरु नामक ब्राह्मण ने महान् प्रयत्न किया और उन्होंने ही उसकी सफलता के लिए बुद्ध-कालीन धर्मों का अन्वेषण किया। उसके बाद उन्हें दस पारमिताएं प्रकट हुईं। जिनका निर्देश दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा उपेक्षा के रूप में हुआ।[2] सर्वप्रथम दस भूमिक-सूत्र में दस पारमिताओं का नाम आया है।[3]

इन्हीं पारमिताओं का पालन करके शाक्यमुनि ने सम्बोधि प्राप्त की। इन पारमिताओं के अभ्यास के बिना बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता। महायान ग्रन्थों के अनुसार जो कोई बुद्धत्व की प्राप्ति करना चाहता है अर्थात् जो बोधिसत्त्व अवस्था में विद्यमान है उसके लिए पारमिताओं का पालन करना आवश्यक है।[4] पारमिताओं के स्वरूप से स्पष्ट है कि ये सभी पारमिताएं त्याग पर आश्रित हैं और बौद्ध-धर्म का सबसे मूल सिद्धान्त त्याग है। अतः सभी पारमिताओं के मूल में त्याग है और यह त्याग किसी वस्तु का, अङ्ग का या जीवन का हो सकता है। जातक कथाओं में त्रिविध त्याग का ही वर्णन प्राप्त होता है। त्याग के विषय भेद से पारमिताओं में भी भेद स्वीकार किए जाने के कारण ये पारमिताएं भी तीन प्रकार की मानी गई हैं - (1) पारमिता (2) उपपारमिता (3) परमार्थपारमिता। बोधिसत्त्व जब दान, शील, क्षान्ति आदि पारमिता की प्राप्ति के लिए अपने शरीर के किसी अङ्ग का त्याग कर

---

1. भा.द., डॉ० ममतामिश्रा, पृ. 102 पृ. 104
2. बौ.द.मी., पृ. 110
3. बौ.ध.द, नरेन्द्रदेव, पृ. 182
4. वही, पृ. 184

देते हैं तब यह त्याग परिपूर्ण होने के कारण उसे पारमिता कहा गया है और यह दस कही गई हैं।[1]

उपपारमिता—जब किसी पारमिता की पूर्ति शरीर के किसी अङ्ग के त्याग से न होकर किसी विशेष गुण के त्याग से हो तब वह उपपारमिता कहलाती है। यह भी दस होती हैं।[2] निदानकथा में कहा गया है कि इस लोक में बोधिसत्त्वों द्वारा अपनी बोधि को परिपक्व वाले तथा बुद्ध कारक धर्म 10 होने से इनकी संख्या दस है। इनके अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं।[3]

पारमिताओं का महत्त्व—महायानी सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है कि उससे स्वीकृत बोधि अपना उत्थान तो करता ही है। दूसरे के उत्थान की भी कामना करता है। जहाँ हीनयान मार्ग पर चलने वाला केवल उत्थान अपने दुःख का ही निरोध चाहता है वहाँ महायान धर्म पर चलने वाला सम्पूर्ण प्राणियों के जन्म-मरण आदि दुःखों को दूर करना चाहता है। वह यद्यपि निर्वाण प्राप्ति का पूर्ण अधिकारी हो जाता है, फिर भी संसार के दुःखों को दूर करने के लिए उस अधिकार का भी परित्याग कर देता है। वह साधक बोधित्व प्राप्त करने के लिए जिस धर्म का पालन करता है, वह धर्म बौद्ध-धर्म में कुशल कर्म कहा जाता है। कुशल कर्मों के पालन से ही भिक्षु उस स्थिति तक पहुँचता है जहाँ वह बोधी पदवी प्राप्त करता है। बोधिसत्त्व बौद्ध-धर्म का पूर्ण आदर्श है। उसे वहाँ तक पहुँचने में अष्टाङ्गमार्ग की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी पारमिताओं की। इस प्रकार महायान ग्रन्थों में पारमिताओं का अत्यधिक महत्त्व है।[4] बौद्ध-परम्परा में इतना महत्त्व अन्य का नहीं जितना पारमिताओं का है। पारमिताओं के बिना बुद्ध का प्रादुर्भाव संभव ही नहीं।[5] बौद्ध-धर्म में इसलिए भी पारमिताओं का महत्त्व स्वीकार किया गया कि बौद्धधर्म का चरम लक्ष्य परमार्थ तत्त्व का लाभ है और वह लाभ दान आदि पारमिताओं के बिना प्राप्त होना संभव नहीं है।[6] पारमिताओं के विषय में कहा गया कि इस लोक में बोधिसत्त्व द्वारा पूरे किए जाने वाले तथा बुद्धकारक धर्म इतने ही हैं। इन दस पारमिताओं को छोड़कर अन्य कुछ भी कहीं नहीं हैं। इन्हीं के आधार पर विश्वन्तर ने बुद्धत्व की प्राप्ति की।[7]

1. जा.वि., सुरेन्द्र पाल सिंह, पृ. 99
2. वही, पृ. 100
3. नि.क., सम्पा. डॉ० महेश तिवारी, पृ. 53
4. बौ.ध.द., नरेन्द्रदेव, पृ. 183
5. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्र पाल सिंह, पृ. 97
6. नि.क, सम्पा. महेश तिवारी, पृ. 48-49
7. वही, पृ. 63

पारमिताओं की उपादेयता बताते हुए लिखा गया है कि इन्हीं पारमिताओं की शिक्षा से बोधिसत्त्व अपनी साधना पूर्ण करते हैं। इस उदात्त एवं मङ्गलकारणी साधना में पारमिताएं ही प्रमुख कारण हैं। उनमें भी प्रज्ञा पारमिता की श्रेष्ठता को सभी ने स्वीकार किया है[1] क्योंकि महायान सम्प्रदाय की समाप्ति इसी में होती है। यही महायानियों का परम लक्ष्य है। प्रज्ञा पारमिता के महत्त्व के विषय में यहाँ तक कहा गया कि प्रज्ञा के बिना बुद्धत्व की प्राप्ति असंभव है और प्रज्ञा पारमिता का ही फ़ल बुद्धत्व है। अतः इनकी उपासना करना बौद्धों का प्रथम आचार है।[2] पारमिताओं की उपयोगिता का प्रदर्शन करते हुए कहा गया है कि शान्ति प्राप्त कराना ही इनका प्रमुख उद्देश्य है। जिस व्यक्ति में क्षमा नहीं वह किसी प्रकार से बुद्धत्व की ओर नहीं बढ़ सकता। डॉ० महेश तिवारी के शब्दों में 'बौद्ध परम्परा में पारमिताओं का बहुत महत्त्व है। बुद्ध के प्रादुर्भाव से बौद्धशासन का अस्तित्त्व है तथा इन दोनों को मूल स्वरूप पारमितायें हैं। इनके सम्यक् परिपाचक बिना बुद्ध का प्रादुर्भाव असम्भव है।[3] इससे स्पष्ट है कि जो बोधिसत्त्वों की तरह सङ्कीर्ण भाव को छोड़कर अपनी ही नहीं अपितु समस्त संसार के दुःखों को दूर करना चाहते हैं, उनको बोधिचित्त को स्वीकार (ग्रहण) करना चाहिए।[4] बोधिचित्त ग्रहण करने के बाद पारमिताओं का सेवन अत्यन्त आवश्यक है।[5] पारमिताओं के महत्त्व के विषय में डॉ० आचार्य नरेन्द्रदेव का मानना है कि महायान ग्रन्थों के पढ़ने से पारमिताओं के महत्त्व का स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। उनका इस विषय में लिखना है कि, महायान ग्रन्थों के अनुसार जो बुद्धत्व प्राप्ति के लिए यत्नवान है अर्थात् जो बोधिसत्त्व है उसे षट्–पारमिता का ग्रहण करना चाहिए। दान, शील आदि गुणों में जिसने पूर्णता प्राप्त की है उसके लिए कहा जाता है कि उसने दान, शील आदि पारमिता हस्तगत कर ली हैं इसी को बोधिचर्या कहते हैं।[6]

(झ) पारमिताओं के भेद

पारमिताओं की संख्या के विषय में मतभेद है। आचार्य नरेन्द्र पारमिताओं की

1. बौ.द.मी, पृ. 115–116
2. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्र पाल सिंह, पृ. 109
3. नि.क., डॉ० महेश तिवारी, पृ. 48–49
4. भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
   बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम्।।
   –बोधिचर्यावतार, शान्तिदेव, अष्टमश्लोक, पृ. 7
5. बौ.ध.मी., पृ. 110
6. बौ.ध.द. नरेन्द्रदेव, पृ. 184

उत्पत्ति तथा संख्या के विषय में लिखते हैं कि "बुद्धत्व की आकांक्षा की सफलता के लिए सुमेध बुद्धकारक धर्मों का अन्वेषण करने लगे, अन्वेषण करने से 10 पारमितायें प्रकट हुईं। वे दशपारमितायें ये हैं–

(1) दान पारमिता
(2) शील पारमिता
(3) नैष्क्रम्य पारमिता
(4) प्रज्ञा पारमिता
(5) वीर्य पारमिता
(6) क्षान्ति पारमिता
(7) सत्य पारमिता
(8) अधिष्ठान पारमिता
(9) मैत्री पारमिता
(10) उपेक्षा पारमिता[1]

आचार्य बलदेव ने 6 पारमिताओं को माना है जो निम्न प्रकार से हैं–

(1) दान पारमिता
(2) शील पारमिता
(3) शान्ति पारमिता
(4) वीर्य पारमिता
(5) ध्यान पारमिता
(6) प्रज्ञा पारमिता

हीनयान तथा महायान के संस्कृत ग्रन्थों में प्रायः इन्हीं 6 पारमिताओं का परिचय प्राप्त हैं।[2] 10 पारमिताओं का 6 पारमिताओं में अन्तर्भाव किया है। ये अन्तर्भाव निम्न प्रकार से हैं[3]–

---

1. बौ.ध.द., नरेन्द्रदेव, पृ. 182
2. बौ.द.मी., पृ. 110
3. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपालसिंह, पृ. 99

6 पारमिताएँ	दश पारमिताएँ
(1) दान	दान
(2) शील	शील
(3) शान्ति	शान्ति, सत्य, नैष्क्रमय
(4) ध्यान	मैत्री, उपेक्षा
(5) प्रज्ञा	प्रज्ञा
(6) वीर्य	वीर्य, अधिष्ठान

अन्तर्भाव हो जाने पर केवल मात्र 6 पारमिताओं के विषय में ही उत्तरवर्ती ग्रन्थों में वर्णन प्राप्त है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में भी इन षड्विध पारमिताओं का अभ्यास करते हुए श्रीबोधिसत्त्व को देखा जा सका है। बोधिसत्त्व में जिस किसी भी योनि में जन्म ग्रहण किया उसमें किसी न किसी पारमिता का अभ्यास अवश्य किया। उदाहरण के रूप में संक्षेप से निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है।

(ञ्) श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में पारमिताऐं

(1) दान पारमिता–सभी जीवों के लिए सभी वस्तुओं का दान देना और उस दान के फल का भी त्याग कर देना दान पारमिता कहलाती है। त्रिपिटकों में कुशल कर्मों के सम्पादन में दान पारमिताओं को गिना जाता है। बोधिसत्त्व के लिए शाठ्य, मात्सर्य, पैशुन्य और सांसारिक वस्तुओं में संलिप्तता त्याज्य है। इस दृष्टि से जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे उस वस्तु के बिना किसी फल की आकांक्षा से प्रदान कर देना ही दान पारमिता है।[1] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य में वर्णित कथावस्तु से स्पष्ट है कि बोधिसत्त्व ने उत्कृष्ट भावना से दान रूप कर्म किया था। काव्य में बोधिसत्त्व द्वारा किए गए दान कृत्यों का परिचय कई एक स्थ.नों पर मिलता है। उदाहरण स्वरूप कतिपय प्रसङ्ग उपस्थित किए जा सकते हैं। इसका सर्वश्रेष्ठ रूप त्रयोदश सर्ग में सेठ संघ चरित्र में प्राप्त है। जहाँ संघ घर पर आए हुए पीलिय सेठ की विपत्ति को सुनते हैं।[2] उसकी निर्धन अवस्था को देखकर सान्त्वना देते हैं[3] तथा पूर्णरूप से उसकी सहायता करते हैं–

---

1. बौ.द.मी., पृ. 111
2. श्री.बो.स.च, 13.17
3. वही, 13.20

वचनमिदमुदीर्य प्रीतिमान् सत्यसन्धः,
कृतसुहृदनुकम्पः स्फीतसौहार्दबन्धः।
स्वयमनुपधि चत्वारिंशतं वित्तकोटी
र्व्यतरदयममुष्मै सद्य आपन्निमित्तम्।।[1]

पीलिय को चालीस करोड़ मुद्राएं देते हुए आर्य संघ (बोधिसत्त्व) का मन तनिक भी दुःखी नहीं हुआ।[2] इसी का एक अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण अष्टम सर्ग में देखा जा सकता है। जब उन्मदन्ती अनेक प्रयत्नों से प्राप्त मनोनुकूल अपने वस्त्रखण्ड को एक नग्न बौद्ध भिक्षु को देने के विषय में सोच रही है–

मैंने कभी दान नहीं किया। अतः अपने शरीर का आधा वस्त्र इस भिक्षु को दान दे देती हूँ।[3] ऐसा सोचकर उसने अपना वस्त्रखण्ड भिक्षु को दे दिया।[4] नवम सर्ग में अहिपारक की अपने महाराजकुमार के प्रति पत्नी विषयक त्याग भावना भी दान पारमिता का उत्कृष्ट उदाहरण है।[5]

(2) शील पारमिता–बौद्ध धर्म की साधना का आधार शील है। निन्दनीय कर्मों से चित्त की विरति का नाम शील है।[6] शील के विषय में भगवान् बुद्ध का कथन है कि जिस प्रकार टिटिभ अपने अण्डे, गाय अपनी पूंछ, माता अपने बेटे, काणा व्यक्ति अपनी एक आंख की रक्षा करता है, बोधिसत्त्व को उसी प्रकार अपने शील (धर्म की रक्षा) करते हुए सदा अपने गौरव की रक्षा करनी चाहिए।[7] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के द्वितीय सर्ग में श्रीकुमार के रूप में उत्पन्न बोधिसत्त्व की कथा इस तथ्य पर पूर्णरूप से प्रकाश डालती है कि बोधिसत्त्व ने किस प्रकार अपूर्व मनोबल से शील का पालन किया। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री उसी की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि–

कथेयमानन्दयति प्रकामं
शीलं तथाख्याति मनोभिरामम्।

---

1. श्री.बो.स.च, 13.21
2. वही, 13.23
3. वही, 8.16
4. वही, 8.17
5. वही, 9.27-28
6. नि.क., सम्पा., डॉ० महेशतिवारी, पृ. 56
7. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ. 102

तस्मात् सदाचारवता जनेन
भाव्यं जगत्यां शुभकृत्यकेन।।[1]

शील पारमिता का अभ्यास करने वाला प्राणी तो दुष्ट के साथ भी सद्भाव का व्यवहार करना ही सिखाता है। काशीराज श्रीकुमार का सारथि अपने राजा के विषय में कहता है कि–

शान्तिपूर्वकमयं प्रयस्यति,
क्रोधमेष सुतरां निरस्यति।
साधुवद् व्यवहरन्नसाधुना–
प्युद्धतं प्रति सदैव शाम्यति।।[2]

(3) क्षान्ति पारमिता–शान्ति का अर्थ सहनशीलता है। मान–अपमान में एक जैसी स्थिति को बनाए रखना क्षान्ति है।[3] इस पारमिता के विषय में कहा गया है–

क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम्।।[4]

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में क्षान्ति पारमिता के सर्वविध रूप विद्यमान हैं। इसका विशद रूप इस महाकाव्य के द्वितीय–सर्ग में राजा शीलवान् के चरित में देखने को मिलता है। कोशलनरेश द्वारा शीलवान् को या तो युद्ध करो या मुझे राज्य दो। इस प्रकार का सन्देश दिया गया।[5] राजा शीलवान् समर्थशाली होने पर भी हिंसा के भय से युद्ध नहीं चाहता। कौशलपति शीलवान् का बहुत अपमान करता है पर वह शान्त रहता है–

वीतशोकभयक्रोधः स्थिरर्धीर्मुनिराडिव।
तटस्थः सन्न वैश्लिष्ट कोशलेश्वरचेष्टितम्।।[6]

दूसरे प्रकार की शान्ति–पारमिता में अनेक प्रकार की प्रताड़ना सहने पर भी मनुष्य प्रताड़ना करने वाले के उपर न तो क्रोध करे, न द्वेष, न बदले की भावना रखे।

---

1. श्री.बो.स.च., 2.65
2. वही, 2.58
3. नि.क., सम्पा. महेश तिवारी, पृ. 61
4. शिक्षासमुच्चय, शान्तिदेव, क्षान्ति पारमिता, नवम परिच्छेद, श्लो. 20
5. श्री.बो.स.च., 2.59
6. वही, 3.104

ऐसे स्थान पर परापकारमर्षण पारमिता होती है।[1] जैसे कोशलेश्वर के सेवकों द्वारा शीलवान् के हाथ पांव बांधने पर भी वह कुछ नहीं बोलता, अपितु–

तदानीं स महाराजः शीलवान् विगतस्मयः।
न स्तोकं मनसाऽप्यद्वेड् दृष्ट्वा प्रद्विषतोऽपि तान्।।[2]

अर्थात् राजा शीलवान् ने यह सभी कुछ तटस्थ भाव से सहन किया और शत्रु के प्रति तनिक भी क्रोध नहीं किया।

(5) प्रज्ञा पारमिता–प्रज्ञा का साधारण अर्थ है बुद्धि या ज्ञान। किन्तु बौद्धदर्शन में प्रज्ञा वह ज्ञान है,जिसके द्वारा संसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता का ज्ञान तथा निर्वाण का साक्षात्कार होता है।[3] बोधिचर्यावतार में प्रज्ञा पारमिता के विषय में कहा गया है कि–

सर्वपारमिताभिस्त्वं निर्मलाभिरनिन्दिते।
चन्द्रलेखेव ताराभिरनुयातासि सर्वदा।।[4]

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के बाहरवें सर्ग में जब बोधिसत्त्व कृषक के रूप में जन्म लेते हैं। उनके चरित्र में इस पारमिता का उदात्त रूप देखा जा सकता है। कृषक अपने पारिवारिक जनों को धर्म के विषय में तथा संसार की अनित्यता के विषय में समय–समय पर उपदेश करते हैं।[5]

कृषक के बेटे की सांप काटने से मृत्यु हो जाती है। कृषक तथा उसके परिवार को इससे तनिक भी कष्ट नहीं होता। बिना किसी कष्ट के उसका परिवार शव को जलाने लग जाता है। इन्द्र परीक्षा लेने के इरादे से सभी परिवार के सदस्यों से मृतक के विषय में प्रश्न पूछता है कि आप इसके शव को जलाते समय रो क्यों नहीं रहे हो।[6] प्रत्येक एक ही उत्तर देता है–

शोचाम्यतो न खलुं रोदिमि नैव चाहं,
स्वस्थः स्थितोऽस्म्यनुभवामि न दाहदुःखम्।

---

1. बौ.द.मी., पृ. 112
2. श्री.बो.स.च., 4.5
3. बौ.द.मी., पृ. 215
4. बोधिचर्यावतार, नवम परिच्छेद, प्रज्ञा पारमिता, पृ. 169
5. श्री.बो.स.च., 12.9
6. वही, 12.47

यादृङ् मृतो व्यथित कर्म, गतो गतिं तां,
कुर्यां तदर्थमहमत्र कथं नु चिन्ताम्।।[1]

(4) वीर्य पारमिता–वीर्य शब्द बौद्धदर्शन में पारिभाषिक है। इसका यहाँ उत्साह अर्थ है। क्षमाशील व्यक्ति उत्साही भी होता है। बोधि वही है जो कुशल कर्म के प्रति उत्साहित है। उत्साह के फलस्वरूप ही साधक को सभी कार्यों में अभीष्ट की प्राप्ति होती है।[2] बोधिसत्त्व ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए अनेकों जन्मों में ऐसे कर्म किए हैं जिनमें उन्होंने वीर्य पारमिता का पूर्ण रूप से पालन किया है।[3] बोधिचर्यावतार में वीर्य पारमिता के विषय में कहा गया है।

एवं क्षमो भजेद्वीर्यं वीर्ये बोधिर्यतः स्थिता।
न हि वीर्यं विना पुण्यं यथा वायुं विना गतिः।।[4]

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में उपलब्ध निम्न प्रसङ्ग इस विषय के द्योतक हैं। इस महाकाव्य के प्रथम-सर्ग की कथा में बोधिसत्त्व वैश्य-रूप से वर्णित है। समय आने पर वह व्यापार के लिए उत्साहित होते हैं। वे विक्रय के लिए नाना प्रकार की वस्तुओं को एकत्रित कर 500 बैलगाड़ियों को तैयार करते हैं[5] पर उसी समय दूसरा व्यापारी तैयार हो जाता है। बोधिसत्त्व अपना उत्साह कम नहीं होने देते अपितु कुछ दिन बाद व्यापार के लिए निकल पड़ते हैं।[6] रास्ते में उन्हें राक्षस दिखाई देता है।[7] घूमते हुए राक्षस उन्हें जल इत्यादि फेंकने के लिए कहता है पर बोधिसत्त्व मना कर देता है।[8] वैश्य रात भर पहरा देता है। किसी न किसी प्रकार राक्षसों से बचता है। उत्साह से काम करता है और अपने अभीष्ट को प्राप्त करता है।[9] व्यक्ति को उत्साहपूर्वक धैर्य से काम करना चाहिए। कवि लिखता है कि बोधिसत्त्व इसीलिए सफल हुआ क्योंकि उसका उत्साह अदम्य था–

---

1. श्री.बो.स.च., 12.50
2. बौ.द.मी., पृ. 113
3. नि.क., सम्पा. डॉ० महेशतिवारी, पृ. 61
4. बोधिचर्यावतार, सप्तम परिच्छेद, वीर्य पारमिता, श्लो. 1
5. श्री.बो.स.च., 1.9
6. वही, 1.65
7. वही, 1.73
8. वही, 1.103
9. वही, 1.97

लेभे परस्ताद् गमनेऽपि लाभं
श्रीबोधिसत्त्वो न च कृच्छ्रमार्दत्।
वणिक्सुतः पूर्वसरोऽपि हानिं
ग्लानिं च सव्यापदमापदेवम्।।[1]

(6) ध्यान पारमिता—ध्यान पारमिता से तात्पर्य है साधक को समाधि में चित्त को स्थिर करना। बोधिसत्त्व को संसार की प्रिय वस्तुओं से अपने चित्त को हटाकर वैराग्य का आश्रय लेकर मोह आदि को दूर करना होता है। मोह रहित प्राणी ही ध्यान में स्थित होकर चित्तवृत्तियों का निग्रह कर सकता है यही ध्यान है।[2] ध्यान पारमिता के विषय में बोधिचर्यावतार में कहा गया है कि—

वर्धयित्वैवमुत्साहं समाधौ स्थापयेन्मनः।
विक्षिप्तचित्तस्तु नरः क्लेशदंष्ट्रान्तरोर्स्थितः।।[3]

बोधिसत्त्वचरितम् में इसका उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है –

वैराग्यमाश्रयत मोहमुदस्यतालं
मृत्युं ध्रुवं समवगच्छत सर्वकालम्।
सम्यङ् नियम्य विषयान्निजचित्तवृत्तिं
दानादिसद्व्रतविधौ तनुत प्रवृत्तिम्।[4]

(7) सत्य पारमिता—जो घटना जिस रूप में घटित हो उसको उसी रूप में कहना सत्य पारमिता कहलाती है। अनुचित को भी यथार्थ रूप में व्यक्त करने से वस्तु के प्रति विरति होना ही इस पारमिता का प्रयोजन है।[5] बौद्ध दर्शन में सत्य कथन की सर्वत्र प्रशंसा की गई है। भगवान् बुद्ध का कथन है कि भयंकर से भयंकर भय या अनुचित आचरण के डर से किसी भी प्रकार असत्य भाषण नहीं करना चाहिए।[6] बौद्धसाहित्य में ऐसी अनेक कथाएं विद्यमान हैं।

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में भी इस प्रकार की अनेक घटनाएं देखी जा सकती हैं।

---

1. श्री.बो.स.च., 1.103
2. बौ.द.मी., पृ. 114
3. बोधिचर्यावतार, अष्टम परिच्छेद, ध्यान पारमिता
4. श्री.बो.स.च., 12.11
5. निदान कथा, सम्पा. डॉ॰ महेश तिवारी, पृ. 62
6. वही, पृ. 62

षष्ठसर्ग में एक भिक्षु जब भिक्षा लेने के लिए जाता है, वह एक रमणी को देखकर मुग्ध हो जाता है। अन्य भिक्षुओं के पूछने पर वह सत्य भाषण करता हुआ कहता है–

> शिरोमणिं तां पुरसुन्दरीणां
> चिराय रामां स्वमनोऽभिरामाम्।
> गाढं परिष्वज्य रमेय भूय-
> स्तदङ्गसंस्पर्शसुखं लभेय।।[1]

इसी प्रकार इसी पारमिता की उद्भावना सप्तम सर्ग में राजा शिवि के पुत्र श्रीकुमार के चरित्र से स्पष्ट झलकती है। वह एक बार किसी उत्सव में जाते हुए अपने मन्त्री अहिपारक की पत्नी उन्मदन्ती को देखकर उस पर आसक्त हो जाता है और कर्त्तव्याकर्त्तव्य मार्ग से च्युत हुआ देखकर उसका मन्त्री उसकी इस दशा का कारण पूछता है। वह राजा होते हुए भी उन्मदन्ती के प्रति अपनी कामुकता की बात को कह देता है। मान-अपमान की अपेक्षा न करता हुआ भी वह अपने सारथि से कहता है कि–

> अहो किमुच्येत विमोहनीयं,
> नामोन्मदन्तीत्युचितं हि धत्ते।
> उन्मादितोऽस्मि प्रसभं नताङ्ग्या,
> ययाऽनयाहं विनयान्वितोऽपि।।[2]

इस प्रकार राजा अपने मान-सम्मान का ध्यान न रखता हुआ सत्य रूप से कह देता है। इस पारमिता का यही उद्देश्य होता है कि मनुष्य को किसी अनुचित कार्य में प्रवृत्त कर उसको पश्चाताप की अग्नि में तपा कर शुद्ध स्वर्ण जैसा बना दे।[3]

1. श्री.बो.स.च, 6.14
2. वही, 8.56
3. निदान-कथा, सम्पा. डॉ० महेशतिवारी, पृ. 62

9

बौद्धकालीन समाज तथा संस्कृति

I समाज

साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है। अतः किसी भी समाज को समझने के लिए तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। जब किसी धर्म का उद्भव या ह्रास होता है तब उसके पीछे भी समाज या उसकी विचारधारा ही कारण होती है। बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव भी एक नहीं, अपितु अनेक कारणों से हुआ था। वे कारण थे आर्य-अनार्य विचारधाराओं का संघर्ष, ब्राह्मणों का नैतिक पतन, धार्मिक असन्तोष इत्यादि।[1] बुद्ध के उपदेशों को समझने के लिए तत्कालीन सामाजिक विचारधारा को समझना नितान्त जरूरी है। बुद्ध के समय समाज की दशा अत्यन्त अस्त-व्यस्त हो गई थी। डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने अपने इस महाकाव्य में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का यत्र-तत्र सङ्केत रूप से वर्णन किया है। यद्यपि कवि का बोधिसत्त्व के चरित का वर्णन करना ही मुख्य उद्देश्य है पर प्रसङ्गतः सभी प्रकार की परिस्थितियों का वर्णन काव्य में प्राप्त होता है।[2]

(क) बौद्धकालीन समाज की सामाजिक स्थिति

1. वर्णव्यवस्था—महाकवि ने कहीं भी जन्म से वर्णव्यवस्था का सङ्केत नहीं किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैसे वर्णवाचक शब्दों के होने पर भी उनके लिए कार्य नियत नहीं थे। ब्राह्मण भी कृषि कार्य करते थे।[3] क्षत्रिय भी गुरुकुलों में पढ़ाते थे। स्वयं बोधिसत्त्व ने पहले तक्षशिला जैसे शिक्षा के केन्द्र में शिक्षा ग्रहण की और बाद में वहीं रहते हुए वे प्रतिदिन 500 विद्यार्थियों को पढ़ाते तथा उनके भोजन इत्यादि की व्यवस्था करते थे।[4] समाज में बड़ा सौहार्द था। सभी परस्पर प्रीतिपूर्वक रहते थे तथा

1. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवकुमार सहाय, पृ. 218-19
2. श्री.बो.स.च., 1.1-5; 2.2-5, 3.7-8
3. वही, 12.2
4. वही, 14.1-2

समानभाव से व्यवहार करते थे।[1] समाज में सदाचार का महत्त्व था। आचारहीन जीवन को जीवन नहीं समझा जाता था। आचारवान् व्यक्ति धार्मिक व्यक्ति से उन्नत समझा जाता था। राजा धन को महत्त्व नहीं देते थे। उनका मानना था कि धन के सञ्चय से मन में विकार उत्पन्न होता है, जिससे मानसिक तनाव रहता है। धनरहित व्यक्ति ही सदाचारी, पवित्र एवं निर्मल होता है।[2] नागरिकों में किसी भी प्रकार का भय नहीं था। प्रजा उदार विचारों की थी। सभी नागरिक अभिमान से रहित तथा समाज में एक पारिवारिक सदस्य जैसे होते थे। वे बौद्धकालीन विचारों से प्रभावित हो कर संसार की अस्थिरता भली-भाँति समझते थे तथा तदनुरूप आचरण भी करते थे।[3] समाज में इस प्रकार के तत्त्वज्ञानी तथा जीवन्मुक्त कृषक-परिवार भी रहते थे जिनके आचरण से इन्द्र को भी अपने पद से च्युत होने का भय लगा रहता था। ऐसे परिवार मृत्यु को शरीर का स्वाभाविक धर्म मानते थे। किसी की मृत्यु होने पर वे शोक तक नहीं करते थे।[4]

2. शिक्षा—शिक्षा की ओर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। उस समय तक्षशिला शिक्षा का केन्द्र समझा जाता था। जहाँ जाकर राजकुमार भी लगभग 16 वर्ष की आयु तक शिक्षा ग्रहण किया करते थे।[5] शिक्षा के उन केन्द्रों में 500-500 विद्यार्थी पढ़ते थे। उनके भोजन इत्यादि का प्रबन्ध भी आचार्य ही करते थे।[6] कृषक भी अच्छे पढ़े लिखे होते थे।[7]

3. कृषि—बौद्धकालीन समाज में खेती-बाड़ी का बहुत महत्त्व था। कोई एक वर्ण ही खेती नहीं करता था अपितु सभी वर्णों के व्यक्ति खेती करते थे। ब्राह्मण भी अपना परिवार पालने के लिए खेती-बाड़ी का काम करते थे। पुरुष प्रायः खेतों में काम करते थे और स्त्रियाँ गृह-कार्य करती थीं। उनकी क्षेत्र सम्पत्ति अत्यधिक हुआ करती थी। बोधिसत्त्वचरितम् में इस प्रकार के प्रसङ्ग कवि ने वर्णित किए हैं जो समाज को इस ओर लगाने का सङ्केत करते हैं।[8]

---

1. श्री.बो.स.च., 2.9-10
2. वही, 9.42-45
3. वही, 2.21
4. वही, 12.38-42
5. वही, 2.7
6. वही, 14.2
7. वही, 12.4
8. वही, 12.5, 17, 24-25

4. व्यापार–वैश्य लोग व्यापार किया करते थे। वे बड़े सम्पन्न हुआ करते थे। व्यापारी वर्ग व्यापार के लिए बैलगाड़ियों का प्रयोग कर दूर-दूर तक जाया करते थे। प्रत्येक व्यापारी के पास 500-500 बैलगाड़ियाँ तक होती थीं। व्यापारी व्यापार करने से पहले सभी प्रकार के लाभ एवं हानि पर विचार-विमर्श किया करते थे। वे माल बेचते तथा खरीदते भी थे। हजारों का लेन देन हुआ करता था।[1] उस समय व्यापार करना कोई सरल कार्य नहीं था। रास्ते बड़े विकट होते थे। साथ ही रास्ते में डाकू इत्यादि बहुत मिलते थे क्योंकि जङ्गलों से होकर जाना पड़ता था इसलिए हिंसक जानवर भी रास्ते में मिला करते थे। सभी को अपना भोजन आदि समान साथ लेकर जाना पड़ता था इसलिए व्यापारी काफिले के रूप में जाया करते थे।[2] उस समय किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित करना पाप समझा जाता था। व्यापारी एक ही परम्परा से व्यापार करते थे। पहले वाला व्यापारी जिस वस्तु का जो मूल्य तय करता, बाद का व्यापारी उसी मूल्य से देता था। झूठ बोल कर मूल्य करना हिंसा समझा जाता था।[3] हो सकता है कि व्यापारियों की सुविधा के लिए ठहरने के स्थान बने हों क्योंकि उस समय धर्मशाला बनाने की प्रथा थी।[4] रास्ते में व्यापारियों को लूट भी जाता था। छल-कपट करके मार दिया जाता था। जो व्यापारी व्यापार करने के लिए जाते उन्हें रास्ते में राक्षस वेश बदल कर मिल जाते थे। चतुराई से उनके खाने-पीने का सामान फिंकवा देते और जिससे व्यापारी तथा उसके सभी साथी भूख-प्यास से व्याकुल होकर मर जाते और राक्षस उन्हें खा जाते थे।[5] कवि ने श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के प्रथम सर्ग में तत्कालीन परिस्थिति का अच्छी प्रकार से वर्णन किया है।[6]

5. पुरोहित प्रथा–तत्कालीन समाज में पुरोहितों के प्रति भी अच्छा आदरभाव प्रदर्शित किया जाता था। केवल प्रजा में ही नहीं अपितु राजाओं के यहाँ भी उनका सम्मान था। गृहस्थ में सभी संस्कारों को कराने के लिए पुरोहित बुलाए जाते थे।[7] विवाह इत्यादि के विषय में उनकी बात को सत्य माना जाता था और उनके कथनानुसार कार्य किया जाता था। राजा के लिए कन्या देखना ब्राह्मणों का काम होता था। शिबि

1. श्री.बो.स.च., 1.9; 22-24
2. वही, 1.32-35
3. वही, 1.28
4. वही, 3.18
5. वही, 1.62.
6. वही, 1.71-74, 93-95
7. वही, 3.5,9-11

के घर में उत्पन्न कुमार के विवाह के प्रसङ्ग में ब्राह्मणों को ही लड़की को देखने के लिए भेजा गया था।[1]

6. विवाह–कवि ने कहीं पर भी स्वयंवर विवाह का वर्णन नहीं किया। उस समय कन्या पक्ष की ओर से ही लड़के के यहाँ कन्या के विवाह का प्रस्ताव रखा जाता था। सप्तम सर्ग में सेठ तिरीटवत्स ने अपनी कन्या उन्मदन्ती को विवाह के योग्य देखकर राजकुमार के पास उसके विवाह का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव भेजे जाने के बाद वर-पक्ष की तरफ से लड़की के कुल, रूप, रङ्ग इत्यादि की परीक्षा के लिए कन्या के लक्षण जानने वाले पुरोहितों को भेजा जाता था।[2] उनके कथनानुसार ही आगे उस कन्या के साथ विवाह का निर्णय किया जाता था। कभी-कभी पुरोहित अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए असत्य का सहारा भी लिया करते थे जिसका परिणाम भविष्य में अच्छा नहीं होता था।[3]

7. राज्यव्यवस्था–समाज में किसी प्रकार का भय नहीं था। प्रजा अभिमान से रहित तथा प्रीतिपूर्वक रहती थी।[4] समाज में भिक्षुओं के संघ हुआ करते थे जो भिक्षा मांग कर अपना गुजारा करते थे। चारित्रिक दृष्टि से भिक्षु शुद्ध होते थे। यदा-कदा भ्रमण के समय किसी सुन्दरी को देखकर उस पर मुग्ध भी हो जाया करते थे। वे अपनी बुरी से बुरी कमजोरियों को छिपाते नहीं थे अपितु गुरुओं के उपदेश से पुनः शुद्धाचरण करने लगते थे।[5] दूसरे भिक्षुओं के समझाए जाने पर वह पश्चात्ताप करके सन्मार्ग पर प्रवृत्त हो जाया करते थे।[6] उस समय ऐसे भी समूह थे जो लूट-पाट किया करते थे और जङ्गलों में छिप जाया करते थे।[7]

अपराधियों को उचित दण्ड दिया जाता था। केवल सन्देह मात्र होने से उन्हें पकड़ कर जेल में डाल दिया जाता था। उस समय अपराधियों के पांव में बेड़ियां डालने की प्रथा थी।[8] समाज में सत्य भाषण की प्रशंसा की जाती थी। यहाँ तक कि

---

1. श्री.बो.स.च., 7.18
2. वही, 7.17; 19.
3. वही, 7.29-30.
4. वही, 2.10.
5. वही, 6.7; 14; 18
6. वही, 8.19
7. वही, 5.5
8. वही, 5.6

यदि अपराधी का कोई रिश्तेदार आकर राजा को सत्य बोल देता तो राजा उस पर प्रसन्न हो उसकी बात स्वीकार कर लेता था।[1] सेव्य-सेवक भाव को बहुत पवित्र माना जाता था। सेवा-निवृत्त होने पर भी सेवक समय आने पर स्वामी की तन-मन-धन से सहायता किया करते थे।[2] सामाजिक तौर पर प्रजा किसी भी प्रकार से छली-कपटी नहीं थी। कोई किसी पर झूठे मुकद्दमे नहीं करता था।[3]

8. स्त्री-समाज—बौद्धसमाज में वैदिक-युग के समान स्त्रियों को स्वतन्त्रता नहीं थी। वैदिक साहित्य को पढ़ने से स्पष्ट है कि उस समय के समाज में स्त्रियों को बड़ा मान-सम्मान प्राप्त था। स्त्रियों को प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान ही कार्य करने की स्वतन्त्रता थीं। यहाँ तक कि आध्यात्मिक-विद्या को भी ग्रहण करने की भी वे अधिकारिणी थीं। परन्तु बौद्धकाल तक आते-आते उनके अधिकार छीन लिए गए थे। स्त्रियों को दीक्षा नहीं दी जाती थी पर देखा गया कि बुद्ध अपनी माता के परम भक्त थे इसलिए माता के कहने पर तथा कुछ शिष्यों के बार-बार कहने पर उन्होंने माता को दीक्षित किया।[4] बौद्धकालीन समाज में स्त्रियों की पति के प्रति पूर्ण-स्नेह की भावना थी। वे अपने पति की प्रसन्नता का पूर्ण ध्यान रखती थीं। समय-समय पर उनके लिए पुष्पमालाओं का गुम्फन भी किया करती धीं। उनके लिए चन्दन आदि का लेप भी अपने आप तैय्यार किया करती थीं। पतियों का वियोग स्त्रियां को असह्य होता था।[5] स्त्रियों को छोड़ना पाप समझा जाता था।[6] स्त्रियों के साथ विवाह के समय उनकी सेवा शुश्रुषा के लिए दासियां भी साथ दी जाती थीं। वे दासियां खेत में भोजन इत्यादि लाने का भी काम किया करती थीं।[7] स्त्रियों के लिए गृहस्थी चलाना ही मुख्य कर्म समझा जाता था। पति के कार्य में सहभागिता को वे अपना धर्म समझती थीं। यद्यपि खेतों में स्वयं काम नहीं करती थी पर पति को कृषि-कार्य में सहयोग प्रदान करती थीं।[8] यद्यपि स्त्रियां गुरुकुल में नहीं पढ़ती थी पर बहुश्रुत होने के कारण शास्त्रीय-आध्यात्मिक ज्ञान से वे परिचित ही नहीं अपितु उसका पूर्णरूप

1. श्री.बो.स.च., 5.15-16.
2. वही, 13.72-73; 75.
3. वही, 2.13-14
4. बौ.द.मी., पृ.18-19
5. श्री.बो.स.च., 10.30-34, 11.14
6. वही, 9.25
7. वही, 12.7
8. वही, 12.5

से पालन करने वाली थी। उन्हें आत्म परमात्मविषयक तथा संसार की अनित्यता इत्यादि का पूर्ण ज्ञान था।[1] स्त्रियों में प्रतिशोध की भावना होती थी। उन्मदन्ती के चरित्र से यह स्पष्ट प्रतीत होता है।[2] विवाह से पूर्व उनकी परीक्षा उनके अङ्ग लक्षणों से की जाती थी। अशुभ लक्षणों वाली कन्या का राजपरिवार में वरण नहीं किया जाता था।[3] दाम्पत्य प्रेम को सत् तथा प्रेमहीन जीवन को असत् समझा जाता था। प्रेमीजन के बिना जीवन व्यर्थ तथा निस्सार समझा जाता था। प्रेमपूर्वक रहने वाले दम्पती का जीवन सुखी एवं सारयकुत माना जाता था।[4] परिवार में भाई-बहनों के पारस्परिक स्नेह का भी पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।[5] निर्धन स्त्रियों में भी दान देने की इतनी प्रबल भावना होती थी। उनका मानना था कि यदि कोई पूर्व जन्म या इस जन्म में किसी वस्तु का दान करता है तभी उसे कोई वस्तु मिलती है या मिलेगी। इसी भावना के कारण वे बड़े परिश्रम से प्राप्त शरीर के एक मात्र वस्त्र को भी दान दे दिया करती थीं।[6]

(ख) धार्मिक स्थिति

धर्म शब्द द्वारा किसी एक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों, उसके संस्कारों आदि का ही बोध होता है पर विचार एवं विश्लेषण करने पर स्पष्ट है कि धर्म का वास्तविक अर्थ अत्यन्त गंभीर एवं व्यापक है।[7] इसी परम्परा में जब भारत से भी सुदूर तक फैले हुए बौद्ध-धर्म की ओर दृष्टिपात किया जाता है तो पाया जाता है कि भारतीय चिन्तन धारा में बौद्धधर्म एक ऐसे सर्वधर्म समभाव की धारणा से युक्त है जिसके बल पर वह समस्त विश्व के मान्यधर्मों में से एक है। उसका कारण है भगवान् बुद्ध का सन्देश, जिसका उद्देश्य किसी एक दृष्टि को अपनाना नहीं था अपितु तृष्णा, राग, द्वेष इत्यादि का स्पष्टीकरण करना था।[8] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने उस धर्म का अध्ययन तथा मनन किया और काव्य रूप में उसका वर्णन करने का प्रयत्न किया। कवि के धर्मप्रिय होने से तत्कालीन धार्मिकता के सङ्केत काव्य में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं।[9]

---

1. श्री.बो.स.च., 12.42; 69
2. वही, 7.34
3. वही, 7.29
4. वही, 7.5
5. वही, 5.22
6. वही, 8.16-24
7. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवकुमार सहाय, पृ.10
8. श्री.बो.स.च., 4.103-106
9. वही, 5.37, 6.41, 9.14; 15; 21; 35; 41

धार्मिक दृष्टि से केवल प्रजा ही नहीं अपितु राजपरिवार भी पूर्णरूप से युक्त हुआ करते थे। द्वितीय सर्ग में वर्णित श्रीकुमार एक धार्मिक राजा थे। पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने धर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन किया। उनके मन्त्री तथा कर्मचारी उनका अनुसरण करते थे।[1] केवल साधारण जनता में ही ज्योतिष-कर्मकाण्ड इत्यादि में आस्था नहीं थी अपितु राजघरानों में भी कर्मकाण्ड और ज्योतिष के प्रति पूर्ण आस्था थी। समाज में सभी संस्कारों को करने की प्रथा थी। ब्रह्मदत्त के घर में भगवान् बुद्ध के उत्पन्न होने पर उनका जातकर्म, नामकरण-संस्कार किया गया और ज्योतिषियों ने उसके भविष्य के विषय में भी बहुत कुछ कहा।[2] जनता तथा राजा महोत्सव मनाया करते थे तथा मन्दिरों में जाया करते थे।[3] समय-समय पर देवताओं की पूजा की जाती थी। यक्षों की पूजा हुआ करती थी। उनसे प्रश्न भी पूछे जाते थे।[4] राजा भी जनता की भावनाओं का आदर करता था।[5] समय आने पर मन्त्री राजा को धर्म इत्यादि का उपदेश दिया करते थे। अहिपारक नामक मन्त्री अपने राजा को धार्मिक उपदेश देता हुआ नजर आता है।[6] बौद्ध-भिक्षुओं को समाज में अच्छा सम्मान प्राप्त था। कभी-कभी बौद्ध-भिक्षुक प्रसन्न होने पर भक्तियुक्त स्त्री-पुरुषों पर प्रसन्न होकर उन्हें वरदान भी दे दिया करते थे। ऐसे ही उन्मदन्ती ने महात्मा बुद्ध के तपस्वी शिष्य को अपने शरीर से उतार कर वस्त्र खण्ड दिया। उससे दूसरे जन्म में अत्यन्त रूपवती तथा सब को मुग्ध करने वाले रूप को वरदान में प्राप्त किया था। नागरिक अर्थ और काम की चिन्ता करते हुए भी धर्म को अधिक महत्त्व देते थे। समाज धर्म को सागर की बेला के समान समझता था। राजा का परम कर्तव्य होता था कि वह प्रजा में धर्म का पालन करवाए और स्वयं भी धर्माचरण करे।[7] राजा प्रजा के कल्याण के लिए यदा-कदा यज्ञादि धार्मिक-कृत्य किया करते थे। धार्मिक राजा को ही जनता श्रद्धा के साथ देखती थी। धर्म-प्रिय होने के कारण राजा राष्ट्र का नायक समझा जाता था। राजा अपने को प्रजा का पिता तथा शिक्षक समझता था। वह स्वयं धर्म में

---

1. श्री.बो.स.च., 2.6; 8;12
2. वही, 3.7; 9;11
3. वही, 8.34;39
4. वही, 8.96
5. वही, 8.100; 107
6. वही, 9.49; 51-52.
7. वही, 9.30; 48.

प्रवृत्त होकर अपने आचरण से प्रजा में भी धर्म की भावना को उत्पन्न करने की शिक्षा दिया करता था।[1]

बौद्ध सम्प्रदाय में दया का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दयाभाव मानव में ऐसे ही सद्गुणों को उत्पन्न करता है जैसे धान को वृष्टि। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में इसका विस्तार से समर्थन किया गया है। यद्यपि बहुत से इसके लिए करुणा शब्द का प्रयोग करते हैं, पर करुणा तथा दया में अन्तर है। करुणा उत्पन्न होने पर तदनुरूप क्रिया का होना! दया है। उन्मदन्ती की कथा से स्पष्ट है कि उन्मदन्ती में महात्मा बुद्ध के वस्त्रहीन तपस्वी शिष्य को देखकर करुणा उत्पन्न हुई तब उसने अपने शरीर का पहले आधावस्त्र पुनः शेष आधावस्त्र भी उसको दे दिया। यह दया भाव है। साधारण प्रजा में भी इस प्रकार का दयाभाव विद्यमान था।[2] दयाभाव होने के कारण बौद्धधर्म में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं। प्रायः राजा अहिंसकवृत्ति वाले ही हुआ करते थे। हिंसात्मक-वृत्ति वाले राजाओं के लिए बौद्धधर्म में कोई स्थान नहीं हुआ करता था। बौद्धधर्म में हिंसा से हिंसा वृत्ति का बढ़ना ही माना जाता था न कि उसका समाधान।[3]

(ग) राजनैतिक परिस्थिति

तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का विशद विवेचन श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के अनेक प्रसङ्गों से ज्ञात होता है।[4] जब-जब श्रीबोधिसत्त्व राजा के रूप में अवतरित होते हैं तब-तब अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा के कल्याण के लिए कार्य करते हैं।[5] राजा वंश-परम्परा से आते थे, जहाँ कहीं भी काव्य में राजा का वर्णन आया है, वह राजा वंश परम्परा से हैं। लगभग 16 वर्ष की आयु में युवराज पढ़-लिख कर सभी प्रकार से योग्य बन जाते थे। राजकुमारों को विधिवत् राजनीति की शिक्षा दी जाती थी और वे आदर्श राजा के रूप में राज्य करते थे।[6] शासन-व्यवस्था में मन्त्री राजा की पूर्ण सहायता करते थे।[7] मन्त्री राजा के आज्ञा पालक होते थे। सामर्थ्य होने

---

1. श्री.बो.स.च., 9.35; 36; 42; 45; 50; 53.
2. वही, 8.14; 15.
3. हिंसैव वर्धते बह्वी हिंसकं प्रतिहिंसया।
   सुखमात्यान्तिकं लब्धुमहिंसैव गरीयसी।। -वही, 3.80
4. वही, 3.15-23; 66
5. वही, 12.1-3
6. वही, 3.12; 15; 16
7. वही, 3.91-90

पर भी वे राजा की आज्ञा के अनुसार युद्ध से निवृत्त तक हो जाया करते थे।[1] राजा द्वारा मन्त्रियों की सलाह न मानने पर भी मन्त्रीगण राजा से विपरीत आचरण नहीं करते थे।[2] वे राजा की वृत्ति के अनुसार कार्य करते थे। यहाँ तक कि राजा की आज्ञा का पालन करने के लिए शत्रु राजा द्वारा बन्दी बनाए जाने पर भी वे सहर्ष बन्धन स्वीकार करते थे।[3] राजा भी पिता की तरह से प्रजा का पालन करता था। धर्मानुरागी होने से दान, धर्म इत्यादि का अभ्यास करता था। प्रजाजन राजा के प्रति द्वेष, द्रोह, छल, कपट इत्यादि से रहित सरलता का व्यवहार करते थे। प्रजा सभी प्रकार से प्रसन्न रहती थी।[4] राज्य में न्याय पूर्वक कार्य होता था। राजकीय पुरुषों द्वारा सन्देह के कारण किसी के पकड़े जाने पर राजा सच्चा न्याय देते हुए उसे छोड़ दिया करता था। राजा इस बात से अच्छी प्रकार से परिचित था कि जनता के पारस्परिक प्रेम-भाव की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य है। फलतः पकड़े गए व्यक्ति की बहन के द्वारा भ्रातृ-भाव की महिमा बताए जाने पर राजा उसके भ्रातृ-भाव को समझता है। उसकी प्रशंसा करता है और प्रसन्न होकर केवल उस स्त्री के भाई को ही नहीं अपितु उसके पुत्र एवं पति को भी छोड़ देता है।[5] राजा अपने दोषों का उद्घाटन कराना अच्छा समझता है। शीलवान् के द्वारा मन्त्रियों और कर्मचारियों से अपने दोषों के विषय में न जानने पर दूर जनता के बीच में दोषों को जानने के लिए जाता है।[6]

राजा प्रजा को धर्म में दीक्षित करने के लिए स्वयं नीति और प्रशासन का सहारा लिया करता था। अतः स्वयं भी धर्म का दृढ़ता के साथ अनुसरण किया करता था।[7] शासक-वर्ग अधिकतर सभी वस्तुओं का समाधान शान्तिपूर्वक करने का प्रयास करते थे।[8] देखा गया है कि कभी-कभी राजकुलों के अधीनस्थ कर्मचारी एवं मन्त्री अपमानित होने पर या लोभ वश शत्रु राजा से मिलकर पहले राजा के रहस्यों को उसके शत्रु-पक्ष को बता दिया करते थे।[9] अधिकतर राजा किसी अन्य राजा को वश

---

1. श्री.बो.स.च., 3.91-93
2. वही, 4.7
3. वही, 4.9-10.
4. वही, 2.9;19
5. वही, 5.4-6; 24; 26; 29
6. वही, 2.22; 26
7. वही, 9.35; 44
8. वही, 2.58
9. वही, 3.40-50

में करने के लिए धर्म का ही सहारा लिया करता था पराक्रम का नहीं। राजाओं के पास पर्याप्त रूप से सेना होती थी। एक-एक राजा के पास सैंकड़ों अप्रतिम भट्ट-योद्धा तथा एक-एक हजार से भी अधिक सेनानायक, सैंकड़ों हाथी सवार, घुड़सवार तथा पैदल सेना हुआ करती थी।[1] राजाओं में किसी दूसरे के राज्य को हस्तगत करने की भावना कम थी। राजा कृत्य और अकृत्य को समझता हुआ शीघ्र ही निर्णय दिया करता था। चाहे प्रजा हो या मन्त्री अनुचित कार्य करने पर उन्हें देश निकालने का दण्ड तक दिया जाता था।[2] राजाओं में विलासिता भी हुआ करती थी। तिरीटवत्स की कन्या उन्मदन्ती की कथा इसमें ज्वलन्त उदाहरण है। राजा को सुन्दर स्त्रियों पर मोहित होते देखा गया पर ऐसी स्थिति में भी राजा को पूर्णरूप से इस दिशा में सतर्क भी देखा गया है कि राजा के भ्रष्ट होने पर प्रजा भी भ्रष्ट आचरण कर सकती है। अतः राजा को पुनः अपने कर्त्तव्य का पालन करते देखा गया।[3] उस समय राजाओं में गुप्तचर रखने की प्रथा थी। गुप्तचरों को भेजकर राजा शत्रु-पक्ष की कमजोरियों का पता लगा लिया करता था। गुप्तचरों को पकड़ने पर भी राजनीति के नियमों का पालन किया जाता था। गुप्तचरों को बिना दण्ड दिए उपहार देकर वापिस भेज दिया जाता था।[4]

(घ) आर्थिक स्थिति

किसी भी राष्ट्र की उन्नति में उसकी आर्थिक स्थिति की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। जिस देश की आर्थिक स्थिति जितनी सुदृढ़ होगी, वह राष्ट्र उतना ही सुदृढ़ एवं सम्पन्न होगा। कवि ने श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए तत्कालीन आर्थिक-स्थिति की ओर भी अपनी लेखनी चलाई है। उन्होंने स्पष्ट रूप से दिखाया कि देश के आर्थिकरूप से सम्पन्न होने पर भी बौद्धकालीन समाज देश की उन्नति के लिए अपनी आर्थिक-स्थिति को मजबूत करने में प्रयत्नशील रहता था।[5]

समाज में व्यापार के द्वारा आर्थिक-स्थिति को सुदृढ़ किया जाता था। वैश्यवर्ग पीढ़ी दर पीढ़ी व्यापार किया करते थे। व्यापार को बढ़ावा देने के लिए तथा

---

1. श्री.बो.स.च., 3.68; 69
2. वही, 3.33
3. वही, 9.40
4. वही, 3.58; 65; 88
5. वही, 1.80; 99; 100

आर्थिक-लाभ के लिए व्यापारी सुदूर प्रान्तों में जाकर व्यापार किया करते थे।[1] व्यापारी बैलगाड़ियों के द्वारा व्यापार किया करते थे। एक-एक व्यापारी के पास 500-500 तक बैलगाड़ियां हुआ करती थीं।[2] ग्रामीण लोग खेती-बाड़ी से भी धन एकत्रित किया करते थे। यहाँ तक कि ब्राह्मण वर्ग भी धनोपार्जन के लिए खेती किया करते थे।[3] शहर में बहुत धनाढ्य व्यक्ति भी रहते थे। अरिष्टपुर में तिरीटवत्स नामक व्यक्ति बहुत धनवान् था। इसी प्रकार से संघ नामक सेठ तथा उसका मित्र पीलिय भी धनाढ्य था। इन सभी के पास 80-80 करोड़ रुपया था।[4] आर्थिक स्थिति ठीक होने के कारण सर्वत्र प्रजा सुख का अनुभव करती थी। धर्म में रुचि रखती थी। केवल बड़े-बड़े धनिकों की नहीं अपितु साधारण व्यक्तियों की भी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। कृषक भी घर में दास और दासियां रख सकते थे।[5] राजाओं के बड़े-बड़े महल हुआ करते थे जिनकी ऊँचाई आकाश को छूने वाली होती थी। कवि बड़े सुन्दर ढंग से तत्कालीन वैभव का वर्णन करता हुआ लिखता है-

वाराणसी तस्य पुरी प्रसिद्धा
बभौ भृशं लोचनलोभनीया।
अदभ्रमभ्रंलिहमास्त यस्यां
गृहे गृहे वैभवमद्वितीयम्।।[6]

राजकर्मचारियों का रहन-सहन भी ऊँचे दर्जे का होता था। वे भी इतने सम्पन्न हुआ करते थे कि उनके प्रासादनुमा भवन उत्सवों के समय बड़ी अच्छी तरह से सजाए जाते थे। यहाँ तक कि राजा भी उन भवनों की शोभा देखने के लिए आया करते थे।[7]

II सांस्कृतिक स्थिति

समाज व्यक्ति की समष्टि होती है जिस प्रकार के व्यक्ति होंगे, उनका रहन-सहन, आचार-विचार, क्रिया-कलाप होंगे, वही समाज के भी होंगे। न तो व्यक्ति को

---

1. श्री.बो.स.च., 1.7; 8; 9; 10
2. वही, 1.65; 66
3. वही, 12.17
4. वही, 13.3-4
5. वही, 12.70-71.
6. वही, 1.4
7. वही, 8.39; 41

समाज से पृथक् किया जा सकता और न ही समाज को व्यक्तियों से। समाज और साहित्य का भी अटूट सम्बन्ध है। समाज जिस प्रकार का होगा, तत्कालीन साहित्य भी उनके क्रियाकलापों से प्रभावित होगा, क्योंकि समकालीन साहित्य में समाज प्रतिबिम्बित होता है। समाज की वृद्धि, ह्रास, उत्थान, पतन, इत्यादि का ज्ञान तत्कालीन साहित्य से ही होता है। साहित्य के सृजन में कवि ही कर्ता होता है। अतः कवि द्वारा रचित साहित्य में ही उसकी आत्मा रूप संस्कृति निहित होती है। जोकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तत्कालीन समाज की संस्कृति को इंगित करता है। किसी भी देश की अपनी एक संस्कृति होती है, जो उस देश के निवासियों की वह सम्पत्ति होती है, जो सभ्यता, वेश-भूषा इत्यादि सभी कुछ बदलने पर भी अपरिवर्तनीय रहती है। संस्कृति ही किसी देश की एक प्रकार से प्राण है। अतः कोई भी राष्ट्र अपनी संस्कृति के बिना जीवित नहीं रह सकता। साहित्यकारों का मानना है कि वह कवि, कवि नहीं जिसकी लेखनी या काव्य में अपने सांस्कृतिक विचारों को पाठक या जन-सामान्य तक फैलाने का सामर्थ्य न हो तथा जिसका काव्य सांस्कृतिक भावनाओं को प्रकट न करता हो।

महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री की प्राचीन संस्कृति के प्रति गहन आस्था दिखाई देती है। वे वेद, वेदाङ्गों की शिक्षा पर विश्वास रखते हैं। कवि का पुनर्जन्म एवं कर्मफल पर पूर्ण विश्वास है।[1] उनके अनुसार जो प्राणी पूर्व जन्म में जैसा कर्म करता है उसी प्रकार से फल को भोगता है। उन्मदन्ती की कथा और किन्नर युगलों की कथाओं में कवि ने बड़े सहज ढंग से इसे बताया है।[2] कर्मों का फल देने वाली कोई अज्ञात शक्ति है। कवि का उस पर पूर्ण विश्वास है। निरन्तर कार्य करने पर भी कभी-कभी पुरुष को उसका फल प्राप्त नहीं होता, इसमें ऐसी शक्ति का हाथ होता है जो सर्वोपरि है।[3]

कवि संस्कृति का पोषक है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में संस्कृति के सभी तत्त्वों की ओर कवि ने ध्यान दिया। आर्य संस्कृति कवि की केन्द्रीय अवधारणा है। संस्कृति के मूल तत्त्वों का काव्य में पूर्णरूप से वर्णन प्राप्त है तथापि कतिपय तत्त्वों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

1. पुनर्जन्म—बोधिसत्त्वचरितम् का मूल विषय पुनर्जन्म की मान्यता को स्थिर

1. श्री.बो.स.च., 14.38
2. वही, 8.24;27
3. वही,13.27

करना है क्योंकि कवि ने बोधिसत्त्व के पूर्वजन्म की कथाओं को काव्य रूप दिया है।[1] काव्य की कथावस्तु में बोधिसत्त्व ही अनेक रूपों में अनेक जन्मों में उत्पन्न होता दिखाया गया है।[2] पुनर्जन्म का सिद्धान्त बौद्ध-सम्प्रदाय में सर्वमान्य है।[3] पुनर्जन्म का कारण अनुचित कर्म भी माना गया है। मनुष्य योनि तो पुण्य कर्मों का फल मानी गई है।[4] कीट से लेकर मनुष्य योनि तक सभी काम के विकार से ग्रस्त होने के कारण अनेकानेक जन्म ग्रहण करते रहते हैं।[5] बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु के पश्चात् प्राणी निश्चय ही जन्म को ग्रहण करता है और पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों का ही फल भोगता है।[6] बौद्धकालीन समाज पुनर्जन्म सिद्धान्त को ही नहीं अपनाता अपितु पुनर्जन्म के वृत्तान्तों को अग्रिम जन्म में स्मरण तक भी मान्यता को प्रश्रय देता है। किन्नर-मिथुन एक रात के वियोग की स्मृति में कई जन्म तक हँसते एवं रोते रहते हैं।[7] 11वें सर्ग की कथा में पूर्व जन्म का बोधिसत्त्व ही दूसरे जन्म में राजा भल्लाटिय बना[8] और इस जन्म में जो किन्नर मिथुन थे वे पूर्व जन्म के राजा-रानी ही थे। इस प्रकार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अनेक घटनाएं वर्णित हैं जिनसे पूर्वजन्म की मान्यता सिद्ध होती है।[9]

2. आत्मा–कवि की नित्य आत्मवादी विचारधारा है। वह आत्मा को नित्य तथा व्यापक स्वीकार करने के पक्षधर हैं। आत्मा की नित्यता सम्पूर्ण काव्य की कथावस्तु से स्वतः सिद्ध है। आत्मतत्त्व को नित्य मानने में कवि ने दार्शनिक आधार न लेकर उन-उन व्यक्तियों की कथा को एक सूत्र में पिरोने वाली बोधिसत्त्व की आत्मा को लिया, जो सभी पात्रों में व्याप्त है। शरीर बदलते गए पर आत्म-तत्त्व नित्य रूप से वही रहा।[10] आत्मा पुराने शरीर को इसी प्रकार से छोड़ता जाता है जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी केंचुली को छोड़कर नई केंचुली को धारण करता है[11]

1. श्री.बो.स.च., 1.1; 2
2. वही, 1.5; 2.3; 3.5; 12.1 इत्यादि
3. बौ.द.मी., पृ.76
4. वही, 6.23
5. वही, 6.30
6. वही, 12.50
7. श्री.बो.स.च., 10.41; 42
8. वही,10.13
9. वही, 11.13-15
10. वही, 12.92

11. वही, 12.48

क्योंकि आत्मा एक है, नित्य है, सर्वत्र व्याप्त है। अतः कवि की दृष्टि से उसी को देखना चाहिए और उसी के विषय में विचार करना चाहिए।[1]

3. कर्म—कवि की दृष्टि से लोक में कर्म की प्रधानता है। कर्मानुसार फल की प्राप्ति होती है। मनुष्य अच्छे कर्म करता हुआ सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।[2] धर्ममय कर्म से मनुष्य के दोनों जन्म सफल माने गए हैं। कवि का मानना है कि मनुष्य किसी भी कर्म को करता हुआ यह न सोचे कि मुझे कर्म करता हुआ कोई नहीं देख रहा है। वस्तुतः कोई देखे या न देखे देवगण मनुष्य के बुरे कर्म को देखा करते हैं। जिससे उसकी बुरी गति होती है।[3] इस दृष्टि से तत्कालीन समाज में मनुष्य अपने को शक्तिशाली समझता हुआ भी बुरे कर्म नहीं करता था। बुरे कर्म करने से उन्हें आयु क्षीण होने का भय बना रहता था। जनता की भावना थी कि बुरे कर्म से आयु क्षीण हो जाती है। बड़े व्यक्ति भी ऐसा कर्म नहीं करते थे जिससे दूसरे को दुःख हो। ऐसा कर्म निन्दनीय समझा जाता था। अच्छे व्यक्ति अनेकानेक कष्टों को सहन करते हुए भी अच्छे कर्म करते थे क्योंकि सत् कर्म ही धर्म का बीज माना जाता था।[4]

4. त्याग—बौद्ध-संस्कृति का अपर तत्त्व त्याग है। व्यक्ति में त्याग की भावना का होना जरूरी है। उन्मदन्ती निर्धन परिवार में पैदा हुई और नौकरी करके सुन्दर वस्त्र खरीदती है किन्तु बौद्ध शिष्य को वस्त्रहीन देखकर बड़े आनन्द से अपना वस्त्र उसे प्रदान कर देती है।[5] अहिपारक द्वारा अपनी पत्नी को राजा के लिए समर्पित करने का भाव में एक महान् त्याग दिखाया गया है।[6] संघ सेठ मित्र के लिए त्याग दिखाता हुआ अपने धन का आधा भाग तक त्याग स्वरूप अपने निर्धन मित्र पीलिय को दे देता है[7]। त्याग प्रशंसनीय है पर निन्दनीय है।[8]

5. अहिंसा—बौद्धधर्म का सर्वोपरि सिद्धान्त अहिंसा है। कवि ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है। हिंसा के प्रति हिंसा का भाव अच्छा नहीं क्योंकि ऐसा करने से हिंसा में वृद्धि होती है। हिंसा के द्वारा कभी भी अच्छे फल की प्राप्ति नहीं होती।[9]

---

1. श्री.बो.स.च., 4.18-20
2. वही, 14.43
3. वही, 9.5
4. वही, 9.41-42
5. वही, 8.17; 22
6. वही, 9.7-8
7. वही, 13.21
8. वही, 9.25
9. वही, 3.81

अहिंसा के पुजारी को चाहे हजारों हिंसक व्यक्ति घेर लें वह अपने धैर्य से विचलित नहीं होता और न उसके मन में किसी प्रकार की हिंसक वृत्तियां पैदा होतीं हैं। अहिंसक तो हिंसक को इस प्रकार तटस्थ भाव से देखता है कि वह अपने द्वेष-भाव को छोड़ देता है।[1] चाहे सेना के द्वारा या जन सामान्य के द्वारा किसी की प्राण-हानि की जाए, बौद्ध-धर्म में वह हिंसा ही है। यदि कोई हिंसा पर उतर आता है तो उसके लिए प्रतिहिंसा की भावना बौद्धधर्म के विपरीत है। केवल मात्र किसी की प्राणहानि करना ही हिंसा नहीं समझी जाती थी अपितु मनसा, वाचा, कर्मणा किसी से शत्रुता करना, ईर्ष्या करना या किसी को हानि पहुँचाने की भावना भी मन में लाना हिंसा समझी जाती थी।[2] देखा गया है कि बड़े से बड़ा हिंसक राजा भी अहिंसा को अपनाने के बाद अहिंसा का महत्त्व स्वीकार करता हुआ यह भी स्वीकार करता था कि अहिंसा से ही हिंसा पर विजय होती है।[3] इस प्रकार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में अहिंसा का अत्यधिक महत्त्व बताया गया है।[4]

6. प्रेमभाव—स्वच्छ प्रेम संस्कृति का एक अनुपम तत्त्व माना गया है जिसका स्थान कोई दूसरा नहीं ले सकता। महाकवि का हृदय प्रेम की वास्तविकता को जानता है। विशेषकर भ्रातृ-प्रेम का भाव कवि के अन्तस्थल में इस प्रकार समाया हुआ है कि उसके सामने अन्य कोई प्रेम नहीं है। कवि भगवान् राम के भ्रातृभाव को कदापि विस्मृत नहीं करता[5] केवल मनुष्यों में ही नहीं अपितु मनुष्य इतर जातियों में भी प्रेम की दृढ़ता बौद्धसंस्कृति को दृढतर बनाती है। किन्नरमिथुन के रूप में कवि ने इस प्रकार के प्रेम का वर्णन किया है।[6] महाकवि ने प्रेम को परम सुखदायी तत्त्व माना है। प्रेम के बिना संसार सत् होने पर भी असत् रूप ही नजर आता है। कवि ने प्रेम के बिना मनुष्य योनि को व्यर्थ समझा है पर प्रेम व्यवहार से मनुष्येतर योनि को भी धन्य माना है।[7]

7. अतिथि सत्कार—अतिथि सत्कार को सद्ग्रन्थों में बहुत महत्त्व प्रदान किया

---

1. श्री.बो.स.च., 3.102; 104
2. वही, 4.15–16; 89; 90
3. वही, 4.103
4. वही, 4.9; 9.7–8
5. वही, 5.21; 28; 33–35
6. वही, 10.36
7. वही, 11.5–8

गया है। अतिथि को देवता समझना भारतीय-धर्म ग्रन्थों की मान्यता रही है।[1] अतिथि सत्कार में एक प्रकार से निःस्वार्थ परोपकार की भावना छिपी रहती है। यह भावना भारतीय संस्कृति का एक अङ्ग रही है। कविवर डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने भी अपने काव्यों में इस भारतीय भावना को अभिव्यक्त किया है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में यत्र-तत्र कवि ने इस प्रकार की भावना को संकेत रूप से प्रकट किया है। त्रयोदश-सर्ग में दुःखी सेठ पीलिय अपना सर्वस्व खोकर सहायता के लिए अपने मित्र संघ के पास आता है। मित्र को आया देखकर संघ सेठ प्रसन्न होता है, अपने को धन्य समझता है और घर में इस प्रकार अचानक मित्र के चरणों का पड़ना वह एक महान् पुण्य का फल समझता है। वह उसकी आतिथ्य सत्कार करता है और आने का कारण पूछकर सहर्ष उसको पूर्ण करता है।[2] इसी सर्ग में पुनः संघ सेठ के विपत्ति में पड़ जाने पर जब उसका पुराना सेवक उसे मिलता है और वह सेवक के घर जाता है वो सेवक उसे भगवत्-स्वरूप समझता हुआ उसका सत्कार करता नहीं थकता। घर में पधारे अतिथि को विधिपूर्वक स्नान कराने, सुन्दर भोजन कराने तथा अन्य प्रकार की उसकी सेवा करने में भी महती प्रसन्नता का अनुभव करता है।[3] इस प्रकार भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत यह महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

1. अतिथि देवो भव, तै.उ., 1.11
2. श्री.बो.स.च., 13.13-17
3. वही, 13.68-69

उपसंहार

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य के अध्ययन में लिखा जा सकता है कि आचार्यों द्वारा कृत काव्य की परिभाषा की दृष्टि से चतुर्दशसर्गात्मक श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के महाकाव्यत्व में तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि इस महाकाव्य की कथावस्तु का स्रोत बोधिसत्त्व से सम्बन्धित जातकों में वर्णित जातक कथाएं हैं। यद्यपि बोधिसत्त्व से सम्बन्धित जातक कथाएं सम्प्रति 550 के लगभग यत्र-तत्र भिन्न-भिन्न रूपों में उपलब्ध हैं पर काव्य के लिए कुछ एक कथाओं को ही कवि ने चुना है। बौद्ध परम्परा में बोधिसत्त्व उसको कहा जाता है, जो पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है तथा अनेक जन्मों में बौद्धदर्शन में मान्य पारमिताओं का पालन करता हुआ, अन्त में बुद्धत्व का सर्वोच्च पद प्राप्त करता है। इस महाकाव्य की कथावस्तु में उन्हीं पारमिताओं के पालन की प्रक्रिया दिखाई गई है। फलतः कवि द्वारा गृहीत इसकी कथावस्तु आद्योपान्त किसी एक व्यक्ति के एक जन्म से सम्बन्धित न होकर अनेक जन्मों से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् चरित्र वाले अनेक व्यक्तियों से है परन्तु कवि की यह विशेषता रही है कि उसने उन सभी के चरित्रों में भिन्नता होने पर भी सब को एकसूत्र में गूँथने वाली बोधिसत्त्व की एक ही आत्मा को स्वीकार कर इस महाकाव्य का नायक बोधिसत्त्व को ही मानते हुए उसी के नाम पर काव्य का नामकरण भी किया, जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उचित है।

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् काव्य का प्रारम्भ वस्तु निर्देशात्मक है। इसका नायक बोधिसत्त्व है जो धीरोदात्त है। इसमें न कोई नायिका है न प्रतिनायक। प्रत्येक सर्ग के अन्त में नियमतः छन्दः परिवर्तन के नियम का भी निर्वाह किया गया है। इसका प्रधान रस वीर (धर्मवीर) तथा गौणरस शान्त और शृङ्गार हैं। काव्य को सरस तथा सरल बनाने में कवि का यह सफल प्रयास है।

महाकाव्य की वर्ण्यवस्तु पात्रों के चरित्र तथा व्यवहार के उत्कृष्ट स्वरूप को प्रस्तुत करती है जिससे काव्य आद्योपान्त नैतिक तथा कर्तव्य की प्रधानता लिए हुए है। कवि ने कथावस्तु के विस्तार के लिए बीच-बीच में अतीव कल्याणमय,

लोकोपयोगी, बौद्धधर्म सम्बन्धी शिक्षाप्रद विचारों को जोड़ते हुए वर्णनीय शक्ति का निखरा हुआ रूप प्रस्तुत किया है।

कवि ने काव्य में प्रत्येक सर्ग की कथावस्तु के लिए जातक में वर्णित किसी एक कथा को चुनकर पृथक्-पृथक् पात्रों के चरित्रों को अपनी वर्णन कला से एक क्रम में बांधकर तथा उसको एकरूपता प्रदान कर अन्त में उससे कोई न कोई शिक्षा प्रदान की है। काव्य में कहीं भी मन को उद्वेजित करने वाले लम्बे-लम्बे प्रसङ्ग नहीं अपनाये गए हैं। कवि ने जिस किसी का वर्णन किया, वह बड़ा ही प्रभावपूर्ण तथा सशक्त है, चाहे वह कृषक द्वारा अपने परिवार को दी गई शिक्षा हो या किसी कामिनी के सौन्दर्य पर मुग्ध अपने पथ से भ्रष्ट बौद्धभिक्षु को उसके साथियों द्वारा बताया गया सन्मार्ग हो। इसमें कारण है कवि की संवादात्मिका शैली, तथा अद्वितीय कौशल।

काव्य में यद्यपि अनेक स्थलों पर इस शैली के दर्शन होते हैं तथापि नवम सर्ग में राजा कुमार तथा अहिपारक का मार्मिक वार्तालाप इस शैली की चरमसीमा है। कवि की कविप्रौढोक्ति रूप से गृहीत उपदेशात्मिका शैली भी पाठकों को भ्रमित नहीं करती। कई स्थलों पर इसी शैली के माध्यम से दार्शनिक तत्त्वों को भी बड़ी सुगमता से कोमलकान्तपदावली के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ऐसे स्थानों पर कवि द्वारा अपने जीवन में दी व्याख्यान मालाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। काव्य में ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं जहाँ कवि सार्वभौम तथा सार्वकालिक उपयोगी कौटुम्बिक सिद्धान्तों एवं अहिंसा आदि सिद्धान्तों को प्रकाशित करने वाली संक्षिप्त शैली का सहारा लेता है। अष्टम, नवम तथा त्रयोदश सर्ग में अपनाई गई यह शैली विशेष प्रभावशालिनी है। संसार की क्षणभङ्गुरता, दुःखवाद, दरिद्रता जैसे विषयों पर भी कवि ने कवि-निबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्ति द्वारा बहुत कुछ कहा है।

इस महाकाव्य में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व कवि की व्युत्पत्ति है। कवि ने अनेक शास्त्र तथा अनुभवों से प्राप्त ज्ञान को जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए इस प्रकार की कथावस्तु का चयन किया जो न केवल साहित्यिक सिद्धान्तों पर आश्रित है अपितु विश्वविख्यात बौद्धधर्म जैसे विषय का भी बड़े मार्मिक ढंग से प्रतिपादन करती है। काव्य के प्रत्येक स्थल में कवि ने अपनी व्युत्पत्ति से कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों का उसी सहज रूप में प्रदर्शन किया जिस ओर भारवि ने संकेत करते हुए कहा था कि-'अतिवीर्यवतीवभेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणाः।'

प्रस्तुत काव्य में कवि द्वारा संयोजित सुन्दर बिम्ब योजना भी अपनी एक विशेषता रखती है। उन्मदन्ती के रूप वर्णन तथा चतुर्थ सर्ग में अपनाए गए वस्तु

वर्णन के अनुकूल नवीन उपमान कवि के उस बिम्ब योजना के प्राण हैं। तृतीय-सर्ग में सिकता के गढ्ढे से राजा का बाहर आना, पवन के झोंकों से मेघों को तितर-वितर करने के उपरान्त चन्द्रमा का बादलों से बाहर आने के समान, तथा वाराणसी के राज्य के लिए नवनीत या मधु जैसे उपमानों की योजना करना कवि की प्रतिभा के प्रतीक हैं।

काव्य में प्रायः सभी अलङ्कारों को अपनाया गया है पर अर्थान्तरन्यास तो मानों कवि की रचना के आगे-आगे दौड़ता हुआ दिखाई देता है। इससे यत्र-तत्र कविता का जो सौन्दर्य बना, वह वास्तव में अलङ्कारवादियों की उस युक्ति को पुष्ट करता है जिसमें कहा गया कि अलङ्कार के बिना कविता में कवित्व मानना उष्णता के बिना अग्नि को अग्नि मानना है। शब्दालङ्कार से अलङ्कृत पदावली काव्य की संस्कृत साहित्य को नूतन देन है। आचार्यों द्वारा अनुप्रास तथा यमक जैसे अलङ्कारों को काव्य के लिए अनुपयुक्त मानने से प्रायः कवि इनसे बचते ही दिखाई देते हैं किन्तु प्रस्तुत काव्य में यमक, अनुप्रास की अद्वितीय छटा हृदय को आह्लादित करती हुई शृङ्गारादि रसों में भी अपनी अद्वितीयता के कारण अद्‌भुत-चमत्कार पैदा करती दिखाई देती है। द्वादश-त्रयोदश सर्ग में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग नवीन शैली को लिए हुए है जिसका कारण है कवि का भाषा पर पूर्णाधिकार।

इस काव्य में एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि व्याकरणगत वैदुष्य होने पर भी कवि ने काव्य पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं आने दिया अपितु प्रसादगुण गुम्फित पद योजना को अपनाकर भाषा के स्वाभाविक प्रवाह को कहीं भी मन्द नहीं पड़ने दिया। पदयोजना के बीच-बीच में प्राचीन कवियों के सारगर्भित वचन इस प्रकार सौन्दर्यादायक प्रतीत होते हैं कि मानों स्वर्णनिर्मित आभूषण के मध्य अनेक रत्न मण्डित हों। कवि पर यत्र-तत्र रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद् जैसे ग्रन्थों एवं भास, कालिदास, माघ, भर्तृहरि जैसे महाकवियों का प्रभाव पूर्णतया परिलक्षित होता है, जो कवि का प्राचीन साहित्य तथा कवियों के प्रति श्रद्धा का प्रतीक है।

छन्द की दृष्टि से भी काव्य सर्वप्रकारेण सफल कृति है। कवि ने अनुष्टुप् जैसे छोटे छन्द से लेकर शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े-बड़े छन्दों को वस्तुवर्णन या चरित्रचित्रण या वस्तुचित्रण के अनुरूप ग्रहण किया है। उपजाति छन्द के प्रति कवि का अधिक मोह है। प्रकृति-चित्रण में कवि ने कालिदास के समान मन्दाक्रान्ता जैसे लम्बे छन्द को विशेष रूप से अपनाया है।

कवि ने तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्थिति का थोड़े ही शब्दों में स्पष्ट तथा पूर्ण वर्णन किया है जिसका उल्लेख नवम-अध्याय में विस्तार से पहले ही कर दिया गया है।

इस प्रकार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् शास्त्रीय नियमों से नियन्त्रित, बौद्धधर्म से अध्यासित, भारतीय संस्कृति से सुसज्जित, प्राचीनता को नवीनता प्रदान करने वाला, सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला, सरस तथा सरल शब्दों में दर्शन के सिद्धान्तों को काव्यरूप में उपस्थित करने वाला एक अद्वितीय महाकाव्य है।

महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री द्वारा लिखित इस महाकाव्य का मैंने यथामति, यथाशक्ति अध्ययन करने का प्रयास किया है। मैं समझती हूँ यदि मेरे इस प्रयास पर महाकवि कालिदास की यह सूक्ति कि–**'तितीर्षुः दुस्तरं मोहाद् उडुपेनाऽस्मि सागरम्'** पूर्णतः चरितार्थ हो रही है, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

अग्निपुराण, (काव्यशास्त्रीय भाग), श्रीरामलालवर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं. 1950

अथर्ववेद संहिता, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, दिल्ली, सं. 2009

अभिनवभारती, सञ्जीवनभाष्य, सम्पा. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्र.सं. 1960

अलङ्कारशेखर, केशवमिश्र, व्याख्या. रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 2028 सम्वत् :

अलंकारशेखर, केशवमिश्र, पाण्डुरंग जावा जी प्रकाशक, मुंबई, 1926

अलङ्कारसर्वस्वम्, राजानक रुय्यक, व्याख्या. डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृ.सं. 2002.

इन्दिरागान्धीचरितम्, डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली/वाराणसी, प्र.सं. 1976.

ईशादि नौ उपनिषद्, व्याख्या. हरिकृष्णदास गोयन्दका, प्र. गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2050.

ऋग्वेद संहिता, नागप्रकाशन, 11ए./यू.ए. जवाहरनगर, दिल्ली, सं. 1994.

उत्तररामचरितम्, भवभूति, व्याख्या–ब्रह्मानन्द शुक्ल, साहित्यभण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ.

एकावली, विद्यानाथ, सम्पा. महामहोपाध्याय, डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण – 2046 वि.सं.

औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र, व्याख्या. डॉ० रामशंकर त्रिपाठी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 221001, सं.1982.

कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी, सम्पा. डॉ० विजयपाल, सावित्रीदेवी बागडिया ट्रस्टः, लेनिन सरणी, कलकत्ता, सम् 1984

कादम्बरी, (कथांमुख), चन्द्रकला विद्योतिनी टीका, व्या. पण्डित कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि.स. 2056

काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, व्याख्या. डॉ० सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं. 1985.

काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, व्या. आचार्य श्री निवास शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2002

काव्यमीमांसा, 1-5 अध्याय, व्या. डॉ० हरिदत्त शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2002

काव्यमीमांसा, राजशेखर, अनु. पण्डित केदारनाथ शर्मा, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, सम्मेलन भवन, पटना-3, सं. 1954

काव्यादर्श, आचार्य दण्डी, व्या. योगेश्वरदत्तशर्मा (पाराशरः), नाग पब्लिशर्स, 11 ए.यू. जवाहरनगर, दिल्ली, प्र.सं. 1999.

काव्यानुशासन, वाग्भट्ट, व्याख्या. पण्डित शिवादत्त, काशीनाथ पाण्डुरंगपर्व, प्रकाशक तुकाराम जावजी, बम्बई, 1915

काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रैस प्रकाशक, सन् 1934

काव्यालङ्कार, रुद्रट, हि.व्याख्या. डॉ० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, माडल टाऊन, दिल्ली, प्र.सं. 1965.

काव्यालङ्कार, रुद्रट, व्या. श्री रामदेवशुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र.सं. 1989

काव्यालङ्कारसारसंग्रह, उद्भट्ट, व्याख्या. डॉ० रमनकुमार शर्मा, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2001.

काव्यालङ्कारसूत्र, वामन, सम्पा. महामहोपाध्याय पं. दुर्गाप्रसाद, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, 1926.

किरातार्जुनीयम्, भारवि, व्या. डॉ० बाबूराम त्रिपाठी, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा, 1998-99

गुरुगोबिन्दसिंहचरितम्, डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, गुरुगोबिन्दसिंह फाउण्डेशन, पटियाला, प्र.सं. 1967.

चन्द्रालोक (जयदेव कृत), व्याख्या. चन्द्रमौली द्विवेदी, भारतीय विद्यासंस्थान, जगतगंज वाराणसी-2, द्वि.सं. 1996.

चित्रमीमांसा, अप्पयदीक्षित, हिन्दी व्याख्या., जगदीशचन्द्रमिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, सं.द्वि. 2060 वि.सं.

छन्दःसूत्रम्, महर्शिपिङ्गलाचार्य, अनु. विराजनन्ददैवकरणि:, गुरुकुल वृन्दावन-स्नातकशोध संस्थान, नई दिल्ली, प्र.सं. वि.सं. 2059

छन्दोमञ्जरी, व्याख्या. डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती, प्रकाशन वाराणसी, सं. 2004.

जातक (खण्ड 1-5), अनुवादक - भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दीसाहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 2013 (वि.सं.)

जातकमाला, आर्यसूर, अनु. डॉ० सूर्यप्रकाशव्यास, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि.सं. 2056.

तर्कसंग्रह, डॉ० दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, वराणसी, प्र.सं. 2007

तैत्तिरीयब्राह्मण, प्रो. पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, दिल्ली, प्र.सं. 1998

थाईदेशविलासम्, डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्र.सं. 1979.

दशरूपक, धनञ्जय, हिन्दीव्याख्या, डॉ० केशवराव मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, प्र.सं. 2057.

दीघनिकायपालि, पाथिकवग्गो, भाग 3, सम्पा. स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, साधना प्रैस, वाराणसी, प्र.सं. 1997

धम्मपद, Dr. p sri Ramachandrudu, Srimati Pullela Subba-lakshmi, Osmania University Campus, Hyderabad-7, 1976

ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धनाचार्य, व्याख्या. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं. 2028 (वि.सं.)

नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनि, सम्पा. पण्डित केदारनाथ, साहित्यभूषण, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रण संस्करणम् 1998.

नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनि, सम्पा. पण्डित केदारनाथ, भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली, 1998

नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनि, व्या. सुधा रस्तोगी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्र.सं. 1989

निदानकथा, सम्पा. डॉ० महेश तिवारी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, प्र. सं. 2026

निरुक्तम्, डॉ० उमाशंकर ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं. 2001

पञ्चतन्त्र, विष्णु शर्मा, हिन्दी व्याख्या. स्वर्गीय गोकुलदास गुप्त, सम्पा. पं. रामचन्द्र झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं.1985.

पत्रकाव्यम्, प्रथम भाग, डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, प्र.सं., दिल्ली।

पत्रकाव्यम्, द्वितीय भाग, डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्र.सं, 2009

पाणिनीय अष्टाध्यायीसूत्रपाठ, सम्पा. श्रीशंकरदेव, गुरुकुलवृन्दावनस्नातकशोध संस्थान, आदित्य प्रकाश, 2000

पाणिनीय धातुपाठ, सम्पा. श्रीशंकरदेवपाठक, गुरूकुलवृन्दावन आदित्य पीठेन, दिल्ली, पञ्चम संस्करण 2000

पाणिनीयशिक्षा, पण्डित श्रीरुद्रप्रसादशर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, तृ.सं. 2004

पातञ्जल योगदर्शन, व्याख्या. पं. मनोहर लाल शर्मा, प्र. रामविलास अग्रवाल, श्रीकृष्णकम्पनी, कलकत्ता, सं. 1987.

बुद्धचरितम्, अश्वघोष, सम्पा. सूर्य नारायण चौधरी, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, बनारस, तृ.सं. 1955

बृहत्तरभारतम्, डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, सरस्वती सुषमा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्करण 1957.

बोधिचर्यावतार, शान्तिदेव, अनु. शान्तिभिक्षुशास्त्री, बुद्ध विहार, लखनऊ, सं. 1955.

बोधिचर्यावतार, शान्तिदेव, edited by, Dr. P.L. Vaidya, The Mithila Institute of Post Graduate Studies and research in Sanskrit learning, Darbanga, 1960

मज्झिम निकाय, नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला, बिहार, 1958.

मज्झिमनिकायपालि, 3 उपरिपण्णासकं, 5 भाग, अनु. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, साधना प्रैस, वाराणसी, प्र.सं. 1993

मज्झिमनिकायपालि, 2 मज्झिमपण्णासकं, पालि पब्लिकेशन्स बोर्ड, बिहार, 1958

मनुस्मृति, शिवराज आचार्य कौण्डिन्नायायनः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र. सं. 2007

महावग्गपालि, भिक्खु जगदीसकस्सपो, पालि पब्लिकेशन्स बोर्ड, 1956

मालविकाग्निमित्रम्, निर्णयसागर प्रैस, मुंबई 2, नवम् सं. 1950

मेघदूत, (सम्पूर्ण), सम्पा. डॉ० संसार चन्द तथा मोहनदेव पन्त शास्त्री, प्रका. मोतीलाल बनारसीदसास, संस्करण 1959,

यजुर्वेद संहिता, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर,दिल्ली, सं. 2002 ई.

रघुवंशमहाकाव्यम्, व्याख्या. साहित्याचार्यः हरगोबिन्दमिश्रः, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, स. 2039 (वि.सं.)

रसगङ्गाधर, पण्डितराजजगन्नाथ, व्या. मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1959.

रसतरङ्गिणी, भानुदत्त, सम्पा. उर्मिलशर्मा, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं. 1988.

वक्रोक्तिजीवितम्, राजानक कुन्तक, व्याख्या. श्रीराधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं. पंचम्, वि.सं. 2059.

वक्रोक्तिजीवितम्, क्षेमेन्द्र, व्याख्या. आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सं.1955.

वाक्यपदीयम्, टीकाकार वाचस्पति सत्यकामवर्मा, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, प्र.सं. जुलाई, 1970.

वाचस्पत्यम्, द्वितीय भाग, सम्पा. तारानाथ तर्कवाचस्पतिभट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् 1964

वाल्मीकि रामायण, गीताप्रैस गोरखपुर, संवत् 2024

विसुद्धिमग्गो, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, 1992

वृत्तमुक्तावली, श्रीकृष्णभट्ट, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर राजस्थान, विक्रमाब्द 2020

वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट, हिन्दी व्याख्या. आचार्य मधुसूदनशास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्र.सं. 2039

व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, हिन्दी व्याख्याकार, पण्डित रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र. सं., वि.सं. 2005.

व्यक्तिविवेक, श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र.सं. वि.स. 2020

व्याकरणमहाभाष्य, महर्शि पतञ्जलि, पस्पशह्निक, पृ. 3, संवत् 1946

शतसाहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता, सम्पा. प्रतापचन्द घोष, कलकत्ता, 1902

शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति, डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लक्ष्मणपुरम्, 1976.

शिक्षा समुच्चयः, शान्तिदेव, edited by, Dr. P.L. Vaidya, The Mithila Institute of Post Graduate Studies and research in Sanskrit learning, Darbanga, 1960

शिशुपालवधम्, माघ, व्या. श्री रामजीलाल शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वराणसी, तृ.सं. 1980

शृङ्गारतिलक, रूद्रट, आर.पिशेल, प्राच्य प्रकाशन वाराणसी, प्र.सं. 1968

शृङ्गारप्रकाश, भोज, सम्पा. डॉ० रणजीत सिंह सैनी, नाग पब्लिशर्स, 11/ए यू.ए. जवाहरनगर, दिल्ली, प्रथम सस्क. 2001.

श्रीबोधिसत्त्वचरितम्, डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, संस्कृत बुक डिपो, दरियागंज, दिल्ली

श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सहित), अनु. हरेकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रैस, गोरखपुर, वि.सं. 2018.

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् (हिन्दी पद्यानुवाद सहित), डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, अनु. मिथिलेश शास्त्री, अनुसंधान विभाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1998, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली (भारत)

श्रुतबोध (छन्द), कालिदास प्रणीत, संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेत, कन्हैयालाल जोशी, चौखम्बा ओरियण्टलिया, वाराणसी

समाधिराजसूत्रम्, वैद्योपाह्वश्रीपरशुरामशर्मणा, मिथिलाविद्यापीठ प्रकाशक, दरभंगा, 1961

संयुत्तनिकाय (पालि), अनु. भिक्षु जगदीश काश्यप एवं धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1954.

संयुत्तनिकायपालि, 2-3 भाग, निदानवग्गो खन्धवग्गो च, पालि पब्लिकेशन्स बोर्ड, बिहार, 1959

सरस्वतीकण्ठाभरणम्, भोजराजकृत, सम्पा. पी.ए. रामस्वामीशास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, सं. 1948.

सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, आसाम बोर्ड प्रकाशक, गुहाटी, प्र.सं. 1880

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, व्या. व्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 1969.

साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, व्याख्या. डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं.1976.

साहित्यदर्पण,विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सं. 2004

साहित्यमीमांसा, के साम्बरशिवशास्त्रिणा, राजकीय मुद्रणयन्त्रालये प्रकाशिता, कोलम्बाब्दा 1110, क्रैस्ताब्दा 1934

सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी, सम्पा. परमेश्वरानन्दशर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1971

सुवृत्ततिलकम्, व्याख्या. पण्डित राजमोहन झा, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1968

हितोपदेश, विष्णुदत्तशर्मा, व्याख्याकार – न्यायाचार्य श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–1999.

हिन्दी नाट्यदर्पण, डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्र. सं. 1961

सहायक ग्रन्थ

अभिनवकाव्यशास्त्रम्, डॉ० शंकरदेव अवतरे, साहित्य सहकार, विश्वास नगर, दिल्ली, सं. 2000.

अभिज्ञानशकुन्तलम्, कालिदास, व्याख्या. निरूपण विद्यालङ्कार, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, सं.1998.

अरस्तु का काव्यशास्त्र, अनु. डॉ० नगेन्द्र, महेन्द्र चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं. 2014

अलङ्कार शेखर, केशव मिश्र, सम्पा. पण्डित शिवदत्त तथा काशी नाथ पाण्डुरङ्ग, द्वितीय संस्करण पाण्डुरङ्ग जाब्जी प्रकाशक,

अलङ्कारसर्वस्व की टीकाओं का अध्ययन, डॉ० देवेन्द्र मिश्र, वेंकटेश प्रकाशन, दिल्ली,1996

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र, डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्र.सं., 1990

औचित्य सम्प्रदाय का हिन्दी काव्यशास्त्र पर प्रभाव, डॉ० चन्द्र हंस पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1967

कवि राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० विष्णु दत्त शर्मा, विश्वनाथ, प्रकाशन, 110 धर्मपुरी, सदर, मेरठ, सं. 1994.

कालिदास और प्रकृति, डॉ० पुष्पा हलेजा, विवेक पब्लिकेशन, अलीगढ़, प्र.सं. 1987

काव्यकला, होरेस कृत, प्र.सं. नगेन्द्र, सं. महेन्द्र चतुर्वेदी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

काव्यशास्त्रविमर्श, भाग 2, डॉ० कृष्णकुमार, मयंक प्रकाशन, हनुमानगढी, कनखल हरिद्वार, 2000

जातकविमर्श, डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, साहित्यभण्डार, 50 चाहचन्द, इलाहाबाद, प्र. सं. 2003.

दिल्लीस्थाः विंशशताब्दीयाः संस्कृत रचनाकाराः, संकलयिता- डॉ० चन्द्रभूषण झा, सम्पा. श्रीकृष्णसेमवाल, दिल्ली संस्कृत आकादमी, पृ. 240.

नारायणीयम् काव्य का साहित्यिक अध्ययन, डॉ० जौहरीलाल निर्माण प्रकाशन, 19-ए रामनगर लोनी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32, प्र.सं. 1984.

पण्डितराजजगन्नाथ, पी. श्रीरामचन्द्रुदु, साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्र.सं. 1992 पृ. 24-25

पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ० कृष्णदेव शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सं. 1969

प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ० शिवरुपसहाय, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्र.सं. 2001

बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भरतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मंडल, रॉयल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता, प्र.सं. 2011 वि

बौद्धदर्शन में अनात्मतत्त्व, डॉ० ललिता शर्मा, श्री साईं प्रिन्टो ग्राफर्स, बी-5, मुकर्जी नगर टावर कम्पलैक्स, मुकर्जी नगर, दिल्ली, सन् 1998.

बौद्धेतर दर्शनग्रन्थों में बौद्धदर्शन, सम्पा. डॉ० धर्मचन्द जैन, डॉ० राजकुमार दाबड़, बौद्ध अध्ययन केन्द्र प्रकाशक, जोधपुर, प्र.सं. 2008

बौद्धधर्मदर्शन, नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना-3, प्र.सं. 1956.

बौद्धन्यायविमर्श, डॉ० देवी सिंह, हरिलीला पब्लिकेषन्स, प्र.सं. 2008

भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्र. शारदा मन्दिर, वाराणसी, नवीन सं. 1997.

भारतीय दर्शन, डॉ० ममता मिश्रा, कला प्रकाशन, वाराणसी, प्र.सं. 2000.

विष्णुधर्मोत्तर पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, रुनझुन बंसल, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1999.

श्रीबोधिसत्त्वचरितः एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० धमेन्द्र कुमार गुप्त, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दरियागंज, दिल्ली, प्र.सं. खैस्ताब्दः 1960

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों का विकास, दशरथ द्विवेदी, राधा पब्लिकेशन, दरिया गंज, नई दिल्ली, प्र.सं. 2001.

संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र.सं. 1980

सूक्तिसुधा, डॉ० सत्यव्रत शास्त्री द्वारा रचित सूक्तियों का संग्रह, लेखक - प्रवीण प्रलयङ्कर, पार्वती पब्लिकेशन्स्, मुजफ्फरपुर, संस्करणम् 2003.

कोष ग्रन्थ

अमरकोष, श्री पं. हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सप्तम संस्करण, वि.सं. 2061,सन् 2005

भारतीय साहित्यशास्त्र कोष, डॉ० राजवंश सहाय हीरा, बिहार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1977

वाचस्पत्यम्, द्वितीय भाग, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1962

संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001